चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज

की हीरक जयन्ती के

अवसर पर प्रकाशित

प्रेरक : परम पूज्य ज्ञानदिवाकर उपाध्यायश्री भरतसागरजी महाराज

निर्देशक : पूज्य आर्यिका स्याद्वादमती माताजी

संयोजक : ब्र. पं. धर्मचन्द शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य

ब्र. प्रभा पाटनी, बी.एस-सी. एल-एल. बी.

हीरक जयन्ती प्रकाशनमाला पुष्प संख्या १८

ग्रन्थ : परमात्मप्रकाशः

प्रणेता : श्री योगीन्दुदेव

संस्कृतवृत्ति : श्री ब्रह्मदेव

पाठ-सम्पादन : (स्व.) डॉ. आ. ने. उपाध्ये

हिन्दी अनुवादक एवं सम्पादक : डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

अर्थ-सहयोगी : १. समाजभूषण श्रीमान् बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटनासिटी (बिहार)

२. समाजभूषण श्रीमान् महावीरप्रसादजी सरावगी, कटनी (म.प्र.)

३. श्रीमान् सीतारामजी सरावगी, सतना (म.प्र.)

प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वद् परिषद्, सोनागिर (म.प्र.)

संस्करण : प्रथम, १००० प्रतियाँ, वर्ष १९९०

प्राप्ति-स्थान : १. आचार्य विमलसागरजी संघ

२. अनेकान्त सिद्धान्त समिति, लोहारिया (बाँसवाड़ा - राज.)

३. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, गुलाबवाटिका, दिल्ली

मूल्य :

मुद्रक : प्रिंटिंग एवेन्सीज, जोधपुर

卐 संकल्प 卐

8320

'णाणं पयासं' सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का वीज है। आज कलयुग में ज्ञानप्राप्ति की तो होड़ लगी है, पदवियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व वन चुकी है परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यो का लक्ष्य ही नही है।

जीवन में मात्र ज्ञान नही, सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढन्त वातों की पुष्टि पूर्वाचार्यो की मोहर लगाकर कर रहे है। ऊटपटांग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी मे स्थापित की जा रही है; कारण पूर्वाचार्यप्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नही है और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नही देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेवाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्यसिद्धि होना अशक्य है। सत्साहित्य का जितना अधिक प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है:

येनैते विदलन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वराः,
भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
यद् वन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधारभूतं मतं,
तल्लोकत्रयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद् विवेकश्रियम्॥

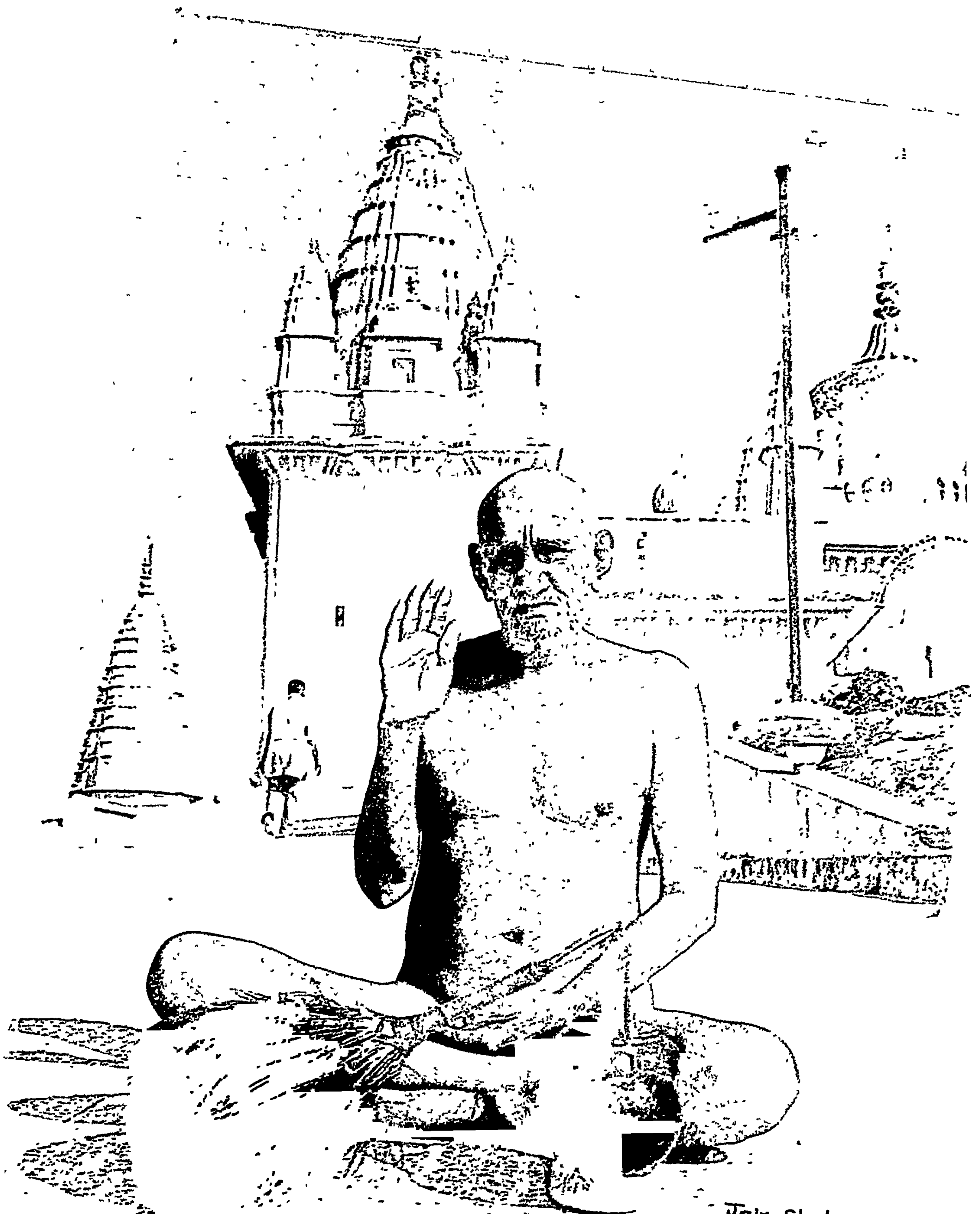
सन १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना वन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि 'सङ्कल्प के विना सिद्धि नही मिलती।' सन्मार्गदिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह सङ्कल्प मैंने प. पू. गुरुदेव आचार्यश्री व उपाध्यायश्री के चरण-सान्निध्य मे लिया। आचार्यश्री व उपाध्यायश्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलतः इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं. धर्मचन्दजी व प्रभाजी पाटनी रहे। इन्हे व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओ के लिए मेरा आशीर्वाद है।

पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलों मे सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति पूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

सोनागिर, ११-७-९०

—आर्यिका स्याद्वादमती



आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज

आभार . . .

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणिः,
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ।।पद्मनन्दी पं. ।।

यद्यपि इस समय इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान विराजमान नहीं हैं तथापि इस भरतक्षेत्र में केवली भगवान की जगत्प्रकाशिनी वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधार श्रेष्ठ रत्नत्रय के धारी मुनि हैं, इसलिए उन मुनियों की पूजा तो सरस्वती की पूजा है तथा सरस्वती की पूजा साक्षात् केवली भगवान की पूजा है ।

आर्षपरम्परा की रक्षा करते हुए आगमपथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है । तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित, गणधरों द्वारा ग्रथित व महान् आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा एवं प्रचार-प्रसार मार्गप्रभावना नामकी भावना तथा सम्यग्दर्शन का प्रभावना नामक अङ्ग है ।

युगप्रमुख आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती के अवसर पर हमें जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है । वर्तमान युग में आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए त्याग और दया का जो अनुदान दिया है, वह भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा । जिनवाणी के प्रकाशन में हमारे प्रेरक पूज्य उपाध्यायश्री भरतसागरजी महाराज के प्रति एवं निर्देशिका पूज्य आर्यिका स्याद्वादमती माताजी के प्रति जिन्होंने विशेष परिश्रम द्वारा ग्रन्थों की खोज कर प्रभूत सहयोग दिया, मैं शत-शत नमोस्तु, वन्दामि अर्पित करती हूँ । साथ ही उचित मार्गदर्शन प्रदान करने वाले समस्त त्यागीवर्ग को सादर नमन करती हूँ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुवादक एवं सम्पादक डॉ चेतनप्रकाशजी पाटनी, जोधपुर एवं ग्रन्थ-प्रकाशनार्थ अर्थ-सहयोगी समाजभूषण श्रीमान् बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना सिटी (बिहार) की भी मैं आभारी हूँ ।

अन्त में, प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान करने वाले सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए यही कामना करती हूँ कि आप सब भविष्य में भी जिनशासन की प्रभावना और जिनागम की रक्षा इसी प्रकार करते रहें ।

—ब्र० (कु०) प्रभा पाटनी, संघस्थ



✻ प्रकाशकीय ✻

इस परमाणु युग मे मानव के अस्तित्व की ही नही अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिंसा' के अमोघ अस्त्र से ही किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म/संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थङ्करों के मुख से निकली वाणी को गणधरो ने ग्रहण किया और आचार्यो ने निवद्ध किया, जो आज हमें जिनवाणी के रूप मे प्राप्त है। जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार मे लगे हुए हैं। उन्ही पूज्य आचार्यों मे से एक हैं—सन्मार्गदिवाकर चारित्रचूडामणि परमपूज्य आचार्यवर्य विमलसागरजी महाराज, जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा यही भावना रहती है कि आज के समय मे प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रकाशन हो और वे ही मन्दिरो मे स्वाध्याय हेतु रखे जाएँ, जिनका स्वाध्याय कर श्रावक अपने मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सकें। जैनधर्म की प्रभावना एव जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व मे हो, आर्षपरम्परा की रक्षा हो एव अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर का शासन अवाधगति से निरन्तर चलता रहे; इन सब भावनाओ को ध्यान मे रख कर परम पूज्य ज्ञानदिवाकर, वाणीभूषण, उपाध्यायरत्न भरतसागरजी महाराज एवं आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माताजी की प्रेरणा व निर्देशन मे परम पूज्य आचार्य विमलसागरजी महाराज की ७४ वी जन्म-जयन्ती के अवसर पर ७५ वी जन्म-जयन्ती हीरक जयन्ती के रूप मे मनाने का संकल्प समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वद् परिषद् ने लिया।

हीरक जयन्ती वर्ष मे आर्षप्रणीत ७५ ग्रन्थो का प्रकाशन किया जा रहा है। साथ ही, विभिन्न नगरो मे ७५ धार्मिक शिक्षण-शिविरो का आयोजन हो रहा है और ७५ धार्मिक पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञानयज्ञ मे पूर्ण सहयोग करने वाले ७५ विद्वानो का सम्मान एव ७५ युवा विद्वानो को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा ७५-७५ युवावर्ग से सप्तव्यसनो का त्याग कराना आदि योजनाएँ भी पूर्ण की जा रही हैं।

सम्प्रति, आचार्यवर्य पूज्य विमलसागरजी महाराज के प्रति देश एवं समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ, उनके चरणो मे शत-शत नमोस्तु करके उनकी दीर्घायु की कामना करता है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिनका अमूल्य निर्देशन एव मार्गदर्शन मिला है, वे पूज्य उपाध्याय भरतसागरजी महाराज एव माता स्याद्वादमतीजी हैं। उनके लिए मेरा क्रमश नमोस्तु एवं वन्दामि अर्पित है।

उन विद्वानो का भी मैं आभारी हूँ जिन्होने ग्रन्थो के प्रकाशन मे अनुवादक, सशोधक, सम्पादक के रूप में अपना सहयोग प्रदान किया है। ग्रन्थो के प्रकाशन मे जिन दाताओं ने अर्थ-सहयोग करके, अपनी चचला लक्ष्मी का उपयोग करके पुण्यार्जन किया है उनको भी धन्यवाद ज्ञापित्त करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसो मे मुद्रित हुए, एतदर्थ उन प्रेस-सचालकों का जिन्होंने बडी तत्परता मे मुद्रण का कार्य किया, मैं आभारी हूँ। अन्त में, उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ, जिन्होने प्रत्यक्ष-परोक्ष मे सहयोग प्रदान किया है।

—**ब्र० पं० धर्मचन्द शास्त्री**

अध्यक्ष, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वद् परिषद्

पर यथार्थत रहस्यवाद का रूप जोइन्दु की रचनाओं में ही मिलता है। जोइन्दु अपभ्रंश के ऐसे सर्वप्रथम कवि हैं जिन्होंने क्रान्तिकारी विचारों के साथ आध्यात्मिक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा कर मोक्ष का मार्ग बतलाया है।········ विद्वत्ता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इन्होंने कुन्दकुन्द और पूज्यपाद के आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर अपने ग्रन्थलेखन के लिए विषयवस्तु ग्रहण की है। पूर्वाचार्यों की मान्य परम्परा को एक नये रूप में ही उपस्थित किया है। यही कारण है कि जोइन्दु का प्रभाव अपभ्रंश के कवियों के साथ हिन्दी के सन्त कवियों पर भी पड़ा है। कबीर ने जिस क्रान्तिकारी विचारधारा की प्रतिष्ठा की है, उसका मूल स्रोत जोइन्दु की रचना में पाया जाता है।"[1]

२. परमात्मप्रकाश :

शुद्धात्मा का प्रकाशक यह ग्रन्थ सरल अपभ्रंश में शिष्य मुनि प्रभाकरभट्ट को सम्बोधित कर लिखा गया है। ग्रन्थ में अनेक प्रभावक दृष्टान्त भी दिये गए हैं। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें यत्र-तत्र अनेक सम्बोधन किये गये हैं। आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ में हे माधो, हे ज्ञानिन्, हे आत्मन्, हे भट्ट प्रभाकर, हे तपोधन, हे वत्स, हे योगिन् तथा हे जीव, ऐसे सम्बोधन कुल मिला कर ११२ जगहों पर किये हैं, जिनमें सर्वाधिक हे योगिन् (जोइय जोइया) सम्बोधन ३३ बार तथा हे जीव (जिय, जीव) सम्बोधन ६५ बार मूल दोहों में किया है। वैसे तो यह ग्रन्थ मुख्यतया मुनियों को लक्ष्य करके लिखा गया है परन्तु 'जीव' शब्द से आचार्यश्री ने सर्वाधिक बार सम्बोधित किया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्रणेता के अन्तःकरण में यह भाव अवश्य था कि इससे जीवमात्र (सकल मुमुक्षु भव्य जीवों) का उपकार हो।

ब्रह्मदेव के मूल के अनुसार परमात्मप्रकाश में प्रथम अधिकार में १२६ और द्वितीय में २१९ पद्य हैं। इनमें क्षेपक भी सम्मिलित हैं। प्रथम अधिकार में ५ प्रक्षेपक और ३ स्थल संख्या बाह्य प्रक्षेपक हैं और दूसरे अधिकार में पांच स्थल बाह्य प्रक्षेपक हैं। इन पद्यों में ५ गाथाएँ, एक स्रग्धरा और एक मालिनी छन्द हैं किन्तु इनकी भाषा अपभ्रंश नहीं है। एक चतुष्पादिका और ३३७ अपभ्रंश दोहे हैं। इस ग्रन्थ पर (१) अध्यात्मी **बालचन्द्र** ने कन्नड़ी टीका रची है। (२) **ब्रह्मदेव** ने संस्कृतवृत्ति लिखी है। (३) कुक्कुटासन मलधारी **बालचन्द्र** ने कन्नड़ टीका लिखी है। (४) एक और कन्नडी टीका सम्भवत **मुनि भद्रस्वामी के शिष्य द्वारा** विरचित है। (५) **पं. दौलतरामजी** ने भाषा में इस पर टीका लिखी है। सम्भव है अन्य भी विद्वज्जनों द्वारा इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखी गई हों।

ग्रन्थ में प्रारम्भ के सात दोहों में पचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। फिर तीन दोहों में ग्रन्थ की उत्थानिका है। पांच में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप बताया गया है। इसके बाद दस दोहों में मुक्ति को प्राप्त कार्यपरमात्मा का कथन है। पांच क्षेपकों सहित चौबीस दोहों में देह में विराजमान शक्तिरूप परमात्मा का कथन है। छह दोहों में जीव के स्वशरीर-प्रमाण की चर्चा है। फिर द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चयसम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व आदि की चर्चा है। दूसरे अधिकार में प्रारम्भ के दस दोहों में मोक्ष का स्वरूप, एक में मोक्ष का फल, उन्नीस में निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग तथा आठ में अभेदरत्नत्रय का वर्णन है। इसके बाद चौदह में समभाव की, चौदह में पुण्यपाप की समानता की और इकतालीस दोहों में शुद्धोपयोगी के स्वरूप की चर्चा है। अन्त में चूलिका व्याख्यान के १०७ दोहों में अभेदरत्नत्रय की मुख्यता में व्याख्यान है। २१३ वाँ पद्य (स्रग्धरा छन्द) ग्रन्थपठन का फल बताता है। अन्तिम २१४ वें दोहे में अन्तमगल के लिए आशीर्वादरूप नमस्कार किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ पूर्ण होता है।

---

१. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा भाग २ पृ २४८ एव २५२ से २५४।

३. वृत्तिकार श्रीब्रह्मदेव :

श्रीब्रह्मदेवसूरि ने 'परमात्मप्रकाश' पर संस्कृत मे टीका लिखी है। ब्रह्मदेव अनेकान्त के तलस्पर्शी विद्वान् थे। 'परमात्मप्रकाश' की टीका के अलावा आपने 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' पर भी टीका लिखी है। इन दोनो ग्रन्थों का महत्त्व आपकी टीकाओ द्वारा ही वृद्धिगत हुआ है। यद्यपि आपकी प्रामाणिक रचनाएँ ये दो टीकाएँ ही मानी जाती हैं, फिर भी परम्परा से आपकी निम्नलिखित रचनाएँ भी स्वीकार की गई हैं—तत्त्वदीपक, ज्ञानदीपक, त्रिवर्णाचारदीपक, प्रतिष्ठातिलक, विवाहपटल और कथा-कोश। आपका समय विक्रम स. ११५० से १२०० माना गया है।[१]

४. परमात्मप्रकाशवृत्ति :

श्रीब्रह्मदेवसूरि विरचित संस्कृतवृत्ति आगमानुसारी, सरस, सरल तथा आध्यात्मिक है। इससे मूल गाथाओ का रहस्य पूर्णत. प्रकट होता है। टीका में आपने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्टप्राभृत, इष्टोपदेश, पूज्यपादीय-भक्तिकलाप, जीवकाण्ड, तत्त्वसार, भगवती आराधना, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, रत्नकरण्डश्रावकाचार, यशस्तिलकचम्पू, योगसार, आत्मानुशासन, द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, दोहापाहुड़, तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थो के पद्यादि उद्धृत किए हैं, जो आपकी आगमानुसारिता तथा बहुग्रन्थज्ञता का द्योतक है।

यह व्याख्या शुद्ध साहित्यिक व्याख्या है। आप टीका मे अर्थ पर अधिक बल देते हैं अत. व्याकरण की गुत्थियाँ एक-दो स्थानों पर ही सुलझाई गई है।[२] सबमे पहले आप शब्दार्थ पर जोर देते है, फिर नयों का—मुख्यत निश्चयनय का तथैव आध्यात्मिक ज्ञान की मुख्यता का अवलम्बन लेते हुए वर्णन करते है। 'परमात्म-प्रकाश' के ये वर्णन 'द्रव्यसंग्रहटीका' मे किये गए वर्णनों के समान कठिन नही हैं। 'परमात्मप्रकाश' की ख्याति का कारण यह टीका ही है।[३]

श्री ब्रह्मदेव जी ने अपनी इस टीका मे,दोनों ही नयों का अवलम्बन लेकर कथन किया है। जहाँ सूक्ष्म कथन करते हुए त्रिगुप्तिमय साधु की अपेक्षा सिद्धो के ध्यान तक को सचित्त परिग्रह बताया है[४] वही स्थूल कथन करते हुए वे बताते है कि आत्मा तो पंगु है, कही आ जा नहीं सकता। इसे तो कर्म ही ले जाते हैं और कर्म ही लाते हैं। यह आत्मा कर्मनिर्मित पुण्यपापमय दृढ़तर बेड़ी से बद्ध हो गया है....।[५] वास्तव मे, यह ग्रन्थ अनेकान्तसिक्त व आध्यात्मिक है।

५. प्रस्तुत संस्करण

'परमात्मप्रकाश' मूल, श्रीब्रह्मदेव कृत संस्कृतवृत्ति तथा इनके परिष्कृत, प्राञ्जल खड़ी बोली मे नवीन हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत संस्करण आपके हाथो मे है। प्रो. डॉ चेतनप्रकाशजी पाटनी ने इसके अनुवाद एवं सम्पादन मे योग्य श्रम किया है। अनुवाद पूर्णत. मूलानुगामी है और वृत्तिकार के हार्द को पूर्णत: सुरक्षित रखे हुए है। आपने इसमें मूल दोहों का अन्वय भी किया है और अनुवाद भी साथ-साथ दिया है। अर्थात् पहले मूल दोहा, फिर उसकी संस्कृत छाया, फिर ब्रह्मदेवकृत वृत्ति, अनन्तर दोहे का अन्वय फिर वृत्ति का अनुवाद, सर्वत्र यही क्रम रहा है। अनुवाद को भाषा प्रवाहमय है, वाक्य छोटे-छोटे है और सरल है। इससे स्वाध्यायियो को सुविधा रहेगी-ऐसी आशा है।

---

१ बृहज्जिनोपदेश परिशिष्ट पृ. ९४। २ देखिए प. प्र. अधिकार २ गाथा २५ की वृत्ति।
३. प प्र प्रस्तावना पृ ७० (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला)। ४. प प्र. २।९१ टीका। ५. प. प्र. १।६६ टीका।

इस ग्रन्थ के सम्पादन से पूर्व अभी हाल ही में डॉ. पाटनी सा. के सुसम्पादन में 'सारसमुच्चय' और 'नीतिसार-समुच्चय' कृतियाँ प्रकाशित हुई है। इससे पूर्व भी आपने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सुसम्पादन किया है। वर्तमान मे आप तत्त्वार्थवृत्ति की हिन्दी टीका के सम्पादन मे व्यस्त (दत्तशुभोपयोग) हैं। इन सबके लिए सम्पूर्ण जैन समाज आपका चिरऋणी है।

आचार्य १०८ श्री विमलसागरजी महाराज के हीरक जयन्ती वर्ष मे प्रकाश्य ७५ ग्रन्थों के अन्तर्गत इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है, यह स्तुत्य है। दातार महोदय भी इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। ऐसे ही पावन उपक्रम भविष्य मे भी हो तथा समाज उनसे शत-प्रतिशत लाभान्वित हो, मैं यही भावना भाता हूँ।

मकर सक्रान्ति
दिनाङ्क १४-१-९१

—जवाहरलाल मोतीलाल जैन
भीण्डर (राज.)

तुभ्यं नमः परमधर्मप्रभावकाय,
तुभ्यं नमः परमतीर्थ-सुवन्दकाय।
'स्याद्वाद' सूक्तिसरणिप्रतिबोधकाय,
तुभ्यं नमः विमलसिन्धुगुणार्णवाय॥

❀ सम्पादकीय ❀

श्रीमद् योगीन्दुदेव विरचित **परमप्पयासु** या **परमात्मप्रकाश** उपलब्ध अपभ्रंश भाषा साहित्य का सबसे प्राचीन श्रेष्ठ आध्यात्मिक ग्रन्थ है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, आत्मज्ञान के अन्वेषकों को यह ग्रन्थ आध्यात्मिक ज्योति से दीप्त करने मे समर्थ है। यों तो यह ग्रन्थ सर्वप्रथम सन् १९०९ मे ही स्वाध्यायप्रेमियों को सुलभ हो गया था जब देवबन्द के बाबू सूरजभानुजी वकील ने हिन्दी अनुवाद सहित इसे प्रकाशित किया था परन्तु इसका पहला प्रामाणिक और सुसम्पादित संस्करण सन् १९३७ ई० मे रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला से प्रो. ए. एन. उपाध्ये के पाठ सम्पादन-संशोधन व विस्तृत प्रस्तावना सहित प्रकाशित हुआ था। इस प्रकाशन व सम्पादन को देखकर महामनीषी उपाध्ये की प्रतिभा व कार्यपद्धति के प्रति सहज ही सिर नत हो जाता है। प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से इस सम्पादन की प्रशंसा की है। बाद में उन्होंने अपने इस महत्त्वपूर्ण शोधकार्य के लिए बम्बई विश्वविद्यालय से डी लिट् (D. Litt.) की उपाधि प्राप्त की थी।

डॉ. उपाध्ये का यह कार्य इस दिशा मे 'मील का पत्थर' है। उनके निष्कर्ष आज भी प्रामाणिक हैं और उनकी समीक्षात्मक विस्तृत प्रस्तावना तो इस दिशा में कार्य करने वालों के लिए 'प्रकाशस्तम्भ' का सा कार्य कर रही है। 'परमात्मप्रकाश' का आलोचनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए उनकी यह विस्तृत प्रस्तावना एक प्रामाणिक दस्तावेज है। प्रो उपाध्ये ने रचना और रचनाकार के सम्बन्ध मे उपलब्ध सभी सामग्री जुटा कर, उसका सम्यक् एव गम्भीर अध्ययन-विश्लेषण कर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उनके कार्य की महत्ता और गहन श्रमशीलता का अनुमान उस विस्तृत प्रस्तावना का अध्ययन करने पर ही लग सकता है। मैं उस महामनीषी की प्रतिभा के सम्मुख नतमस्तक हूँ।

जोइन्दु की यह रचना सरल अपभ्रंश में दोहा छन्द मे निबद्ध है। इस पर श्री ब्रह्मदेवजी ने सरल संस्कृत मे सुन्दर वृत्ति लिखी है। प० दौलतरामजी ने इस वृत्ति का व्रजमिश्रित ढूढाडी मे अनुवाद किया था, जिसका पण्डित मनोहरलालजी शास्त्री ने सरल हिन्दी मे रूपान्तरण किया और यह कृति पूरी सज-धज के साथ प्रो उपाध्ये के सुयोग्य सम्पादन में रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई। इसके आज तक अनेक संस्करण निकल चुके हैं और यह बड़ी लोकप्रिय रचना सिद्ध हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम स्वाध्याय मैंने सन् १९७७ मे किया था। मुझे ब्रह्मदेवजी की संस्कृत टीका बड़ी सरल और रुचिकर लगी अत मैंने तभी इसके कतिपय अंशो का अनुवाद के अभ्यास के रूप में अनुवाद भी किया और अपनी स्वाध्याय-प्रति मे अनुवाद एव मुद्रण की भूलों के लिए कतिपय स्थानों को चिह्नित भी। एक स्थल तो मुझे बहुत खटका-जिसके लिए मैंने साधु वर्ग व विद्वानो से पत्राचार भी किया परन्तु कोई योग्य समाधान न पा सका। गत वर्ष संयोग से जब मुझे आचार्यविमलसागरजी महाराज हीरक जयन्ती प्रकाशन-माला के प्रेरक **पूज्य उपाध्यायश्री भरतसागरजी महाराज** एवं निर्देशक **पूज्य आर्यिका स्याद्वादमती माताजी** से सूचना मिली कि मुझे 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ का सम्पादन करना है तो मैंने अपनी प्रति सभाली तो वह खटकने वाला स्थल फिर ध्यान मे आया—पहले अधिकार के ९७ वे दोहे की टीका में लिखा है—**षोडश-तीर्थकराणां एकक्षणे तीर्थकरोत्पत्तिवासरे प्रथमे श्रामण्यबोधसिद्धिः अन्तर्मुहूर्तेन निर्वृत्ता।** इसका

हिन्दी अनुवाद है—**सोलह तीर्थंकरों के एक ही समय तीर्थंकरों के उत्पत्ति के दिन पहले चारित्रज्ञान की सिद्धि हुई, फिर अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष हो गया।** यह तथ्य-विरुद्ध कथन मेरी समझ में नहीं आया। किसी भी तीर्थंकर की केवलज्ञान तिथि और मोक्षतिथि एक नहीं है। जिनकी (५ वें, ७ वें, १४ वें) एक है वह भी भिन्न वर्ष सम्बन्धी है। फिर यह कैसे माना जा सकता है कि सोलह तीर्थंकर केवलज्ञान के अन्तर्मुहूर्त बाद ही मोक्ष चले गए। तिलोयपण्णत्ती (४/६८३-६९०), हरिवंशपुराण (६०/३३२-३४०) एवं महापुराण (४८ से ७४ तक के सर्गों) में तीर्थंकरों का केवलीकाल बताया है, उसमें एक भी तीर्थंकर का केवलीकाल संख्यात वर्ष से कम नहीं बताया है फिर अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष जाने की बात कैसे सम्भव है? फिर किसी भी तीर्थंकर को मुनि होने के अन्तर्मुहूर्त बाद केवलज्ञान नहीं हुआ। सबसे शीघ्र मल्लिनाथजी को हुआ, वह भी ६ दिन मुनिपद में रहने के बाद। शेष तीर्थंकर इससे अधिक समय तक मुनि अवस्था (छद्मस्थावस्था) में रहे। (ति प भाग २ पृ. २०३ गाथा ४/६८२-७११)। इस भ्रान्ति का अन्त करने के लिए मैंने उपलब्ध अन्य प्रतियाँ भी देखी। रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला के विभिन्न संस्करणों में यही अनुवाद है। दिगम्बर जैन समाज कुकनवाली (राज०) से प्रकाशित परमात्मप्रकाश के पृष्ठ ८३ पर भी यही अनुवाद है। पूज्य सहजानन्दजी वर्णी ने 'परमात्मप्रकाश' पर प्रवचन किये हैं, जो दो भागों में छपे हैं, परन्तु इस प्रासंगिक पंक्ति पर उन्होंने भी अपने प्रवचन में कुछ नहीं कहा है।

मैंने समाधान हेतु फिर पत्राचार किया। एक समाधान मिला कि १६ तीर्थंकरों की जन्मकल्याणक तिथियाँ और उनकी दीक्षाकल्याणक तिथियाँ एक ही है (पर वे भी भिन्नवर्ष सम्बन्धी हैं।) पर इस बात से प्रासंगिक पंक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व पं जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री ने वर्णीजी के 'परमात्मप्रकाश' प्रवचनों का दो भागों में सम्पादन किया था—मैंने अपनी समस्या से उनको भी अवगत कराया। आदरणीय पण्डितजी ने 'भगवती आराधना' में मूल गाथा खोज कर युक्तिसंगत समाधान भिजवाया जो प्रस्तुत संस्करण के पृष्ठ ८६ पर छपा है—**भगवान ऋषभदेव से शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त १६ तीर्थंकरों के तीर्थ की उत्पत्ति होने के प्रथम दिन ही बहुत से साधु दीक्षा लेकर एक अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हुए।** (भगवती आराधना गा. २०३७/पृ. ७०३ जयपुर प्रकाशन)। अब सिद्धान्तत व अर्थत कोई बाधा नहीं रहती।

मैंने सम्पूर्ण ग्रन्थ का अपनी बुद्धयनुसार मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद किया है। साथ ही दोहे का अन्वय भी लिख दिया है। अनुवाद का काम बड़ा जटिल है। संस्कृत भाषा में सन्धि और समास के प्रचुर प्रयोगों के द्वारा संक्षिप्तता का जो विशिष्ट गुण आ जाता है, ऐसा खड़ी बोली में नहीं है अतः अनुवाद करते समय वाक्यों को तोड़ना पड़ा है, छोटे-छोटे सरल वाक्य भी बनाने पड़े हैं। अनुवाद कैसा बन सका है—इसका मूल्यांकन तो पाठक ही करेंगे। अनुवाद करते समय पूर्व उपलब्ध अनुवादों ने इस जटिल कार्य में मेरी सहायता की है, मैं उन सभी महान आत्माओं – **पं. दौलतरामजी, पं. मनोहरलालजी शास्त्री** आदि का हृदय से आभारी हूँ।

मैं परमादरणीय **पं. जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री (भीण्डर)** के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अनुवाद सम्बन्धी मेरी शंकाओं का तत्परता से परिहार किया एवं मेरे अनुरोध पर इस संस्करण के लिए प्रस्तावना भी लिख कर भेजी। पण्डित जी आत्मगोपन प्रकृति के प्रतिभाशाली युवा विद्वान् हैं। यों तो सभी अनुयोगों में आपकी समानगति है परन्तु करणानुयोग का इन जैसा दूसरा कोई विशिष्ट विद्वान् अभी नहीं, आप सच्चे अर्थों में स्व. पं. रतनचन्दजी मुख्तार के उत्तराधिकारी शिष्य हैं। शरीर से रुग्ण होने हुए भी आप अनवरत शास्त्राध्ययन में संलग्न रहते हैं। मैं अपने विनीत प्रणाम निवेदन करते हुए यही कामना करता हूँ कि आप स्वस्थ एवं . कर दीर्घायु हों और जिनवाणी-रसिकों व जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करते रहें।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुवाद एवं सम्पादन का भार मुझ अल्पज्ञ पर डालकर **पूज्य उपाध्यायश्री भरतसागर जी महाराज एवं माताजी स्याद्वादमती जी** ने जो अनुग्रह मुझ पर किया है और फलस्वरूप जिनवाणी की सेवा का जो अवसर मुझे दिया है, उसके लिए मैं आप दोनों का चिर कृतज्ञ हूँ। मुझमें कार्य निष्पादन की योग्यता नहीं, जो कुछ सम्भव हुआ है, उसमें गुरुकृपा की ही प्रधानता है। मैं पूज्य उपाध्यायश्री व आर्यिकाश्री के चरणों में सविनय नमोऽस्तु निवेदन करता हूँ।

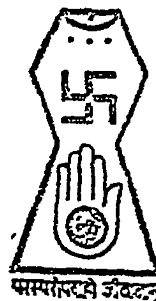
ग्रन्थ का प्रकाशन **आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज हीरक जयन्ती प्रकाशनमाला** की पुष्प संख्या १८ के रूप में **भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वद् परिषद्, सोनागिरजी** द्वारा हो रहा है। मैं प्रकाशनमाला की संयोजक **ब्र. प्रभा बहिन** का बहुत-बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने पत्रों के माध्यम से निर्देश भेज कर मेरा कार्य सरल किया है।

ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ-सहयोग प्रदान करने वाले **श्रीमान् सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, श्रीमान् महावीरप्रसादजी सरावगी एवं श्रीमान् सीतारामजी सरावगी** को हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ। सुन्दर, स्वच्छ और शुद्ध मुद्रण के लिए प्रिंटिंग एजेन्सीज, जोधपुर के कर्मचारीगण भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इस सम्यग्ज्ञानरूपी महायज्ञ में अन्य भी जिन महानुभावों ने तन, मन एवं धन से किंचित् भी सहयोग दिया है, मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ। मेरे प्रमाद एवं अज्ञान से अनेक भूलें रह जाना स्वाभाविक है। अतः विद्वद्गण मुझे क्षमा प्रदान करते हुए सौहार्दभाव से मुझे उन त्रुटियों से अवगत कराने का कष्ट करेंगे तो उनकी महती अनुकम्पा होगी—**को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।**

जोधपुर,
माघशुक्ला पंचमी वि. सं. २०४७
२१ जनवरी, १९९१.

विनीत
डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
सम्पादक



 परमात्मप्रकाशः 

卐 विषयानुक्रम 卐



* श्रीपरमात्मने नमः *

श्रीमद्योगीन्दुदेवविरचितः

परमात्मप्रकाशः

श्रीमद्ब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीका

चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।
परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ।।

परमात्मा (निज शुद्ध स्वरूप) को प्रकाशित करने के लिए मैं चिदानन्दचिद्रूप परमात्मा जिनेन्द्र भगवान और सिद्ध भगवान को सदैव नमस्कार करता हूँ ।

श्रीयोगीन्दुदेवकृतपरमात्मप्रकाशाभिधाने दोहकछन्दोग्रन्थे प्रक्षेपकान् विहाय व्याख्यानार्थमधिकारशुद्धिः कथ्यते । तद्यथा—प्रथमतस्तावत्पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमुख्यत्वेन 'जे जाया झाणग्गियए' इत्यादि सप्त दोहकसूत्राणि भवन्ति, तदनन्तरं विज्ञापनमुख्यतया 'भावि पणविवि' इत्यादिसूत्रत्रयम्, अत ऊर्ध्वं वहिरन्तःपरमभेदेन त्रिधात्मप्रतिपादनमुख्यत्वेन 'पुणु पुणु पणविवि' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथानन्तरं मुक्तिगतव्यक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन 'तिहुयणवंदिउ' इत्यादि सूत्रदशकम्, अत ऊर्ध्वं देहस्थितशक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन 'जेहउ णिम्मलु' इत्यादि अन्तर्भूतप्रक्षेपपञ्चकसहितचतुर्विंशतिसूत्राणि भवन्ति, अथ जीवस्य स्वदेहप्रमितिविषये स्वपरमतविचारमुख्यतया 'कि वि भणंति' इत्यादिसूत्रषट्कं, तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपकथनमुख्यतया 'अप्पा जणियउ' इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथानन्तरं कर्मविचारमुख्यत्वेन 'जीवहँ कम्मु अणाइ' इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनन्तरं सामान्यभेदभावनाकथनेन 'अप्पा अप्पु जि' इत्यादि सूत्रनवकम्, अत ऊर्ध्वं निश्चयसम्यग्दृष्टिकथनरूपेण 'अप्पि अप्पु' इत्यादि सूत्रमेकं, तदनन्तरं

मिथ्याभावकथनमुख्यत्वेन 'पज्जयरत्तउ' इत्यादि सूत्राष्टकम्, अत ऊर्ध्वं सम्यग्दृष्टि-भावनामुख्यत्वेन 'कालु लहेविणु' इत्यादिसूत्राष्टकं, तदनन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन 'अप्पा संजमु' इत्याद्येकाधिकत्रिंशत्प्रमितानि दोहकसूत्राणि भवन्ति ।। इति श्री **योगीन्द्रदेवविरचितपरमात्मप्रकाशशास्त्रे** त्रयोविंशत्यधिकशतदोहकसूत्रैर्बहिरन्तःपरमात्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन **प्रथमप्रकरणपातनिका** समाप्ता ।

श्री योगीन्दुदेवकृत **परमात्मप्रकाश** नामक दोहाछन्दोग्रन्थ में प्रक्षेपकों को छोड़कर व्याख्यान हेतु अधिकारों का क्रम कहा जाता है। वह इस प्रकार है—सबसे पहले पञ्च परमेष्ठियों के नमस्कार की मुख्यता से **'जे जाया झाणग्गियए'** इत्यादि सात दोहे हैं, अनन्तर विज्ञापना की मुख्यता से **भाविं पणविवि** इत्यादि तीन दोहे हैं। फिर बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से त्रिविध आत्मा के प्रतिपादन की मुख्यता से **'पुणु पुणु पणविवि'** इत्यादि पाँच दोहे हैं। इनसे आगे मुक्तिप्राप्त प्रकटस्वरूप परमात्मा के कथन की अपेक्षा **तिहुयणवंदिउ** इत्यादि दस दोहे हैं। फिर देहस्थित शक्तिरूप परमात्मा के कथन की अपेक्षा **जेहउ णिम्मलु** इत्यादि पाँच क्षेपक दोहों सहित चौबीस दोहे हैं। फिर जीव के स्वदेहप्रमाण के विषय में स्व-पर मत विचार की मुख्यता से **कि वि भणंति** इत्यादि छह दोहे हैं। फिर द्रव्यगुण पर्याय के स्वरूप कथन की अपेक्षा **अप्पा जणियउ** आदि तीन दोहे हैं। अनन्तर कर्मविचार की मुख्यता से **जीवहं कम्मु अणाइ** आदि आठ दोहे हैं। फिर सामान्य भेद भावना के कथन से **अप्पा अप्पु जि** आदि नौ दोहे हैं। इसके आगे निश्चयसम्यग्दृष्टि के कथन स्वरूप **अप्पें अप्पु** जि यह एक दोहा है। अनन्तर मिथ्याभाव कथन की अपेक्षा **पज्जयरत्तउ** आदि आठ दोहे हैं। फिर सम्यग्दृष्टि भावना की मुख्यता से **कालु लहेविणु** इत्यादि आठ दोहे हैं। अन्त में, सामान्य भेद भावना की मुख्यता से **अप्पा संजमु** आदि ३१ दोहे कहे गए हैं। इस प्रकार श्री योगीन्द्रदेव विरचित परमात्मप्रकाश शास्त्र में १२३ दोहासूत्रों के द्वारा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का कथन करने वाला पहला प्रकरण समाप्त होता है।

अथानन्तरं द्वितीयमहाधिकारप्रारम्भे मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते। तत्र प्रथमतस्तावत् 'सिरिगुरु' इत्यादिमोक्षस्वरूपकथनमुख्यत्वेन दोहकसूत्राणि दशकम्, अत ऊर्ध्वं 'दंसणु णाणु' इत्याद्येकसूत्रेण मोक्षफलं, तदनन्तरं 'जीवहं मोक्खहं हेउ वरु' इत्याद्येकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यतया व्याख्यानम्, अथानन्तरमभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन 'जो भत्तउ' इत्यादि सूत्राष्टकम्, अत ऊर्ध्वं समभावमुख्यत्वेन 'कम्मु पुरक्किउ' इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अथानन्तरं पुण्यपापसमानमुख्यत्वेन 'बंधहं मोक्खहं हेउ णिउ' इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अत ऊर्ध्वम् एकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं प्रक्षेपकान् विहाय शुद्धोपयोगस्वरूपमुख्यत्वमिति समुदायपातनिका।

दूसरे महाधिकार के प्रारम्भ में मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा गया है। सबसे पहले **सिरिगुरु** आदि मोक्ष के स्वरूपकथन की मुख्यता से दस दोहे हैं, फिर **दंसणु णाणु** एक दोहे में मोक्ष का फल कहा है। अनन्तर **जीवहं मोक्खहं हेउ वरु** आदि २१ दोहों है पर्यन्त निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग की कथनी है। इसके आगे अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से **जो भत्तउ** इत्यादि आठ दोहे हैं,

फिर समभाव के कथन की अपेक्षा **कम्मु पुरक्किउ** आदि चौदह दोहे हैं। अनन्तर 'पुण्य पाप की समानता' की मुख्यता से **बंधहं मोक्खहं हेउ णिउ** इत्यादि चौदह दोहे हैं और फिर प्रक्षेपकों को छोड़ कर इकतालीस दोहों तक शुद्धोपयोग के स्वरूप का व्याख्यान है।

तत्र प्रथमतः एकचत्वारिंशन्मध्ये 'सुद्धहं संजमु' इत्यादिसूत्रपञ्चकपर्यन्तं शुद्धोपयोगमुख्यतया व्याख्यानम्, अथानन्तरं 'दाणि लब्भइ' इत्यादिपञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यान, तदनन्तरं 'लेणहं इच्छइ मूढ' इत्यादिसूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यतया व्याख्यानम्, अत ऊर्ध्व 'जो भत्तउ रयणत्तयहं' इत्यादि त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत् सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिस्वभावलक्षणेन समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानम्, इत्येकचत्वारिंशत्सूत्राणि गतानि।

इन इकतालीस दोहों में सबसे पहले **सुद्धहं संजमु** इत्यादि पाँच दोहों तक मुख्यता से शुद्धोपयोग का व्याख्यान है, फिर **दाणि लब्भइ** इत्यादि पन्द्रह दोहों पर्यन्त वीतराग स्वसंवेदनज्ञान की मुख्यता से कथन है। अनन्तर **लेणहं इच्छइ मूढु** आदि आठ दोहों तक परिग्रहत्याग का व्याख्यान है। इससे आगे **जो भत्तउ रयणत्तयहं** आदि तेरह दोहों तक शुद्धनय से सोलहवानी सुवर्ण की भाँति सब जीवों की केवलज्ञानादि स्वभाव लक्षण की समानता का कथन है। इस प्रकार इकतालीस दोहे हैं।

अत ऊर्ध्व 'परु जाणंतु वि' इत्यादि समाप्तिपर्यन्तं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतसूत्रैश्चूलिकाव्याख्यानम्। तत्र सप्तोत्तरशतमध्ये अवसाने 'परमसमाहि' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रेषु सप्त स्थलानि भवन्ति। तस्मिन् प्रथमस्थले निर्विकल्पसमाधिमुख्यत्वेन 'परमसमाहिमहासरहि' इत्यादि सूत्रषट्कं, तदनन्तरमर्हत्पदमुख्यत्वेन 'सयलवियप्पहं' इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथानन्तरं परमात्मप्रकाशनाममुख्यत्वेन 'सयलहं कम्महं दोसहं' इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथ सिद्धपदमुख्यत्वेन 'झाणें कम्मक्खउ करिवि' इत्यादि सूत्रत्रयं,तदनन्तरं परमात्मप्रकाशाराधकपुरुषाणां फलकथनमुख्यत्वेन 'जे परमप्पपयास मुणि' इत्यादिसूत्रत्रयम्, अत ऊर्ध्व परमात्मप्रकाशाराधनायोग्यपुरुषकथनमुख्यत्वेन 'जे भवदुक्खह' इत्यादिसूत्रत्रयम्, अथानन्तरं परमात्मप्रकाशशास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन तथैवौद्धत्यपरिहारमुख्यत्वेन च 'लक्खणछंद' इत्यादि सूत्रत्रयम्। इति चतुर्विंशतिदोहकसूत्रैकचूलिकावसाने सप्त स्थलानि गतानि। एवं **प्रथम पातनिका** समाप्ता। अथवा प्रकारान्तरेण द्वितीया पातनिका कथ्यते। तद्यथा—

इसके आगे **परु जाणंतु वि** दोहे से समाप्ति पर्यन्त प्रक्षेपकों को छोड़ कर एकसौ सात दोहों में चूलिका व्याख्यान है। इनमें से अन्त के **परमसमाहि** आदि चौवीस दोहों में सात स्थल हैं। प्रथमस्थल में निर्विकल्पसमाधि की मुख्यता से **परमसमाहिमहासरहिं** आदि छह दोहे है। अनन्तर अर्हंतपद की मुख्यता से **सयलवियप्पहं** इत्यादि तीन दोहे हैं। फिर परमात्मप्रकाश नाम की मुख्यता से **सयलहं कम्महं दोसहं** आदि तीन दोहे हैं, फिर सिद्धपद की मुख्यता से **झाणे कम्मक्खउ करिवि** इत्यादि तीन

दोहे हैं, अनन्तर परमात्मप्रकाशाराधक पुरुषों को प्राप्त फल के कथन की मुख्यता से **जे परमप्पपयास मुणि** इत्यादि तीन दोहे हैं। इसके आगे परमात्मप्रकाश की आराधना के योग्य पुरुषों के कथन की मुख्यता से **जे भवदुक्खहं** इत्यादि तीन दोहे हैं। अनन्तर परमात्मप्रकाश शास्त्र के फल के कथन की मुख्यता से तथा औद्धत्यपरिहार की मुख्यता से **लक्खणछंद** आदि तीन दोहे कहे हैं। इस प्रकार चूलिका की समाप्ति पर चौबीस दोहों में सात स्थल कहे गए हैं। इस प्रकार प्रथम पातनिका कही गई। प्रकारान्तर से दूसरी पातनिका कही जाती है—

प्रथमतस्तावद्बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण प्रक्षेपकान् विहाय त्रयोविंशत्यधिकशतसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियत इति समुदायपातनिका। तत्रादौ 'जे जाया' इत्यादि पञ्चविंशतिसूत्रपर्यन्तं त्रिधात्मपीठिकाव्याख्यानम्, अथानन्तरं 'जेहउ णिम्मलु' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं सामान्यविवरणम्, अत ऊर्ध्वं 'अप्पा जोइय सव्वगउ' इत्यादित्रिचत्वारिंशत्सूत्र पर्यन्तं विशेषविवरणम्, अत ऊर्ध्वं 'अप्पा संजमु' इत्याद्येकत्रिंशत्सूत्रपर्यन्त चूलिकाव्याख्यानमिति प्रथममहाधिकारः समाप्तः।

पहले अधिकार में क्षेपकों को छोड़ कर एक सौ तेईस दोहों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का व्याख्यान किया गया है। उनमें पहले **जे जाया** इत्यादि पच्चीस दोहों में त्रिविध आत्मा के कथन का पीठिका व्याख्यान है, फिर **जेहउ णिम्मलु** इत्यादि चौवीस दोहों पर्यन्त सामान्य विवरण है, इससे आगे **अप्पा जोइय सव्वगउ** आदि तेतालीस दोहों तक विशेष विवरण है। अनन्तर **अप्पा संजमु** इत्यादि इकत्तीस दोहों में चूलिका व्याख्यान कर प्रथम महाधिकार समाप्त किया गया है।

अथानन्तरं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयसूत्रपर्यन्तं द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यत इति समुदायपातनिका। तत्रादौ 'सिरिगुरु' इत्यादित्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं पीठिकाव्याख्यानं, तदनन्तरं 'जो भत्तउ' इत्यादिषट्त्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं सामान्यविवरणम्, अथानन्तरं 'सुद्धहं संजमु' इत्याद्येकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं विशेषविवरणं, तदनन्तरं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतपर्यन्तमभेदरत्नत्रयमुख्यतयाचूलिकाव्याख्यानं, इति द्वितीयपातनिका ज्ञातव्या।

दूसरे अधिकार में क्षेपकों को छोड़ कर दो सौ चौदह दोहों में मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्ग के स्वरूप का कथन किया गया है। प्रारम्भ में **सिरिगुरु** इत्यादि तीस दोहों में पीठिका व्याख्यान है, अनन्तर **जो भत्तउ** इत्यादि छत्तीस दोहों में सामान्य विवरण है। इसके बाद **सुद्धहं संजमु** इत्यादि इकतालीस दोहों में विशेष विवरण है। अनन्तर प्रक्षेपक दोहों को छोड़कर एक सौ सात दोहों में अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से चूलिका व्याख्यान है। यह दूसरी पातनिका जाननी चाहिए।

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण व्याख्याने क्रियमाणे ग्रन्थकारो ग्रन्थस्यादौ मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणः सन् दोहकसूत्रमेकं प्रतिपादयति—

अब पहली पातनिका के अभिप्राय से व्याख्यान करने पर ग्रन्थकार **श्रीयोगीन्दुदेव** ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गल के लिए इष्ट देवता को नमस्कार करते हुए एक दोहाछन्द कहते हैं—

जे जाया झाणग्गियएँ कम्म-कलंक डहेवि ।
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ।।१।।

ये जाता ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कान् दग्ध्वा ।
नित्यनिरञ्जनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा ।।१।।

जे **जाया** ये केचन कर्तारो महात्मानो जाता उत्पन्नाः। केन कारणभूतेन। **झाणग्गियए** ध्यानाग्निना। किं कृत्वा पूर्वम्। **कम्मकलंक डहेवि** कर्मकलङ्कमलान् दग्ध्वा भस्मीकृत्वा। कथंभूताः जाताः। **णिच्चणिरंजणणाणमय** नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः **ते परमप्प णवेवि** तान्परमात्मनः कर्मतापन्नान्नत्वा प्रणम्येति तात्पर्यार्थव्याख्यानं समुदाय-कथनं संपिण्डितार्थनिरूपणमुपोद्घातः संग्रहवाक्यं वार्तिकमिति यावत्। इतो विशेषः।

जे जो **झाणग्गियएँ** ध्यानरूपी अग्नि से **कम्म-कलंक** कर्म रूपी मल को **डहेवि** जला कर **णिच्च-णिरंजण-णाण-मय जाया** नित्य, निरञ्जन और ज्ञानमय सिद्ध परमेष्ठी हुए है **ते** उन **परमप्प** परमात्माओं को **णवेवि** नमस्कार कर (परमात्मप्रकाश ग्रन्थ का कथन करता हूँ।) ।।१।। यह संक्षिप्त कथन किया। अब विशेष कहते हैं–

तद्यथा-ये जाता उत्पन्ना मेघपटलविनिर्गतदिनकरकिरणप्रभावत्कर्मपटलविघटनसमये सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपेण लोकालोकप्रकाशनसमर्थेन सर्वप्रकारोपा-देयभूतेन कार्यसमयसाररूपपरिणताः। कया नयविवक्षया जाताः सिद्धपर्यायपरिणति-व्यक्तरूपतया धातुपाषाणे सुवर्णपर्यायपरिणति-व्यक्तिवत्। तथा चोक्तं **पञ्चास्तिकाये**— पर्यायार्थिकनयेन "अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो", द्रव्यार्थिकनयेन पुनः शक्त्यपेक्षया पूर्वमेव शुद्धबुद्धैकस्वभावस्तिष्ठति धातुपाषाणे सुवर्णशक्तिवत्। तथा चोक्तं **द्रव्यसंग्रहे**—शुद्ध-द्रव्यार्थिकनयेन "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावाः। केन जाताः। ध्यानाग्निना करणभूतेन ध्यानशब्देन आगमापेक्षया वीतरागनिर्विकल्पशुक्लध्यानम्, अध्यात्मापेक्षया वीतरागनिर्विकल्परूपातीतध्यानम्। तथा चोक्तम्—**"पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्। रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्।।"** तच्च ध्यानं वस्तुवृत्त्या शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागपर-मानन्दसमरसीभावसुखरसास्वादरूपमिति ज्ञातव्यम्। किं कृत्वा जाताः। कर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कर्ममलशब्देन द्रव्यकर्मभावकर्माणि गृह्यन्ते। पुद्गलपिण्डरूपाणि ज्ञानावरणा-दीन्यष्टौ द्रव्यकर्माणि, रागादिसंकल्पविकल्परूपाणि पुनर्भावकर्माणि। द्रव्यकर्मदहनमु-पचरितासद्भूतव्यवहारनयेन, भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन शुद्धनिश्चयेन बन्धमोक्षौ न स्तः। इत्थंभूतकर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कथंभूता जाताः। नित्यनिरञ्जनज्ञान-मयाः। क्षणिकैकान्तवादिसौगत-मतानुसारिशिष्यं प्रति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटङ्कोत्कीर्ण-

ज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यव्यवस्थापनार्थं नित्यविशेषणं कृतम् । अथ कल्पशते गते जगत् शून्यं भवति पश्चात्सदाशिवे जगत्करणविषये चिन्ता भवति तदनन्तरं मुक्तिगतानां जीवानां कर्माञ्जनसंयोगं कृत्वा संसारे पतनं करोतीति **नैयायिका** वदन्ति, तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माञ्जननिषेधार्थं मुक्तजीवानां निरञ्जनविशेषणं कृतम् । मुक्तात्मनां सुप्तावस्थावद्बहिर्ज्ञेयविषये परिज्ञानं नास्तीति **सांख्या** वदन्ति, तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसर्वपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानस्थापनार्थं ज्ञानमय-विशेषणं कृतमिति । तानित्थंभूतान् परमात्मनो नत्वा प्रणम्य नमस्कृत्येति क्रियाकारकसंबन्धः । अत्र नत्वेति शब्दरूपो वाचनिको द्रव्यनमस्कारो ग्राह्यः सद्भूतव्यवहारनयेन ज्ञातव्यः, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति, शुद्धनिश्चयनयेन वन्द्यवन्दकभावो नास्तीति । एवं पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, नयविभागकथनरूपेण नयार्थो भणितः, बौद्धादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोऽपि निरूपितः, एवंगुणविशिष्टाः सिद्धा मुक्ताः सन्तीत्यागमार्थः प्रसिद्धः । अत्र नित्यनिरञ्जनज्ञानमयरूपं परमात्मद्रव्यमुपादेयमिति भावार्थः । अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्य इति ॥१॥

जो मेघसमूह के आवरण से निकली हुई सूर्य की किरणों की प्रभा के समान कर्मावरण के विघटन के समय सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय के व्यक्त होने से और लोकालोक के प्रकाशन में समर्थ होने से सब प्रकार से उपादेयभूत कार्यसमयसार रूप परिणत हुए हैं; किस नय-विवक्षा से सिद्धपर्याय परिणति की प्रगटतारूप शुद्ध परमात्मा हुए ? जैसे अन्य धातुओं के मेल से रहित होने पर सोने की सुवर्णपर्याय-शुद्धपर्याय प्रकट होती है। जैसा **पञ्चास्तिकाय** ग्रन्थ में कहा है—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा 'सिद्ध (पर्याय) अभूतपूर्व है' यानी पहले कभी सिद्ध पर्याय प्राप्त नहीं हुई थी। द्रव्यार्थिक नय से तो शक्ति की अपेक्षा यह जीव नित्य ही शुद्ध-बुद्ध एक ज्ञान-स्वभावमय वर्तता है जैसे धातुपाषाण के संयोग में भी शक्तिरूप सुवर्ण तो विद्यमान है ही। द्रव्यसंग्रह में भी कहा है— शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' सभी जीव शुद्धबुद्धस्वभाव वाले हैं। किस कारण से हुए ? ध्यानरूपी अग्नि से कर्म रूपी मल को जलाने से। आगम की अपेक्षा ध्यान से अभिप्राय है—वीतराग निर्विकल्प शुक्ल ध्यान और अध्यात्म की अपेक्षा इसका अभिप्राय है—वीतराग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान। कहा भी है—'मंत्रवाक्यों आदि का ध्यान **पदस्थध्यान** है, निज आत्मा का चिन्तन **पिण्डस्थध्यान** है, सर्व चिद्रूप (सकल परमात्मा) का चिन्तन **रूपस्थ ध्यान** है और निरञ्जन (निकल परमात्मा, सिद्ध परमेष्ठी) का ध्यान **रूपातीत ध्यान** है।" वस्तु स्वभाव से तो शुद्धात्मा की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग परमानन्द समरसी भाव सुख के आस्वाद रूप ध्यान है। क्या करके परमात्मा हुए ? कर्म मल रूपी कलंक को जलाकर परमात्मा हुए। कर्ममल शब्द से द्रव्य कर्म और भावकर्म का ग्रहण होता है। पुद्गलपिण्ड रूप ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म हैं और रागादि सङ्कल्प-विकल्प रूप परिणाम भाव-कर्म हैं। यहाँ द्रव्यकर्म का दहन (यह कथन) उपचरित असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा है और भाव-कर्म के दहन का कथन अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा तो जीव के

बन्ध और मोक्ष दोनों ही नहीं है। ऐसे कर्ममलकलङ्क को जला कर (वे) कैसे हुए ? नित्य निरञ्जन और ज्ञानमय हुए। यहाँ क्षणिक एकान्तवादी **बौद्ध** मतानुयायी शिष्य को समझाने हेतु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव रूप आत्मद्रव्य की स्थापना के लिए **'नित्य'** विशेषण का प्रयोग किया है। **नैयायिक** कहते है कि सौ कल्पकाल बीत जाने पर जगत् शून्य हो जाता है तब सदाशिव को सृष्टि रचने की चिन्ता होती है। अतः वह मुक्तजीवों के कर्म रूप अञ्जन का संयोग करके उन्हे पुनः संसार में डाल देता है। इस मान्यता के प्रति श्रद्धा रखने वाले शिष्य को समझाने हेतु मुक्तजीवो के भावकर्म-द्रव्यकर्म और नोकर्म रूप मल के निषेध के लिए **'निरञ्जन'** विशेषण का प्रयोग किया है। "जिस प्रकार सोए हुए पुरुष को बाह्य पदार्थो का ज्ञान नही होता वैसे ही मुक्तात्माओ को भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान नही होता है" ऐसा सांख्यमती मानते हैं। ऐसी मान्यता वाले शिष्य को समझाने के लिए **'ज्ञानमय'** विशेषण का प्रयोग किया है कि तीन जगत् और तीन कालवर्ती सब पदार्थो को एक साथ एक समय मे ही जानने की शक्ति रूप केवलज्ञान सिद्धो में है। ऐसे नित्य, निरञ्जन और ज्ञानमय सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करके ग्रन्थ का व्याख्यान करता हूँ। यहाँ नमस्कार शब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार है सो सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा है। केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्मरण रूप भावनमस्कार अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा तो वन्द्य-वन्दक भाव ही नही है। इस प्रकार पद-खण्डनारूप शब्दार्थ कहा, नय विभाग की अपेक्षा नयार्थ कहा, बौद्धादि मतों का कथन कर मतार्थ कहा। इस प्रकार गुणो से विशिष्ट सिद्ध परमात्मा मुक्त जीव हैं ; ऐसा प्रसिद्ध आगमार्थ है। नित्य, निरञ्जन, ज्ञानमय परमात्मा उपादेय है, ऐसा भावार्थ है। इसी प्रकार से सर्वत्र व्याख्यान-काल में यथासम्भव शब्द, नय, मत, आगमार्थ और भावार्थ जानना ॥१॥

अथ संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपोतं समारुह्य ये शिवमय-निरुपमज्ञानमया भविष्यन्त्यग्रे तानहं नमस्करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा ग्रन्थकारः सूत्रमाह, इत्यनेन क्रमेण पातनिकास्वरूपं सर्वत्र ज्ञातव्यम्—

अब संसार-समुद्र से पार उतरने के उपायभूत वीतराग निर्विकल्प समाधि रूप जहाज पर चढ़ कर जो भविष्य मे शिवमय-निरुपम-ज्ञानमय होगे, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ, यह अभिप्राय मन में रख ग्रन्थकार दोहा कहते हैं–

ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिँ जे वि अणंत।
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ॥२॥

तान् वन्दे श्रीसिद्धगणान् भविष्यन्ति येऽपि अनन्ताः।
शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः परमसमाधिं भजन्तः ॥२॥

ते वंदउं तान् वन्दे। तान् कान्। **सिरिसिद्धगण** श्रीसिद्धगणान्। ये किं करिष्यन्ति। **होसहि जे वि अणंत** भविष्यन्त्यग्रे येऽप्यनन्ताः। कथंभूता भविष्यन्ति। **सिवमयणिरुवमणाणमय** शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः, किं भजन्तः सन्तः इत्थंभूता भविष्यन्ति। **परमसमाहि भजंत** रागादिविकल्परहितसमाधिं भजन्तः सेव-

माना: इतो विशेष: । तथाहि—तान् सिद्धगणान् कर्मतापन्नान् अहं वन्दे । कथंभूतान् । केवलज्ञानादिमोक्षलक्ष्मीसहितान् सम्यक्त्वाद्यष्टगुणविभूतिसहितान् अनन्तान् । किं करिष्यन्ति । ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण दुर्लभबोधिं लब्ध्वा भविष्यन्त्यग्रे श्रेणिकादयः। किंविशिष्टा भविष्यन्ति। शिवमयनिरुपमज्ञानमया:। अत्र शिवशब्देन स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखं ग्राह्यं, निरुपमशब्देन समस्तोपमानरहितं ग्राह्यं, ज्ञानशब्देन केवलज्ञानं ग्राह्यम् । किं कुर्वाणाः सन्त इत्थंभूता: भविष्यन्ति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्व सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपामूल्यरत्नत्रयभारपूर्णं मिथ्यात्वविषयकषायादिरूपसमस्तविभावजलप्रवेशरहितं शुद्धात्मभावनोत्थसहजानन्दैकरूपसुखामृतविपरीतनरकादिदुःखरूपेण क्षारजलेन पूर्णस्य संसारसमुद्रस्य तरणोपायभूतं समाधिपोतं भजन्त: सेवमानास्तदाधारेण गच्छन्त इत्यर्थ: । अत्र शिवमयनिरुपमज्ञानमयशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थ: ॥२॥

जे वि जो आगामी काल में परमसमाहि भजंत रागादिविकल्प रहित परमसमाधि को भजते हुए अणंत सिवमय-णिरुवम-णाणमय अनन्त शिवमय, अनुपम और ज्ञानमय सिद्ध होसहिं होंगे, ते सिरि-सिद्ध-गण वंदउँ मैं उन श्रीसिद्ध समूहों को नमस्कार करता हूँ ॥२॥

जो सिद्ध होंगे उनकी मैं वन्दना करता हूँ । कैसे होंगे ? जो केवलज्ञानादिमोक्षलक्ष्मी सहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की विभूति सहित अनन्त होंगे । क्या करके सिद्ध होंगे ? जो आगे श्रेणिक आदि वीतरागसर्वज्ञप्रणीत मार्ग का अनुसरण कर दुर्लभ ज्ञान को उपलब्ध कर सिद्ध होंगे । और कैसे होंगे ? शिवमय-निरुपम-ज्ञानमय होंगे । यहाँ शिव शब्द का अभिप्राय स्वशुद्धात्मभावना से उत्पन्न वीतराग परमानन्द सुख लेना चाहिए, निरुपम शब्द से समस्तउपमान रहित ग्रहण करना चाहिए और ज्ञान शब्द से केवलज्ञान लेना चाहिए । क्या करते हुए ऐसे होंगे ? विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप शुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप अमूल्य रत्नत्रय से परिपूर्ण तथा मिथ्यात्व, विषयकषायादिरूप समस्त विभाव जल के प्रवेश से रहित, शुद्धात्मा की भावना से समुत्पन्न सहजानन्द रूप सुखामृत से विपरीत नरकादि दुःख रूप खारे जल से परिपूर्ण संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए उपायभूत समाधिरूपी जहाज को भजते हुए, उसके आधार से चलते हुए, अनन्त सिद्ध परमेष्ठी होंगे । भावार्थ यह है कि शिवमय, निरुपम, ज्ञानमय शुद्धात्मस्वरूप ही उपादेय है ॥२॥

अथानन्तरं परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनहोमं कुर्वाणान् वर्तमानान् सिद्धानहं नमस्करोमि—

अब परमसमाधि रूप अग्नि से कर्मरूप इन्धन का होम करते हुए वर्तमान सिद्धों को नमस्कार करता हूँ—

ते हउँ वंदउँ सिद्ध-गण अच्छहिं जे वि हवंत ।
परम-समाहि-महग्गिएँ कम्मिंधणइँ हुणंत ॥३॥

तान् अहं वन्दे सिद्धगणान् तिष्ठन्ति येऽपि भवन्त: ।
परमसमाधिमहाग्निना कर्मेन्धनानि जुह्वन्त: ॥३॥

ते हउं वंदउं सिद्धगण तानहं सिद्धगणान् वन्दे। ये कथंभूता:। **अत्थ(च्छ) हिं जे वि हवंत** इदानीं तिष्ठन्ति ये भवन्त: सन्त:। किं कुर्वाणास्तिष्ठन्ति। **परमसमाहिमहग्गियएँ कम्मिंधणइं हुणंत** परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनानि होमयन्त:। अतो विशेष:। तद्यथा-तान् सिद्धसमूहानहं वन्दे वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानलक्षण-पारमार्थिकसिद्धभक्त्या नमस्करोमि। ये किंविशिष्टा:। इदानीं पञ्चमहाविदेहेषु भवन्तस्तिष्ठन्ति श्रीसीमन्धरस्वामिप्रभृतय:। किं कुर्वन्तस्तिष्ठन्ति। वीतरागपरमसामायिकभावनाविनाभूतनिर्दोषपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिवैश्वानरे कर्मेन्धनाहुतिभि: कृत्वा होमं कुर्वन्त इति। अत्र शुद्धात्मद्रव्यस्योपादेयभूतस्य प्राप्त्युपायभूतत्वान्निर्विकल्पसमाधिरेवोपादेय इति भावार्थ: ।।३।।

जे वि जो भी **परम-समाहि-महग्गिएँ कम्मिंधणइँ हुणंत हुवंत अच्छहिं** परम समाधिरूप महा अग्नि से कर्मरूपी ईन्धन को जलाते हुए वर्तमान मे विराज रहे है **ते सिद्धगण हउँ वंदउँ** उन सिद्धगणो को मैं नमस्कार करता हूँ ।।३।।

उन सिद्ध समूहो की मैं वन्दना करता हूँ। वीतरागनिर्विकल्पस्वसवेदन ज्ञानरूप पारमार्थिक सिद्ध भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। वे क्या विशेपताएँ लिये है? अभी पाँच महाविदेहक्षेत्रो में श्री सीमन्धर स्वामी आदि विराजमान हैं। क्या करते हुए विराजमान है? वीतराग परमसामायिक चारित्र की भावना से युक्त वे, निर्दोष परमात्मा के यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूपी अग्नि में कर्मरूपी ईन्धन की आहुतियाँ देकर होम कर रहे हैं। **भावार्थ** यह है कि शुद्धात्मद्रव्य की प्राप्ति की उपायभूत होने से निर्विकल्प समाधि ही उपादेय है ।।३।।

अथ स्वरूपं प्राप्यापि तेन संवन्धादनुज्ञानबलेन ये सिद्धा भूत्वा निर्वाणे वसन्ति तानहं वन्दे—

अव स्वरूप को प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान के वल से जो सिद्ध होकर निर्वाण में वर्त रहे हैं उनकी मैं वन्दना करता हूँ—

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे णिव्वाणि वसंति।
णाणिं तिहुयणि गरुया वि भव-सायरि ण पडंति ।।४।।

तान् पुन: वन्दे सिद्धगणान् ये निर्वाणे वसन्ति।
ज्ञानेन त्रिभुवने गुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति ।।४।।

ते पुणु वंदउं सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान्। किंविशिष्टान्। **जे णिव्वाणि वसंति** ये निर्वाणे मोक्षपदे वसन्ति तिष्ठन्ति। पुनरपि कथंभूता ये। **णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति** ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति। अत: ऊर्ध्वं विशेष:। तथाहि—तान् पुनर्वन्देऽहं सिद्धगणान् ये तीर्थकरपरमदेव**भरतराघवपाण्ड-**

वादयः पूर्वकाले वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मस्वरूपं प्राप्य कर्मक्षयं कृत्वेदानीं निर्वाणे तिष्ठन्ति सदापि न संशयः । तानपि कथंभूतान् । लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानस्वसंवेदनत्रिभुवनगुरून् । त्रैलोक्यालोकनपरमात्मस्वरूपनिश्चयव्यवहारपदपदार्थव्यवहारनयकेवलज्ञानप्रकाशेन समाहितस्वस्वरूपभूते निर्वाणपदे तिष्ठन्ति यतः ततस्तन्निर्वाणपदमुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ।।४।।

पुणु, जे णिव्वाणि वसंति पुनः, जो मोक्ष में विराज रहे हैं, णाणि तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति और ज्ञान के कारण तीनों लोकों में गुरु (भारी) हैं तो भी संसाररूपी समुद्र में नहीं गिरते हैं; ऐसे ते सिद्धगण वंदउं उन सिद्धों की मैं वन्दना करता हूँ ।।४।।

अब मैं उन सिद्धों की वन्दना करता हूँ जो तीर्थंकर परमदेव तथा भरत, राघव, पाण्डवादिक पूर्वकाल में वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से, शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर, कर्मों का नाश कर वर्तमान में निर्वाण पद में विराज रहे हैं। इसमें संशय नहीं है। कैसे हैं वे ? लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञानरूप स्वसंवेदन के बल से जो तीनों लोकों में भारी हैं, गुरु हैं, महान् हैं (भारी होते हुए भी वे भवसागर में नहीं गिरते हैं।) व्यवहार नय से वे तीनों लोकों को जानते हैं, निश्चय नय से वे अपने ही स्वरूप में स्थित होते हुए निर्वाणपद में विराज रहे हैं। भावार्थ यह है कि निर्वाणपद ही उपादेय है ।।४।।

अत ऊर्ध्वं व्यवहारनिश्चयशुद्धात्मनो हि सिद्धास्तथापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपे तिष्ठन्तीति कथयन्ति—

आगे व्यवहार नय से वे लोकालोक को देखने वाले हैं, तथापि निश्चय नय से वे अपने शुद्धात्मस्वरूप में ही स्थित हैं, सो कहते हैं—

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत ।
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिँ विमलु णियंत ।।५।।

तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्तः ।
लोकालोकमपि सकलं इह तिष्ठन्ति विमलं पश्यन्तः ।।५।।

ते पुणु वंदउं सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् । **जे अप्पाणि वसंत लोयालोउ वि सयलु इहु अत्थ(च्छ)हिं विमलु णियंत** ये आत्मनि वसन्तो लोकालोकं सततस्वरूपपदार्थं निश्चयन्त इति । इदानीं विशेषः । तद्यथा-तान् पुनरहं वन्दे सिद्धगणान् सिद्धसमूहान् वन्दे कर्मक्षयनिमित्तम् । पुनरपि कथंभूतं सिद्धस्वरूपम् । चैतन्यानन्दस्वभावं लोकालोकव्यापिसूक्ष्मपर्यायशुद्धस्वरूपं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम् । निश्चयएकीभूतव्यवहाराभावे स्वात्मनि अपि च सुखदुःखभावाभावयोरेकीकृत्य स्वसंवेद्यस्वरूपे स्वयत्ने तिष्ठन्ति । उपचरितासद्भूतव्यवहारे लोकालोकावलोकनं स्वसंवेद्यं प्रतिभाति, आत्मस्वरूपकैवल्य-

ज्ञानोपशमं यथा पुरुषार्थपदार्थदृष्टोः भवति तेषां बाह्यवृत्तिनिमित्तमुत्पत्तिस्थूलसूक्ष्म-परपदार्थव्यवहारात्मानमेव जानन्ति । यदि निश्चयेन तिष्ठन्ति तर्हि परकीयसुखदु.ख-परिज्ञाने सुखदुःखानुभवं प्राप्नोति, परकीयरागद्वेषहेतुपरिज्ञाने च रागद्वेषमयत्वं च प्राप्नोतीति महद्दूषणम् । अत्र यत् निश्चयेन स्वस्वरूपेऽवस्थानं भणितं तदेवोपादेयमिति भावार्थः ।।५।।

पुणु फिर **ते सिद्ध-गण वंदउँ** मैं उन सिद्ध गणों की वन्दना करता हूँ **जे अप्पाणि वसंत** जो निजस्वरूप में वसते हुए **सयलु वि लोयालोउ इहु विमलु णियंत अच्छहिं** सकल लोकअलोक को संशय-रहित प्रत्यक्ष देखते हुए विद्यमान है ।।५।।

मैं कर्मक्षय हेतु फिर उन सिद्धों की वन्दना करता हूँ । कैसा है सिद्धस्वरूप ? चैतन्यानन्द स्वभाव वाला, लोकालोकव्यापी सूक्ष्मपर्यायशुद्धस्वरूप वाला और ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षण वाला है । जो निश्चय नय की अपेक्षा आत्मस्वरूप मे ही स्थित है और उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा सम्पूर्ण लोकअलोक को प्रत्यक्ष देखते हैं परन्तु जैसे आत्मस्वरूप में तन्मयी है वैसे पर पदार्थों में तन्मयी नही हैं । यदि निश्चय से पर पदार्थों में तन्मयता हो तो पर के सुख-दुःख के परिज्ञान से स्वयं भी सुख-दुःख का अनुभव करने लगे और पर के रागद्वेष हेतु के परिज्ञान से स्वयं भी रागद्वेषमयता को प्राप्त करें—यह वड़ा दूषण आता है । अत· जो निश्चय नय की अपेक्षा आत्मस्वरूप मे अवस्थान कहा, वही अपना स्वरूप ही उपादेय है, यह **भावार्थ** हुआ ।।५।।

अथ निष्कलात्मानं सिद्धपरमेष्ठिनं नत्वेदानी तस्य सिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य च प्रतिपादकं सकलात्मान नमस्करोमि—

निकल परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर अव उस सिद्धस्वरूप की प्राप्ति के उपाय का प्रतिपादन करने वाले सकल परमात्मा को नमस्कार करता हूँ—

केवल-दंसण-णाणमय केवल-सुक्ख-सहाव ।
जिणवर वंदउँ भत्तियए जेहिँ पयासिय भाव ।।६।।

केवलदर्शनज्ञानमयान् केवलसुखस्वभावान् ।
जिनवरान् वन्दे भक्त्या यै· प्रकाशिता· भावाः ।।६।।

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखस्वभावा ये तान् जिनवरानहं वन्दे । कया । भक्त्या । यैः किं कृतम् । प्रकाशिता भावा जीवाजीवादिपदार्था इति । इतो विशेषः । केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभशत्रुमित्रसमानभावनाविनाभूतवीतरागनिर्विकल्पसमाधिपूर्वं जिनोपदेशं लब्ध्वा पश्चादनन्तचतुष्टयस्वरूपा जाता ये । पुनश्च किं कृतम् । यै· अनुवादरूपेण जीवादिपदार्थाः प्रकाशिताः । विशेषेण तु कर्माभावे सति केवलज्ञानाद्य-

नन्तगुणस्वरूपलाभात्मको मोक्ष:, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गश्च, तानहं वन्दे । अत्रार्हद्गुणस्वरूपस्वशुद्धात्मस्वरूपमेवोपादेयमिति भावार्थ: ॥६॥

केवल-दंसरण णाणमय जो केवलदर्शन और केवलज्ञानमय हैं **केवल-सुक्ख-सहाय** तथा केवल-सुख ही जिनका स्वभाव है और **जेहिं भाव पयासिय** जिन्होंने जीवाजीवादि सकल भाव यानी पदार्थों को प्रकाशित किया है, ऐसे उन **जिणवर भत्तियए वंदउँ** जिनवरों की मैं भक्तिपूर्वक वन्दना करता हूँ ॥६॥

केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप परमात्म तत्त्व के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूति रूप अभेदरत्नत्रयपना जिनका स्वभाव है, तथा सुख-दु:ख, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र सब में सम भाव से उत्पन्न वीतराग निर्विकल्प समाधि से पूर्व जिनोपदेश (अरिहन्त परमेष्ठी के उपदेश) को पाकर जो बाद में स्वयं अनन्त चतुष्टय स्वरूप हुए । पुन. क्या किया ? जिन्होंने यथार्थ-रूप से जीवादि पदार्थों का स्वरूप प्रकाशित किया । विशेषत: कर्मों का अभाव होने पर केवलज्ञानादि-अनन्त गुणों की प्राप्ति रूप मोक्ष को और शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेद रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को भी जिन्होंने प्रकट किया, ऐसे उन जिनवरों को मैं भक्ति से नमस्कार करता हूँ । यहाँ अरिहन्त परमेष्ठी का केवलज्ञानादि गुणस्वरूप जो शुद्धात्मरूप है, वही उपादेय है; यह भावार्थ है ॥६॥

अथानन्तरं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानाचार्योपाध्यायसाधून्नमस्करोमि—

अनन्तर, भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूँ—

जे परमप्पु णियंति मुणि परम-समाहि धरेवि ।
परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवेवि ॥७॥

ये परमात्मानं पश्यन्ति मुनय: परमसमाधिं धृत्वा ।
परमानन्दस्य कारणेन त्रीनपि तानपि नत्वा ॥७॥

जे परमप्पु णियंति मुणि ये केचन परमात्मानं निर्गच्छन्ति स्वसंवेदनज्ञानेन जानन्ति मुनयस्तपोधना: । किं कृत्वा पूर्वम् । **परमसमाहि धरेवि** रागादिविकल्परहितं परमसमाधिं धृत्वा । केन कारणेन । **परमाणंदह कारणिण** निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्न-सदानन्दपरमसमरसीभावसुखरसास्वादनिमित्तेन **तिण्णि वि ते वि णवेवि** त्रीनप्याचार्योपाध्यायसाधून् नत्वा नमस्कृत्येत्यर्थ: । अतो विशेष: । अनुपचरितासद्भूतव्यवहार-संबन्ध: द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं तथैवाशुद्धनिश्चयसंबन्ध: मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायरहितं च यच्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वं तदेव भूतार्थं परमार्थरूपसमयसारशब्दवाच्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतं तस्माच्च यदन्यत्तद्धेयमिति । चलमलिनागाढ-रहितत्वेन निश्चयश्रद्धानबुद्धि: सम्यक्त्वं तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारस्तत्रैव संशयवि-

पर्याप्तिनिव्यवसायरहितत्वेन स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः, तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानन्दमयसुखरसास्वादस्थिरानुभवनं च सम्यक्चारित्रं तत्राचरणं परिणमनं चारित्राचारः, तत्रैव परद्रव्येच्छानिरोधेन सहजानन्दैकरूपेण प्रतपनं तपश्चरणं तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः, तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचार इति निश्चयपञ्चाचाराः निःशङ्काद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः, कालविनयाद्यष्टभेदो बाह्यज्ञानाचारः, पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिनिर्ग्रन्थरूपो बाह्यचारित्राचारः, अनशनादिद्वादशभेदरूपो बाह्यतपश्चरणाचारः, बाह्यस्वशक्त्यनवगूहनरूपो बाह्यवीर्याचार इति । अयं तु व्यवहारपञ्चाचारः पारंपर्येण साधक इति ।

विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिरूपं तपश्चरणं स्वशक्त्यनवगूहनवीर्यरूपाभेदपञ्चाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावनान्तर्भूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं स्वयमाचरन्त्यन्यानाचारयन्तीति भवन्त्याचार्यास्तानहं वन्दे । पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये शुद्धजीवास्तिकायशुद्धजीवद्रव्यशुद्धजीवतत्त्वशुद्धजीवपदार्थसंज्ञं स्वशुद्धात्मभावमुपादेयं तस्माच्चान्यद्धेयं कथयन्ति, शुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षमार्गं च ये कथयन्ति ते भवन्त्युपाध्यायास्तानहं वन्दे । शुद्धबुद्धैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणतपश्चरणरूपाभेदचतुर्विधनिश्चयाराधनात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधिं ये साधयन्ति ते भवन्ति साधवस्तानहं वन्दे । अत्रायमेव ते समाचरन्ति कथयन्ति साधयन्ति च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं तमेवोपादेयभूतस्य स्वशुद्धात्मतत्त्वस्य साधकत्वादुपादेयं जानीहीति भावार्थः ॥७॥ इति **प्रभाकरभट्टस्य** पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारकरणमुख्यत्वेन प्रथममहाधिकारमध्ये दोहकसूत्रसप्तकं गतम् ।

जे मुणि परमाणंदह कारणिण परम-समाहि धरेवि जो मुनिगण परमसुख के रस का अनुभव करने के लिए परमसमाधि को धारण कर **परमप्पु णियंति** परमात्मा को देखते हैं, **ते वि तिण्णि वि णवेवि** उन तीनों आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को भी नमस्कार करके मैं **'परमात्मप्रकाश'** का व्याख्यान करता हूँ ॥७॥

अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय से द्रव्यकर्म-नोकर्म से रहित, तथा अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा मतिज्ञानादि विभावगुण और नर-नारकादि चतुर्गति रूप विभाव पर्यायों से रहित जो चिदानन्द एक अखण्ड स्वभाव शुद्धात्म तत्त्व है, वही भूतार्थ है, उसे ही परमार्थरूप समयसार शब्द से अभिहित करना चाहिए। वही आत्मा सवप्रकार से उपादेय है, उससे भिन्न अन्य सभी हेय हैं। चल[1]

---

१. जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोलरूप में परिणत होता है, उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन सभी तीर्थङ्कर या अर्हन्तों में समान अनन्त शक्ति के होने पर भी 'श्री शान्तिनाथ जी शान्ति के लिए और श्री पार्श्वनाथ जी रक्षा करने के लिए' समर्थ हैं, इस तरह नाना विषयों में चलायमान होता है, उसको **चल सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

मलिन[1] और अगाढ़[2] दोषोंसे रहित ऐसी निश्चय श्रद्धानबुद्धि **सम्यक्त्व** है। उसका आचरण यानी उस रूप परिणमन **दर्शनाचार** है, उसी निजस्वरूप में संशय-विपर्यय-अध्यवसान[3] रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप ग्राहक बुद्धि **सम्यग्ज्ञान** है, उसका आचरण-परिणमन **ज्ञानाचार** है; उसी शुद्धस्वरूप में शुभ-अशुभ-सङ्कल्प-विकल्प रहित नित्यानन्दमय सुख रस के आस्वाद का निश्चल अनुभवन **सम्यक्चारित्र** है और उस रूप आचरण-परिणमन **चारित्राचार** है। उसी शुद्धस्वरूप में पर-द्रव्य की इच्छा का निरोध कर सहज आनन्द स्वरूप में प्रतपन **तपश्चरण** है और उसका आचरण परिणमन **तपश्चरणाचार** है। उसी शुद्धात्म स्वरूप मे अपनी शक्ति को प्रकट कर आचरण परिणमन **वीर्याचार** है। ये निश्चय पञ्चाचार हैं। नि शङ्कितादि अष्ट अंग भेदरूप **बाह्य दर्शनाचार** कालविनय आदि आठ भेदवाला **बाह्य ज्ञानाचार,** पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीनगुप्तिमय निर्ग्रन्थरूप **बाह्य चारित्राचार,** अनशनादि बारह भेदरूप **बाह्य तपश्चरणाचार** और बाह्य में अपनी शक्ति को न छिपाते हुए आचरण **बाह्य-वीर्याचार** है। यह व्यवहार पञ्चाचार है जो परम्परा से मोक्ष का साधक है।

विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमय शुद्धात्म तत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तथा परद्रव्य की इच्छानिवृत्ति रूप तपश्चरण और अपनी शक्ति के प्रकटीकरण रूप, निश्चय-अभेद पञ्चाचार मय शुद्धोपयोग की भावना में अन्तर्भूत वीतरागनिर्विकल्प समाधि का जो स्वयं आचरण करते है और दूसरों से भी करवाते है, वे **आचार्य** कहलाते है। मैं उनकी वन्दना करता हूँ। पञ्चास्तिकाय, षट्द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थो मे शुद्धजीवास्तिकाय, शुद्धजीवद्रव्य, शुद्धजीवतत्त्व और शुद्धजीवपदार्थ सज्ञावाला स्व-शुद्धात्मभाव ही ग्रहण करने योग्य है और इससे भिन्न अन्य हेय है, जो ऐसा कहते हैं तथा यह भी कहते है कि शुद्धात्म स्वभाव का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप अभेद रत्नत्र-यात्मक निश्चय मोक्षमार्ग है, वे **उपाध्याय** होते हैं, मैं उन्हे नमस्कार करता हूँ। शुद्ध ज्ञान स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व की समीचीन श्रद्धा, ज्ञान और तपश्चरण रूप अभेद चतुर्विध निश्चय आराधनात्मक वीतरागनिर्विकल्प समाधि को जो साधते है वे **साधु** होते है, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। इसी शुद्धात्म स्वरूप का वे आचरण करते हैं, कथन करते है और वीतरागनिर्विकल्प समाधि को साधते हैं। उसी उपादेयरूप स्वशुद्धात्मतत्त्व की साधक होने से यह वीतरागनिर्विकल्प समाधि ही उपादेय जानो, यह **भावार्थ** है। इसप्रकार प्रभाकर भट्ट के लिए उपदिष्ट पञ्च परमेष्ठियों को नमस्कार करने की मुख्यता मे कथित परमात्मप्रकाश ग्रन्थ के प्रथम महाधिकार मे सात दोहो का कथन पूर्ण हुआ ॥७॥

अथ **प्रभाकरभट्टः** पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिनो नत्वा पुनरिदानीं **श्रीयोगीन्द्र-देवान्** विज्ञापयति—

अब प्रभाकर भट्ट पूर्वोक्त प्रकार से पाँचों परमेष्ठियो को नमस्कार कर गुरु श्री योगीन्दुदेव से विनय करते है —

---

१ जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मलिन कहा जाता है, उसी तरह सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से जिसमे पूर्ण निर्मलता नही है, उसको **मलिन सम्यग्दर्शन** कहते है।

२ जिस तरह वृद्ध पुरुष के हाथ मे ठहरी हुई भी लाठी काँपती है, उसी तरह जिस सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने बनवाए हुए मन्दिरादि मे 'यह मेरा मन्दिर हैं' और दूसरे के बनवाए हुए में 'यह दूसरे का है' ऐसा भ्रम हो उसको **अगाढ़ सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

—गोम्मटसार जीवकाण्ड १/२५ प. खूबचन्द जैन की टीका

३. अनिश्चित तथा विकल्परहित ज्ञान।

भावि पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ।।८।।
भावेन प्रणम्य पञ्चगुरून् श्रीयोगीन्दुजिनः ।
भट्टप्रभाकरेण विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावम् ।।८।।

भावि पणविवि पंचगुरु भावेन भावशुद्ध्या प्रणम्य । कान् । पञ्चगुरून् । पश्चात्किं कृतम् । **सिरिजोइंदुजिणाउ भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ** श्रीयोगीन्दुदेवनामा भगवान् प्रभाकरभट्टेन कर्तृभूतेन विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावं परिणाममिति । अत्र प्रभाकरभट्टः शुद्धात्मतत्त्वपरिज्ञानार्थं श्रीयोगीन्दुदेवं भक्तिप्रकर्षेण विज्ञापितवानित्यर्थः ।।८।।

भावि पंचगुरु पणविधि भावशुद्धिपूर्वक पञ्च परमेष्ठियों को प्रणाम कर भट्ट पहायरि भाउ विमलु करेविणु सिरि-जोइंदु-जिणाउ विण्णविउ प्रभाकर भट्ट आत्मपरिणामों को विमल करके श्री योगीन्दुदेव से निवेदन करते हैं ।।८।। यहाँ प्रभाकर भट्ट शुद्धात्मतत्त्व को जानने के लिए श्री योगीन्दु देव को भक्तिपूर्वक सूचित करते हैं कि—

तद्यथा—

गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु ।
पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ।।९।।
गतः संसारे वसतां स्वामिन् कालः अनन्तः ।
परं मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महत् ।।९।।

गउ संसारि वसंताहं सामिय कालु अणंतु गतः संसारे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन् । कोऽसौ । कालः । कियान् । अनन्तः । **पर मइं किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु** परं किन्तु मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महदिति । इतो विस्तरः । तथाहि—स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावरूपसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखरूपेण क्षारनीरेण पूर्णे अजरामरपदविपरीतजातिजरामरणरूपेण मकरादिजलचरसमूहेन संकीर्णे अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतनानामानसादिदुःखरूपवडवानलशिखासंदीपिताभ्यन्तरे वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविपरीतसंकल्पविकल्पजालरूपेण कल्लोलमालासमूहेन विराजिते संसारसागरे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन्ननन्तकालो गतः । कस्मात् । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यत्वदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनेषु परंपरया दुर्लभेषु । कथंभूतेषु । लब्धेष्वपि तपोभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनाधर्मेषु शुद्धात्म-

भावनालक्षणस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदुर्लभत्वात् । तदपि कथम् । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबोधिप्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति बोधिसमाधिलक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । तथा चोक्तम्—"इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम् ॥" परं किंतु बोधिसमाध्यभावे पूर्वोक्तसंसारे भ्रमतापि मया शुद्धात्मसमाधिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखामृतं किमपि न प्राप्तं किंतु तद्विपरीतमाकुलत्वोत्पादकं विविधशारीरमानसरूपं चतुर्गतिभ्रमणसंभवं दुःखमेव प्राप्तमिति । अत्र यस्य वीतरागपरमानन्दसुखस्यालाभे भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥९॥

सामिय संसारि वसंताहँ अणंतु कालु गउ हे स्वामिन् ! संसार में रहते हुए मेरा अनन्त काल बीत गया **पर मइँ किं पि सुहु ण पत्तु** परन्तु मैंने कुछ भी सुख प्राप्त नहीं किया **महंतु दुक्खु जि पत्तु** महान् भीषण दुःख ही पाया है ॥९॥

अपनी शुद्धात्मभावना से उत्पन्न वीतराग परमानन्द समरसी भावरूप सुखामृत से विपरीत नरकादि दुःखरूप खारे जल से परिपूर्ण, अजर-अमर पद से विपरीत जन्म-जरा-मरण रूपी मगरादि जलचरों से व्याप्त, अनाकुलता रूप निश्चय सुख से विपरीत नाना शारीरिक मानसिक दुःखरूपी वडवानल की लपटों से प्रज्वलित, वीतराग निर्विकल्प समाधि से रहित, सङ्कल्प-विकल्पों के जालरूपी तरङ्गसमूहों से शोभित इस संसार रूपी सागर में रहते हुए मुझे हे स्वामिन् ! अनन्त काल बीत चुका। कैसे ? इस संसार में एकेन्द्रिय से विकलत्रय पर्याय पाना कठिन है, उससे पञ्चेन्द्रिय संज्ञी, पर्याप्तियों की पूर्णता पाना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य होना अत्यन्त दुर्लभ है, उसमें आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, सुन्दररूप, इन्द्रियों की पटुता, दीर्घायु, नीरोगशरीर, उत्तमबुद्धि, सद्धर्म का श्रवण, ग्रहण और धारण श्रद्धान, संयम, विषयसुखों से निवृत्ति क्रोधादि कषायों का अभाव होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। शुद्धात्मभावना और तपोभावना के प्राप्त होने पर भी वीतरागनिर्विकल्पसमाधि का होना बहुत दुलभ है। क्योंकि वीतरागनिर्विकल्पसमाधि बोधि के विरोधी जो मिथ्यात्व-विषय-कषायादिविभाव परिणाम हैं, उनकी प्रबलता है। अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। इनकी उपलब्धि ही बोधि है और निर्विघ्नतया इनका धारण ही समाधि है। यथासम्भव बोधि-समाधि का यही लक्षण सर्वत्र जानना चाहिए। कहा भी है—"इस अतिदुर्लभ बोधि को पाकर भी जो मनुष्य प्रमादी बना रहता है, वह दरिद्र बेचारा, संसाररूपी भयङ्करवन में बहुत काल तक घूमता रहता है।" इस बोधि-समाधि का अभाव होने के कारण संसार-सागर में भटकते हुए मैंने शुद्धात्मसमाधि से उत्पन्न होने वाला वीतरागपरमानन्द सुखामृत किञ्चित् भी प्राप्त नहीं किया, अपितु, इसके विपरीत आकुलता उत्पादक आधि-व्याधिरूप दुःख ही चारों गतियों में भटकते हुए प्राप्त किया है। भावार्थ यह है कि जिस वीतरागपरमानन्द सुख के अभाव में यह जीव भटक रहा है, वही सुख इसके लिए उपादेय है ॥९॥

अथ यस्यैव परमात्मस्वभावस्यालाभेऽनादिकाले भ्रमितो जीवस्तमेव पृच्छति—

अब, जिस परमात्मस्वभाव को उपलब्ध न होने पर यह जीव अनादिकाल से भटक रहा है, उसी के सम्बन्ध में (प्रभाकर भट्ट) पूछते हैं—

चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ ।
चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ।।१०।।

चतुर्गतिदु:खै: तप्तानां य: परमात्मा कश्चित् ।
चतुर्गतिदु:खविनाशकर: कथय प्रसादेन तमपि ।।१०।।

चउगइदुक्खहं तत्ताहं जो परमप्पउ कोइ चतुर्गतिदु:खतप्तानां जीवानां य: कश्चिच्चिदानन्दैकस्वभाव: परमात्मा । पुनरपि कथंभूत: । **चउगइदुक्खविणासयरु** आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञारूपादिसमस्तविभावरहितानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन परमात्मोत्थसहजानन्दैकसुखामृतसंतुष्टानां चतुर्गतिदु:खविनाशक: **कहहु पसाएं सो वि** हे भगवन् तमेव परमात्मानं महाप्रसादेन कथयेति । अत्र योऽसौ परमसमाधिरतानां चतुर्गतिदु:खविनाशक: स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थ: ।।१०।। एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये **प्रभाकरभट्टविज्ञप्तिकथनमुख्यत्वेन** दोहकसूत्रत्रयं गतम् ।

चउ-गइ-दुक्खहं चारों गतियों के दु:खों से **तत्ताहं** सन्तप्त जीवों के **चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु** चतुर्गतिरूप दु:खों का विनाश करने वाला **जो कोइ परमप्पउ** जो कोई परमात्मा है **सो वि पसाएँ कहहु** उसको कृपा करके आप कहिए ।

जो आहार-भय-मैथुन-परिग्रह संज्ञादि समस्त विभावो से रहित तथा वीतराग निर्विकल्पसमाधि के वल से स्वभावोत्पन्न सहजानन्द सुखामृत से सन्तुष्ट जीवों के चतुर्गतिभ्रमणरूप दु:ख का नाशक है हे भगवन् ! आप कृपा कर उस परमात्मा का स्वरूप मुझे कहिए । जो परमात्मा परमसमाधि में लीन, जीवों के चारों गतियों के दु:ख का विनाशक है । वही सव प्रकार से उपादेय है, यह **भावार्थ** है । इसप्रकार त्रिविध आत्मा का प्रतिपादन करने वाले प्रथम महाधिकार मे प्रभाकरभट्ट के कथन की मुख्यता से तीन दोहे पूर्ण हुए ।।१०।।

अथ **प्रभाकरभट्ट**विज्ञापनानन्तरं श्रीयोगीन्द्रदेवास्त्रिविधात्मानं कथयन्ति—

अव प्रभाकरभट्ट की विनती के वाद श्रीयोगीन्दुदेव त्रिविध आत्मा का व्याख्यान करते है ।

पुणु पुणु पणविवि पंच-गुरु भावें चित्ति धरेवि ।
भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि (विँ ?) ।।११।।

पुन: पुन. प्रणम्य पञ्चगुरून् भावेन चित्ते धृत्वा ।
भट्टप्रभाकर निश्रृणु त्वम् आत्मानं त्रिविध कथयामि ।।११।।

पुणु पुणु पणविवि पंचगुरु भावें चित्ति धरेवि पुन: पुन. प्रणम्य पञ्चगुरूनहम् । किं कृत्वा । भावेन भक्तिपरिणामेन मनसि धृत्वा पश्चात् **भट्टपहायर णिसुणि तुहुं अप्पा तिविहु कहेवि** हे प्रभाकरभट्ट ! निश्चयेन शृणु त्वं त्रिविधमात्मान कथयाम्यहमिति ।

वहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिविधात्मा भवति । अयं त्रिविधात्मा यथा त्वया पृष्टो हे प्रभाकरभट्ट तथा भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रिया: परमात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुधारसपिपासिता वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतविपरीतनारकादिदु:खभयभीता भव्यवरपुण्डरीका भरत-सगर-राम-पाण्डव-श्रेणिकादयोऽपि वीतरागसर्वज्ञतीर्थंकरपरमदेवानां समवसरणे सपरिवारा भक्तिभरनमितोत्तमाङ्गाः सन्तः सर्वागमप्रश्नानन्तरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छन्तीति । अत्र त्रिविधात्मस्वरूपमध्ये शुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥११॥

पुणुपुणु पंचगुरु पणविवि वार-वार पञ्चपरमेष्ठियों को प्रणाम कर **भावें चित्ति धरेवि** और निर्मल भावों को चित्त में धारण कर **तिविहु अप्पा कहेवि** मैं तीन प्रकार के आत्मा का कथन करता हूँ, **भट्टपहायर तुहुँ णिसुणि** हे प्रभाकरभट्ट ! तू उसे सुन ।

वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा तीन प्रकार का है । यह त्रिविधात्मा जैसा तेरे द्वारा पूछा गया है हे प्रभाकरभट्ट ! उसी प्रकार से पहले भेदाभेदरत्नत्रय की भावना जिनको प्रिय थी, परमात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परमानन्दामृत के जो पिपासु थे, वीतराग निर्विकल्पसमाधि से उत्पन्न सुखामृत से विपरीत नरकादिदु:खों से जो भयभीत थे, ऐसे भव्यों में श्रेष्ठ भरत-सगर-राम-पाण्डव-श्रेणिक आदि ने भी वीतराग सर्वज्ञ तीर्थङ्कर परमदेव के समवसरण में सपरिवार आकर भक्तिभाव से नतमस्तक होकर सर्व आगमों के प्रश्नों के बाद सब प्रकार से उपादेय शुद्धात्मा का ही स्वरूप पूछा था । तीन प्रकार के आत्मा के स्वरूप में शुद्धात्मस्वरूप ही उपादेय है, यह भावार्थ है ॥११॥

अथ त्रिविधात्मानं ज्ञात्वा वहिरात्मानं विहाय स्वसंवेदनज्ञानेन परं परमात्मानं भावय त्वमिति प्रतिपादयति—

आगे कहते हैं कि तू आत्मा को तीन प्रकार का जानकर वहिरात्मपने को छोड़कर स्वसंवेदनज्ञान के बल से उत्कृष्ट परमात्मा की भावना कर—

अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ ।
मुणि सण्णाणें णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ॥१२॥

आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु मूढं मुञ्च भावम् ।
मन्यस्व स्वज्ञानेन ज्ञानमयं यः परमात्मस्वभावः ॥१२॥

अप्पा तिविहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ हे प्रभाकरभट्ट आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु शीघ्रं मूढं वहिरात्मस्वरूपं भावं परिणामं मुञ्च । **मुणि सण्णाणें णाणमउ जो परमप्पसहाउ** पश्चात् त्रिविधात्मपरिज्ञानानन्तरं मन्यस्व जानीहि । केन करणभूतेन । अन्तरात्मलक्षणवीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन । कं जानीहि । यं परमात्मस्वभावम् ।

किंविशिष्टम् । ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तमिति । अत्र योऽसौ स्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मा ज्ञातः स एवोपादेय इति भावार्थः । स्वसंवेदनज्ञाने वीतरागविशेषणं किमर्थमिति पूर्वपक्षः, परिहारमाह—विषयानुभवरूपस्वसंवेदनज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थमित्यभिप्रायः ।।१२।।

अप्पा ति-विहु मुणेवि आत्मा को तीन प्रकार का जानकर **मूढउ भाउ लहु मेल्लहि** बहिरात्म भाव को शीघ्र छोड़ और **जो णाणमउ परमप्पसहाउ सण्णाणे मुणि** जो ज्ञान से परिपूर्ण परमात्मस्वभाव है उसे स्वसंवेदनज्ञान के बल से अन्तरात्मा होकर जान। यहाँ जो स्वसंवेदनज्ञान से परमात्मा जाना गया है वही उपादेय है, यह भावार्थ हुआ। स्वसंवेदनज्ञान में वीतराग विशेषण क्यों कहा, शिष्य के ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य उसका परिहार करते हुए कहते हैं कि विषयानुभवरूप स्वसंवेदनज्ञान सराग भी होता है, उसका निषेध करने के लिए ऐसा कहा है ।।१२।।

अथ त्रिविधात्मसंज्ञां बहिरात्मलक्षणं च कथयति—

अब त्रिविधात्मा में पहले बहिरात्मा का लक्षण कहते हैं—

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा ति-विहु हवेइ ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ।।१३।।

मूढो विचक्षणो ब्रह्मा परः आत्मा त्रिविधो भवति ।
देहमेव आत्मानं यो मनुते स जनो मूढो भवति ।।१३।।

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ मूढो मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा, विचक्षणो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतोऽन्तरात्मा, ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा । शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं कथ्यते—शुद्धो रागादिरहितो बुद्धोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित इति शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । स च कथंभूतः ब्रह्मा । परमो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः । एवमात्मा त्रिविधो भवति । **देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ** वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसंजातसदानन्दैकसुखामृतस्वभावमलभमानः सन् देहमेवात्मानं यो मनुते जानाति स जनो लोको मूढात्मा भवति इति । अत्र बहिरात्मा हेयस्तदपेक्षया यद्यप्यन्तरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स हेय इति तात्पर्यार्थः ।।१३।।

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ मूर्ख बहिरात्मा, विचक्षण अन्तरात्मा और शुद्धबुद्ध स्वभाव परमात्मा, इस प्रकार आत्मा तीन प्रकार का है। **जो देहु जि अप्पा मुणइ सो जणु मूढु हवेइ** जो देह को ही आत्मा मानता है वह मनुष्य मूर्ख बहिरात्मा है।

मूढ यानी मिथ्यात्वरागादि से परिणत बहिरात्मा, विचक्षण यानी वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से परिणत अन्तरात्मा और ब्रह्मा यानी शुद्धबुद्ध स्वभाव वाला परमात्मा—आत्मा के

ये तीन प्रकार है। शुद्धबुद्ध स्वभाव का लक्षण है—शुद्ध यानी रागादि रहित, बुद्ध यानी अनन्त-ज्ञानादि चतुष्टय सहित और वह ब्रह्मा कैसा है ? भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से सर्वथा रहित है। वीतराग निर्विकल्प समाधि से समुत्पन्न परमानन्द सुखामृतस्वभाव को प्राप्त न करते हुए जो देह को ही आत्मा मानता है, जानता है वह मनुष्य अज्ञानी बहिरात्मा होता हैं। इनमें से वहिरात्मा तो हेय है, छोडने योग्य है, इसकी अपेक्षा अन्तरात्मा उपादेय है तथापि सर्वप्रकार से उपादेयभूत परमात्मा की अपेक्षा वह अन्तरात्मा भी हेय है, यह भावार्थ जानना ॥१३॥

अथ परमसमाधिस्थितः सन् देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं योऽसौ जानाति सोऽन्तरात्मा भवतीति निरूपयति—

अब, परम समाधि में स्थित होते हुए देह से भिन्न ज्ञानमय परमात्मा को जो जानता है, वह अन्तरात्मा होता है, सो कहते हैं—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ ।
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥

देहविभिन्नं ज्ञानमयं यः परमात्मानं पश्यति ।
परमसमाधिपरिस्थितः पण्डितः स एव भवति ॥१४॥

देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहादभिन्नं निश्चयनयेन भिन्नं ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तं परमात्मानं योऽसौ जानाति **परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ** वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकशुद्धात्मानुभूति-लक्षणपरमसमाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति । "कः पण्डितो विवेकी" इति वचनात्, इति अन्तरात्मा हेयरूपो, योऽसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥१४॥

जो परमप्पु देह विभिण्णउ णाणमउ णिएइ जो परमात्मा को शरीर से भिन्न ज्ञानमय जानता है **सो जि परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ हवेइ** वही परमसमाधि में ठहरते हुए पण्डित विवेकी अन्तरात्मा होता है। अनुपचरित-असद्भुत-व्यवहार नय की अपेक्षा देहादि से भिन्न और निश्चय नय की अपेक्षा ज्ञानमय, केवलज्ञान से परिपूर्ण परमात्मा को जो जानता है तथा वीतराग-निर्विकल्प सहजानन्द शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप परमसमाधि में स्थित होता हुआ जानता है, वही पण्डित अन्तरात्मा विवेकी होता है। यह अन्तरात्मा भी हेय रूप है, उपादेय तो साक्षात् परमात्मा ही है, यह भावार्थ है ॥१४॥

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्धः स परमात्मा भवतीति कथयति—

अब, समस्त पर-द्रव्यों को छोड़कर जिसने केवलज्ञानमय कर्मरहित शुद्धात्मा को प्राप्त कर लिया, वही परमात्मा होता है, सो कहते हैं—

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ।।१५।।

आत्मा लब्धो ज्ञानमय: कर्मविमुक्तेन येन ।
मुक्त्वा सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ।।१५।।

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्कें जेण आत्मा लब्ध: प्राप्त: । किंविशिष्ट: । ज्ञानमय: केवलज्ञानेन निर्वृत्त: । कथंभूतेन सता । ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावकर्मरहितेन येन । किं कृत्वात्मा लब्ध: । **मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ।** मुक्त्वा परित्यज्य । किम् । परं द्रव्यं देहरागादिकम् । सकलं कतिसंख्योपेतं समस्तमपि । तमित्थंभूतमात्मानं परं परमात्मानमिति मन्यस्व जानीहि हे **प्रभाकरभट्ट** । केन कृत्वा । मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयस्वरूपादिसमस्तविभावपरिणामरहितेन मनसेति । अत्रोक्त-लक्षणपरमात्मा उपादेयो ज्ञानावरणादिसमस्तविभावरूपं परद्रव्यं तु हेयमिति भावार्थ: ।।१५।। एवंविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये संक्षेपेण त्रिविधात्मसूचनमुख्यतया सूत्रपञ्चकं गतम् । तदनन्तरं मुक्तिगतकेवलज्ञानादिव्यक्तिरूपसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं प्रारभ्यते । तद्यथा ।

जेण कम्मविमुक्के सयलु वि परु दव्वु मेल्लिवि णाणमउ अप्पा लद्धउ सो परु मणेण मुणहि जिसने कर्मों का नाश करके और सकल पर-द्रव्यो का परित्याग करके ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त किया है, उसे शुद्धमन से परमात्मा जानो । हे प्रभाकर भट्ट ! जिसने पर द्रव्य को छोड़कर और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म से रहित होकर आत्मोपलब्धि कर ली है ऐसी आत्मा को तू माया मिथ्या निदान रूप त्रिशल्य एवं समस्त विकारी परिणामों से रहित निर्मल चित्त से परमात्मा जान । यह उक्त लक्षणवाला परमात्मा ही उपादेय है, ज्ञानावरणादि समस्त विभावरूप परद्रव्य हेय है, यह **भावार्थ** है ।।१५।।

इसप्रकार त्रिविधात्मा का प्रतिपादन करने वाले प्रथम अधिकार में संक्षेप से पाँच दोहासूत्रों का कथन किया । अब मुक्त हुए, केवलज्ञानादि प्राप्त सिद्ध जीवो के व्याख्यान की मुख्यता से दस दोहासूत्र प्रारम्भ करते हैं ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा हरिहरादिविशिष्टपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानी-हीति प्रतिपादयति—

हरिहरादिक विशिष्ट पुरुष मन की स्थिरतापूर्वक जिसका ध्यान करते हैं, उसी परमात्मा का तू भी ध्यान कर सो कहते हैं —

तिहुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर झायहिँ जो जि ।
लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु मुणि परमप्पउ सो जि ।।१६।।

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव ।
लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्थिरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥१६॥

तिहुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर झायहिं जो जि त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं यं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं परमात्मानं हरिहरहिरण्यगर्भादयो ध्यायन्ति । किं कृत्वा पूर्वम् । **लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु** लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तम् । अलक्ष्येण वीतरागनिर्विकल्पनित्यानन्दैकस्वभावपरमात्मरूपेण धृत्वा । कथंभूतम् । स्थिरं परीषहोपसर्गैरक्षुभितं **मुणि परमप्पउ सो जि** तमित्थंभूतं परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि भावयेत्यर्थः । अत्र केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपमुक्तिगतपरमात्मसदृशो रागादिरहितः स्वशुद्धात्मा साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥१६॥ संकल्पविकल्पस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा—**बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिचित्तगतो हर्षविषादादिपरिणामो विकल्प इति ।** एवं संकल्पविकल्पलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

हरिहर तिहुयण वंदिउ सिद्धिगउ जो जि झायहि इन्द्र, नारायण और रुद्र आदि त्रिभुवनवन्दनीय, सिद्धपने को प्राप्त जिस परमात्मा का ध्यान करते हैं **लक्खु अलक्खे थिरु धरिवि सो जि परमप्पउ मुणि** अपने मन को उसी परमात्मा में स्थिर करके उसे ही परमात्मा मानकर चिन्तन कर । हे प्रभाकर भट्ट ! केवलज्ञानादि व्यक्तरूप, मुक्तिगत परमात्मा के समान रागादिरहित स्वशुद्ध आत्मा ही साक्षात् उपादेय है ॥१६॥ सङ्कल्प विकल्प का स्वरूप कहते हैं—बाह्य वस्तुओं में—पुत्रकलत्रादि सचेतन पदार्थों में और सोना चांदी आदि अचेतन पदार्थों में—'ये मेरे हैं' ऐसे, ममत्वरूप परिणाम को सङ्कल्प कहते हैं । 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि चित्तगत हर्ष विषाद के परिणामों को **विकल्प** कहते हैं । सर्वत्र सङ्कल्प-विकल्प का यही लक्षण जानना चाहिए ।

अथ नित्यनिरञ्जनज्ञानमयपरमानन्दस्वभावशान्तशिवस्वरूपं दर्शयन्नाह—

अब, नित्य निरंजनज्ञानमय परमानन्द स्वभाव शान्त शिवस्वरूप का कथन करते हैं—

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥१७॥

नित्यो निरंजनो ज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।
य ईदृशः स शान्तः शिवः तस्य मन्यस्व भावम् ॥१७॥

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ द्रव्यार्थिकनयेन नित्योऽविनश्वरः, रागादिकर्ममलरूपाञ्जनरहितत्वान्निरञ्जनः, केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः, शुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागानन्दपरिणतत्वात्परमानन्दस्वभावः **जो एहउ सो संतु सिउ** य इत्थंभूतः स शान्तः शिवो भवति हे प्रभाकरभट्ट **तासु मुणिज्जहि भाउ** तस्य वीतरागत्वात् शान्त-

स्य परमानन्दसुखमयत्वात् शिवस्वरूपस्य त्वं जानीहि भावय । कं भावय । शुद्धबुद्धैक-स्वभावमित्यभिप्रायः ।।१७।।

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद सहाउ नित्य अविनश्वर, रागादि कर्ममल रूप अंजन से रहित, केवलज्ञान से परिपूर्ण, परमानन्द स्वभाव स्वरूप **जो एहउ सो संतु सिउ, तासु भाउ मुणिज्जहि,** जो ऐसा है वही शान्तरूप और शिवरूप है, उसी के स्वभाव का तू ध्यान कर। हे प्रभाकर भट्ट ! शुद्धशुद्ध स्वभाव का ही ध्यान कर ।।१७।।

पुनश्च किंविशिष्टो भवति—
वह परमात्मा और कैसा होता है, सो कहते हैं—

जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ।।१८।।

यो निजभावं न परिहरति यः परभावं न लाति ।
जानाति सकलमपि नित्यं परं स शिवः शान्तो भवति ।।१८।।

यः कर्ता निजभावमनन्तज्ञानादिस्वभावं न परिहरति यश्च परभावं कामक्रोधादि-रूपमात्मरूपतया न गृह्णाति । पुनरपि कथंभूतः । जानाति सर्वमपि जगत्त्रयकालत्रय-वर्तिवस्तुस्वभावं न केवलं जानाति द्रव्यार्थिकनयेन नित्य एव अथवा नित्यं सर्वकालमेव जानाति परं नियमेन । स इत्थंभूतः शिवो भवति शान्तश्च भवतीति । किं च अयमेव जीवः मुक्तावस्थायां व्यक्तिरूपेण शान्तः शिवसंज्ञां लभते, संसारावस्थायां तु शुद्धद्रव्या-र्थिकनयेन शक्तिरूपेणेति । तथा चोक्तम्—**"परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोऽस्तु"** । पुनश्चोक्तम्—**"शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम् । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ।।"** अन्यः कोऽप्येको जगत्कर्ता व्यापी सदा मुक्तः शान्तः शिवोऽस्तीत्येवं न । अत्रायमेव शान्तशिवसंज्ञः शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ।।१८।।

जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो अपने भावों को नहीं छोड़ता है, **जो पर-भाउ ण लेइ** जो परभावों को ग्रहण नहीं करता है, **सयलु वि पर णिच्चु जाणइ, सो सिउ संतु हवेइ** सकल यानी सम्पूर्ण लोक को मात्र नित्य जानता है, वही शिवस्वरूप तथा शान्तस्वरूप है । जो अनन्तज्ञानादिरूप अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता है और परभाव कामक्रोधादि को आत्मरूप से ग्रहण नहीं करता है । और कैसा है ? तीन लोक और तीनकालवर्ती सभी पदार्थों को नित्य जानता है अथवा द्रव्यार्थिक नय से पदार्थ नित्य है ऐसा जानता है, वह ऐसा परमात्मा शिवस्वरूप और शान्तस्वरूप होता है । अथवा यही जीव मुक्तावस्था मे व्यक्त रूप से शान्त और शिव सज्ञा को प्राप्त करता है । संसारावस्था में तो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शक्ति रूप से परमात्मा है अन्यत्र कहा भी है—"परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोऽस्तु" । और भी कहा है—"परमकल्याण रूप, निर्वाणरूप, शान्त, अविनाशी ऐसे मुक्तिपद को जिसने प्राप्त कर लिया है, वही शिव कहा जाता

है।" अन्य कोई एक जगत्कर्ता, सर्वव्यापक, सदामुक्त, शान्त शिव (नैयायिक वैशेषिक मान्यता का) नहीं है। शान्त, शिव संज्ञा वाला एक शुद्धात्मा ही उपादेय है—यह भावार्थ है ॥१८॥

अथ पूर्वोक्तं निरञ्जनस्वरूपं सूत्रत्रयेण व्यक्तीकरोति—

अब, पूर्वकथित निरंजनस्वरूप को तीन दोहा सूत्रों से प्रकट करते हैं—

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥१९॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥२०॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥२१॥तियलं।

यस्य न वर्णो न गन्धो रसः यस्य न शब्दो न स्पर्शः।
यस्य न जन्म मरणं नापि नाम निरञ्जनस्तस्य ॥१९॥
यस्य न क्रोधो न मोहो मदः यस्य न माया न मानः।
यस्य न स्थानं न ध्यानं जीव तमेव निरञ्जनं जानीहि ॥२०॥
अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य अस्ति न हर्षो विषादः।
अस्ति न एकोऽपि दोषो यस्य स एव निरञ्जनो भावः ॥२१॥त्रिकलम्॥

यस्य मुक्तात्मनः शुक्लकृष्णरक्तपीतनीलरूपपञ्चप्रकारवर्णो नास्ति, सुरभिदुरभिरूपो द्विप्रकारो गन्धो नास्ति, कटुकतीक्ष्णमधुराम्लकषायरूपः पञ्चप्रकारो रसो नास्ति, भाषात्मकाभाषात्मकादिभेदभिन्नः शब्दो नास्ति, शीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुमृदुकठिनरूपोऽष्टप्रकारः स्पर्शो नास्ति, पुनश्च यस्य जन्म मरणमपि नैवास्ति तस्य चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो निरञ्जनसंज्ञा लभते ॥ पुनश्च किंरूपः स निरञ्जनः। यस्य न विद्यते। किं किं न विद्यते। क्रोधो मोहो विज्ञानाद्यष्टविधमदभेदो यस्यैव मायामानकषायो यस्यैव नाभिहृदयललाटादिध्यानस्थानानि चित्तनिरोधलक्षणध्यानमपि यस्य न तमित्थंभूतं स्वशुद्धात्मानं हे जीव निरञ्जनं जानीहि। ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूत भोगाकांक्षारूपसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः ॥ पुनरपि किंस्वभावः स निरञ्जनः। यस्यास्ति न। किं किं नास्ति। द्रव्यभावरूपं पुण्यं पापं च ॥ पुनरपि किं नास्ति। रागरूपो हर्षो द्वेषरूपो विषादश्च। पुनश्च। नास्ति क्षुधाद्यष्टादशदोषेषु मध्ये चैकोऽपि दोषः। स एव शुद्धात्मा निरञ्जनः इति हे प्रभाकरभट्ट त्वं जानीहि। स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ-

स्थित्वानुभवेत्यर्थ: । किं च । एवंभूतसूत्रत्रयव्याख्यातलक्षणो निरञ्जनो ज्ञातव्यो न चान्य: कोऽपि निरञ्जनोऽस्ति परकल्पित: । अत्र सूत्रत्रयेऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ निरञ्जनो व्याख्यात: स एवोपादेय इति भावार्थ. ।।१९-२१।।

जासु वण्णु ण, गंधु रसु ण, जासु सद्दु ण, फासु ण । जासु जम्मणु ण, मरणु वि ण, तासु णाउ णिरंजणु ।।१९।। जासु कोहु ण, मोहुमउ ण, जासु माय ण माणु ण, जासु ठाणु ण, जिय झाणु ण, सो जि णिरंजणु जाणु ।।२०।। जसु पुण्णु ण पाउ ण अत्थि, हरिसु विसाउ ण अत्थि, जसु एक्कु वि दोसु ण अत्थि, सो जि णिरंजणु भाउ ।।२१।। जिस मुक्तात्मा के शुक्ल, कृष्ण, रक्त, पीत, नील रूप पांच प्रकार का रंग नहीं है; सुगन्ध, दुर्गन्ध रूप दो प्रकार की गन्ध नहीं है; कटुक तीक्ष्ण, मधुर, अम्ल और कसायले रूप पाँच प्रकार का रस नहीं है; भाषात्मक-अभाषात्मक आदि शब्द नहीं हैं; शीत-उष्ण, कोमल-रूक्ष, हल्का-भारी, कोमल, कठोर रूप आठ प्रकार का स्पर्श नहीं है; और जिसके जन्म-मरण भी नहीं हैं, उस चिदानन्द शुद्ध स्वभाव परमात्मा की निरञ्जन संज्ञा है ।।१९।। और किसरूप है वह निरञ्जन ? जिसके क्रोध नहीं है; मोह नहीं है; ज्ञान, जाति, कुल, पूजा, बल, ऋद्धि, तप और शरीरसौन्दर्य रूप आठ प्रकार का मद नहीं है, जिसके माया और मान कषाय नहीं है, जिसके नाभि, हृदय, ललाट आदि ध्यान के स्थान नहीं हैं और चित्त को रोकने रूप ध्यान भी नहीं है, ऐसे स्वशुद्धात्मा को हे जीव ! तू निरञ्जन जान । ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने और भोगे हुए भोगों की आकांक्षा रूप समस्त विभाव परिणामो को तज कर अपने शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप निर्विकल्प समाधि मे ठहर कर उस शुद्धात्मा की अनुभूति कर ।।२०।। और किस स्वभाव वाला है वह निरञ्जन ? जिसके द्रव्यभावरूप पुण्य-पाप नहीं है, रागरूप हर्ष और द्वेषरूप विषाद नहीं है । क्षुधादि अठारह दोषों में से एक भी दोष नहीं है । वही शुद्धात्मा निरंजन है ऐसा हे प्रभाकर भट्ट ! तू जान तथा निज शुद्धात्मा के अनुभव लक्षण रूप वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अनुभव कर । इस प्रकार तीन दोहों में जिसका लक्षण कहा गया है उसे ही निरंजन जानना चाहिए, अन्य कोई परकल्पित निरंजन नहीं है । इन तीन दोहो में विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला जो निरंजन कहा गया है, वही उपादेय है । यह भावार्थ है ।।२१।।

अथ धारणाध्येययन्त्रमन्त्रमण्डलमुद्रादिकं व्यवहारध्यानविषयं मन्त्रवादशास्त्रकथितं यत्तन्निर्दोषपरमात्माराधनाध्याने निषेधयन्ति—

अब धारणा, ध्येय, यंत्र, मंत्र, मण्डल, मुद्रा आदिक व्यवहारध्यान के विषय जो मन्त्रवाद शास्त्र में कहे गए हैं, निर्दोष परमात्मा के आराधना-ध्यान में उनका निषेध करते हैं--

जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु ।
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउँ अणंतु ।।२२।।

यस्य न धारणा ध्येय नापि यस्य न यन्त्रं न मन्त्र: ।
यस्य न मण्डल मुद्रा नापि तं मन्यस्व देवमनन्तम् ।।२२।।

यस्य परमात्मनो नास्ति न विद्यते । किं किम् । कुम्भकरेचकपूरकसंज्ञावायुधारणादिकप्रतिमादिकं ध्येयमिति । पुनरपि किं तस्य । अक्षररचनाविन्यासरूपस्तम्भन-

मोहनादिविषयं यन्त्रस्वरूपं विविधाक्षरोच्चारणरूपं मन्त्रस्वरूपं च अप्मण्डलवायुमण्डल-पृथ्वीमण्डलादिकं गारुडमुद्राज्ञानमुद्रादिकं च यस्य नास्ति तं परमात्मानं देवमाराध्यं द्रव्यार्थिकनयेनानन्तमविनश्वरमनन्तज्ञानादिगुणस्वभावं च मन्यस्व जानीहि। अतीन्द्रियसुखास्वादविपरीतस्य जिह्वेन्द्रियविषयस्य निर्मोहशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलस्य मोहस्य वीतरागसहजानन्दपरमसमरसीभावसुखरसानुभवप्रतिपक्षस्य नवप्रकाराब्रह्मव्रतस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधिघातस्य मनोगतसंकल्पविकल्पजालस्य च विजयं कृत्वा **हे प्रभाकरभट्ट** शुद्धात्मानमनुभवेत्यर्थः। तथा चोक्तम्—**"अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभं च। गुत्तीणं मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति॥"** ॥२२॥

जासु ण धारणु, धेउ ण वि, जासु जंतु ण, मंतु ण, जासु मंडलु ण, मुद्द ण वि, सो अणंतु देउँ मुणि ॥२२॥ जिस परमात्मा के कुम्भक, रेचक, पूरक संज्ञावाली वायु धारणादिक नहीं है, प्रतिमादिक ध्येय भी नहीं है, अक्षरों की रचना रूप स्तम्भन, मोहनादि विषयक यंत्र नहीं हैं, विविध अक्षरों के उच्चारणरूप मंत्र भी नहीं हैं, जिसके जल-वायु-पृथ्वीमण्डल-आदि भेद नही है और जिसके गारुडमुद्रा, ज्ञानमुद्रा आदि मुद्रा भी नही है, द्रव्यार्थिक नय से जो अविनाशी, अनन्त, ज्ञानादि गुणरूप है, उसे ही परमात्मदेव समझो। अतीन्द्रिय सुख के आस्वाद से विपरीत, जिह्वेन्द्रिय के विषय को जीतकर निर्मोह शुद्ध स्वभाव मे विपरीत मोह का त्याग कर, वीतराग सहज आनन्द परम समरसी भाव सुखरूपी रस के अनुभव का शत्रु जो नौ प्रकार का कुशील है उसको तथा वीतरागनिर्विकल्प समाधि के घातक मन के संकल्प विकल्पों को जीतकर हे प्रभाकरभट्ट! तू शुद्धात्मा का अनुभव कर। कहा भी है—"इन्द्रियों में जिह्वा इन्द्रिय, कर्मो में मोहनीय, व्रतों में ब्रह्मचर्य और गुप्तियों में मनोगुप्ति—ये चार बाते कठिनाई से सिद्ध होती हैं" ॥२२॥

अथ वेदशास्त्रेन्द्रियादिपरद्रव्यालम्बनाविषयं च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविषयं च परमात्मानं प्रतिपादयन्ति—

अब वेद, शास्त्र और इन्द्रियादि परद्रव्यों के अगोचर और वीतरागनिर्विकल्पसमाधि के गोचर परमात्मा का कथन करते हैं—

वेयहिँ सत्थहिँ इंदियहिँ जो जिय मुणहु ण जाइ।
णिम्मल-झाणहँ जो विसउ सो परमप्पु अणाइ॥२३॥

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मन्तुं न याति।
निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादिः॥२३॥

वेदशास्त्रेन्द्रियैः कृत्वा योऽसौ मन्तुं ज्ञातुं न याति। पुनश्च कथंभूतो यः। मिथ्याविरतिप्रमादकषाययोगाभिधानपञ्चप्रत्ययरहितस्य निर्मलस्य स्वशुद्धात्मसंवित्तिसंजातनित्यानन्दैकसुखामृतास्वादपरिणतस्य ध्यानस्य विषयः। पुनरपि कथंभूतो यः।

अनादिः स परमात्मा भवतीति हे जीव जानीहि । तथा चोक्तम्—"**अन्यथा वेदपाण्डित्यं शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा । अन्यथा परमं तत्त्वं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा ।।**"[1] अत्रार्थभूत एवं शुद्धात्मोपादेयो अन्यद्धेयमिति भावार्थः ।।२३।।

वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं जो जिय मुणहु ण जाइ, जो णिम्मल-झाणहं विसउ, सो परमप्पु अणाइ ।।२३।। वेद, शास्त्र और इन्द्रियों से भी जो शुद्धात्मा जाना नहीं जाता। और कैसा है यह ? मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच आस्रवों से रहित, निर्मल निज शुद्धात्मा के अनुभव में उत्पन्न नित्यानन्द सुखामृत के आस्वादरूप परिणत ध्यान का विषय है। और कैसा है यह ? अनादि है, हे जीव तू इसे ही परमात्मा जान। कहा भी है—"वेद का पाण्डित्य और शास्त्र का पाण्डित्य तो कुछ और ही है और वह परम तत्त्व कुछ और ही है। ये लोक अन्यथा ही क्लेश कर रहे हैं।" भावार्थ यह है कि अर्थरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब हेय है ।।२३।।

अथ योऽसौ वेदादिविषयो न भवति परमात्मा समाधिविषयो भवति पुनरपि तस्यैव स्वरूपं व्यक्तं करोति—

अब, जो यह परमात्मा वेदादिगम्य नहीं है केवल समाधिगम्य है, उसी का स्वरूप फिर कहते हैं--

केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख-सहाउ ।
केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ।।२४।।

केवलदर्शनज्ञानमयः केवलसुखस्वभावः ।
केवलवीर्यस्तं मन्यस्व य एव परापरो भावः ।।२४।।

केवलोऽसहायः ज्ञानदर्शनाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः केवलानन्दसुखस्वभावः केवलानन्तवीर्यस्वभाव इति यस्तमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पुनश्च कथंभूतः य एव । यः परापरः परेभ्योऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः पर उत्कृष्टो मुक्तिगतः शुद्धात्मा भावः पदार्थः स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ।।२४।।

जो केवल-दंसण-णाणमउ, केवल-सुक्ख-सहाउ, केवल वीरिउ, सो जि परावरुभाउ मुणहि ।।२४।। जो केवल यानी पराश्रय रहित ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण है, केवल दर्शनज्ञानमय है, केवल सुखस्वभाव वाला है, केवल अनन्तवीर्य स्वभाव वाला है, ऐसा जो है उसे ही परमात्मा मानो, जानो। और कैसा है वह ? जो उत्कृष्ट अर्हन्त परमेष्ठी से भी अधिक उत्कृष्ट है, मुक्तिगत शुद्धात्मा है, वही शुद्धात्मा सर्वप्रकार से उपादेय है यह भावार्थ है ।।२४।।

---

१. अन्यथा लोकपाण्डित्यं वेदपाण्डित्यमन्यथा ।
अन्यथा तत्पद शान्तं, लोका. क्लिश्यन्ति चान्यथा ।।५/६७ यशस्तिलकचम्पू ।

अथ त्रिभुवनवन्दित इत्यादिलक्षणैर्युक्तो योऽसौ शुद्धात्मा भणितः स लोकाग्रे तिष्ठतीति कथयति—

अब कहते हैं कि त्रिभुवनवन्दित इत्यादि लक्षणों से युक्त जो यह शुद्धात्मा कहा गया है, वह लोक के अग्रभाग में रहता है—

एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिँ जो परु णिक्कलु देउ ।
सो तहिँ णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ ॥२५॥

एतैर्युक्तो लक्षणैः यः परो निष्कलो देवः ।
स तत्र निवसति परमपदे यः त्रैलोक्यस्य ध्येयः ॥२५॥

एतैस्त्रिभुवनवन्दितादिलक्षणैः पूर्वोक्तैर्युक्तो यः । पुनश्च कथंभूतो यः । परः परमात्मस्वभावः । पुनरपि किंविशिष्टः । निष्कलः पञ्चविधशरीररहितः । पुनरपि किंविशिष्टः । देवस्त्रिभुवनाराध्यः स एव परमपदे मोक्षे निवसति । यत्पदं कथंभूतम् । त्रैलोक्यस्यावसानमिति । अत्र तदेव मुक्तजीवसदृशं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥२५॥ एवं त्रिविधात्मकथनप्रथममहाधिकारमध्ये मुक्तिगतसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं गतम् ।

एयहिं लक्खणहिं जुत्तउ परु णिक्कलु देउ जो, सो तहिं परम-पइ णिवसइ, जो तइलोयहँ झेउ ॥२५॥ तीनों लोकों से वन्दित इत्यादि लक्षणों से जो पहले कहा गया है, उनसे युक्त, सर्वोत्कृष्ट परमात्मस्वभाव वाला, औदारिक-वैक्रियिक-आहारक-तैजस-कार्माण रूप पाँच प्रकार के शरीरों से रहित अर्थात् अमूर्त, तीन लोक का जो आराध्य देव है वही परमपद-मोक्ष में निवास करता है। वह पद कैसा है ? तीन लोक का अवसान है अर्थात् लोक के शिखर पर है। यहाँ **भावार्थ** यह है कि इसी मुक्त जीव यानी सिद्ध परमात्मा के सदृश अपना भी शुद्धात्मस्वरूप है, वही उपादेय है ॥२५॥

इसप्रकार त्रिविधात्मा का कथन करने वाले प्रथम महाधिकार में मुक्तिगत सिद्ध परमात्मा के व्याख्यान की मुख्यता से दस दोहासूत्रों का कथन किया ।

अत ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकमन्तर्भाव्य चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं यादृशो व्यक्तिरूपः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति तादृशः शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण तिष्ठतीति कथयन्ति । तद्यथा—

अब पाँच क्षेपक मिले हुए चौबीस दोहों तक—जैसा प्रकट रूप परमात्मा मोक्ष में है वैसा ही शुद्ध निश्चयनय से (देह में भी) शक्ति रूप से है, सो कहते हैं—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिँ णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ ॥२६॥

यादृशो निर्मलो ज्ञानमयः सिद्धौ निवसति देवः ।
तादृशो निवसति ब्रह्म परः देहे मा कुरु भेदम् ॥२६॥

यादृशः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः, निर्मलो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितः, ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणपरिणतः सिद्धो मुक्तो मुक्तौ निवसति तिष्ठति देवः परमाराध्यः। तादृशः पूर्वोक्तलक्षणसदृशः निवसति तिष्ठति ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा पर उत्कृष्टः। क्व निवसति। देहे। केन। शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन। कथंभूतेन। शक्तिरूपेण **हे प्रभाकरभट्ट** भेदं मा कार्षीस्त्वमिति। तथा चोक्तं **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते–"णमिएहिं जं णमिज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं। थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह॥"** अत्र स एव परमात्मोपादेय इति भावार्थः ॥२६॥

जेहउ णिम्मलु णाणमउ देउ सिद्धिहिं णिवसइ तेहउ परु बंभु देहहं णिवसइ, भेउ मं करि। ॥२६॥ जैसा केवलज्ञानादि प्रकटरूप कार्य समयसार निर्मल यानी भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रूप मल से रहित, ज्ञानमय—केवलज्ञान से परिपूर्ण—केवलज्ञान के अन्तर्भूत अनन्त गुण परिणत सिद्धजीव मोक्ष में रहता है वैसा ही पूर्वोक्तलक्षण सदृश परब्रह्म शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा उत्कृष्टता से रहता है। कहाँ रहता है? देह में। कैसे? शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा। किस भाँति रहता है? शक्तिरूप से रहता है। हे प्रभाकरभट्ट! तू भेद मत कर (यानी अपने मे और सिद्धपरमेष्ठी में तू अन्तर मत कर) मोक्षप्राभृत में श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने ऐसा ही कहा है—"जो नमस्कार करने योग्य इन्द्रादि हैं, उनसे तो नमस्कार करने योग्य है और ध्यान व स्तुति करने योग्य जो तीर्थंकरादि हैं उनसे भी ध्यान व स्तुति करने योग्य है, ऐसा कुछ है वह इस देह में ही है, उसको यथार्थ यानी परमात्मा जानो।" भावार्थ यह है कि वह परमात्मा ही उपादेय है ॥२६॥

अथ येन शुद्धात्मना स्वसंवेदनज्ञानचक्षुषावलोकितेन पूर्वकृतकर्माणि नश्यन्ति तं किं न जानासि त्वं हे योगिन्निति कथयन्ति—

अब, 'हे योगिन्! जिस शुद्धात्मा को सम्यग्ज्ञान नेत्र से देखने पर पूर्वोपार्जित कर्म नष्ट हो जाते हैं, क्या तुम उसे नहीं जानते हो?' सो कहते है—

जें दिट्ठें तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ।
सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ॥२७॥

येन दृष्टेन त्रुटयन्ति लघु कर्माणि पूर्वकृतानि।
तं परं जानासि योगिन् देहे वसन्तं न किम्॥२७॥

जें दिट्ठें तुट्टंति लहु कम्मइं पुव्वकियाइं येन परमात्मना दृष्टेन सदानन्दैकरूपवीतरागनिर्विकल्पसमाधिलक्षणनिर्मललोचनेनावलोकितेन त्रुटयन्ति शतचूर्णानि भवन्ति लघु शीघ्रम् अन्तर्मुहूर्तेन। कानि। परमात्मनः प्रतिबन्धकानि स्वसंवेद्यभावोपार्जितानि पूर्वकृतकर्माणि **सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइं** तं नित्यानन्दैकस्वभावं

स्वात्मानं परमोत्कृष्टं कि न जानासि हे योगिन् । कथंभूतमपि । स्वदेहे वसन्तमपीति । अत्र स एवोपादेय इति भावार्थः ॥२७॥

जं दिट्ठें लहु पुव्व-कियाइं कम्मइं तुट्टंति, सो परु देहि वसंतु जोइया ! काइं ण जाणहि ॥२७॥ जिस परमात्मा को देखने से—सदा आनन्दरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिलक्षण रूप निर्मल नेत्रों से देखने से शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्त में ही परमात्मपने के प्रतिबन्धक पूर्वोपार्जित कर्म चूर-चूर हो जाते है, उस नित्यानन्द स्वभाव वाली परम उत्कृष्ट निजात्मा को अपने शरीर में निवास करते हुए भी हे योगिन् ! तू क्यों नही जानता है ? वह निजस्वरूप ही उपादेय है, यह भावार्थ है ॥२७॥

अथ ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकं कथयन्ति । तद्यथा—

अब आगे पाँच प्रक्षेपकों का कथन करते हैं—

जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइँ जित्थु ण मण-वावारु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ अण्णु परि अवहारु ॥२८॥

यत्र नेन्द्रियसुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।
तं आत्मानं मन्यस्व जीव त्वं अन्यत्परमपहर ॥२८॥

जित्थु ण इंदियसुहदुहइं जित्थु ण मणवावारु यत्र शुद्धात्मस्वरूपे न सन्ति न विद्यन्ते । कानि । अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यविपरीतान्याकुलत्वोत्पादकानीन्द्रियसुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्पपरमात्मनो विलक्षणः संकल्पविकल्परूपो मनोव्यापारो नास्ति । **सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परि अवहारु** तं पूर्वोक्तलक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्व नित्यानन्दैकरूपं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा जानीहि हे जीव, त्वम् अन्यत्परमात्मस्वभावाद्विपरीतं पञ्चेन्द्रियविषयस्वरूपादिविभावसमूहं परस्मिन् दूरे सर्वप्रकारेणापहर त्यज । तात्पर्यार्थः । निर्विकल्पसमाधौ सर्वत्र वीतरागविशेषणं किमर्थ कृतम् इति पूर्वपक्षः । परिहारमाह । यत एव हेतोः वीतरागस्तत एव निर्विकल्प-इति हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थम्, अथवा ये सरागिणोऽपि सन्तो वयं निर्विकल्पसमाधिस्था इति वदन्ति तन्निषेधार्थम् अथवा श्वेतशंखवत्स्वरूपविशेषणमिदम् इति परिहारत्रयं निर्दोषिपरमात्मशब्दादिपूर्वपक्षेऽपि योजनीयम् ॥२८॥

जित्थु इंदिय-सुह-दुहइं ण, जित्थु मण-वावारु ण, हे जीव ! तुहुं सो अप्पा मुणि अण्णु परि अवहारु ॥२८॥ जिस शुद्ध आत्मस्वरूप में अनाकुलता लक्षण वाले पारमार्थिक सुख से विपरीत आकुलता के उत्पादक इन्द्रियजन्य सुख-दुःख नही हैं, जिसमें निर्विकल्प परमात्मा से विलक्षण सङ्कल्प-विकल्परूप मनोव्यापार नही है, ऐसे उस पूर्वोक्त लक्षण वाले को हे जीव ! तू आत्मा मान । वीतराग निर्विकल्पसमाधि मे स्थित होकर उस नित्यानन्दैक स्वभावरूप आत्मा को जान और परमात्म स्वभाव से विपरीत पञ्चेन्द्रियों के विषयादिरूप विभाव समूह का दूर से ही सब प्रकार

से त्याग कर। यह तात्पर्यार्थ है। शंका—निर्विकल्प समाधि में सब जगह वीतराग विशेषण क्यों किया गया है ? समाधान—जहाँ वीतरागता है, वहीं निर्विकल्पता है, इस रहस्य को समझने के लिए अथवा जो रागी होते हुए भी हम निर्विकल्पसमाधिस्थ हैं ऐसा कहते हैं, उनके निषेध के लिए अथवा सफेद शंख की तरह स्वरूप प्रकट करने के लिए यह विशेषण दिया गया है ।।२८।।

अथ यः परमात्मा व्यवहारेण देहे तिष्ठति निश्चयेन स्वस्वरूपे तमाह—

अब, व्यवहारनय से तो परमात्मा इस देह में ठहर रहा है लेकिन निश्चय नय से तो वह अपने स्वरूप में ही स्थित है, उस आत्मा का कथन करते हैं—

देहादेहहिँ जो वसइ भेयाभेय-णएण ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ किं अण्णेँ बहुएण ।।२९।।

देहादेहयोः यो वसति भेदाभेदनयेन ।
तमात्मानं मन्यस्व जीव त्वं किमन्येन बहुना ।।२९।।

देहादेहयोरधिकरणभूतयोर्यो वसति । केन । भेदाभेदनयेन । तथाहि—अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभेदनयेन स्वपरात्मनोऽभिन्ने स्वदेहे वसति शुद्धनिश्चयनयेन तु भेदनयेन स्वदेहाद्भिन्ने स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व जानीहि हे जीव नित्यानन्दैकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । किमन्येन शुद्धात्मनो भिन्नेन देहरागादिना बहुना । अत्र योऽसौ देहे वसन्नपि निश्चयेन देहरूपो न भवति स एव स्वशुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ।।२९।।

जो भेयाभेयणएण देहादेहहिं वसइ, सो तुहुं हे जीव ! अप्पा मुणि, किं अण्णें बहुएण ।।२९।। जो अनुपचरित असद्भूत व्यवहार रूप अभेद नय से अपने से भिन्न देह में रहता है और शुद्ध निश्चय रूप भेद नय से अपनी देह से भिन्न आत्म स्वभाव में रहता है, उसे हे जीव ! तू परमात्मा जान। हे जीव ! नित्यानन्द वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित हो आत्मा का ध्यान कर। निज शुद्धात्मा से भिन्न देहरागादिकों से तुझे क्या करना है। जो देह में रहते हुए भी निश्चय से देहरूप नहीं होता, वही निज शुद्धात्मा उपादेय है, यह भावार्थ है ।।२९।।

अथ जीवाजीवयोरेकत्वं मा कार्षीर्लक्षणभेदेन भेदोऽस्तीति निरूपयति—

अब, जीव और अजीव में एकता-अभिन्नता मत कर, लक्षण के भेद से दोनों में भेद है, उसका कथन करते हैं—

जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण भेएँ भेउ ।
जो परु सो परु भणमि मुणि अप्पा अप्पु अभेउ ।।३०।।

जीवाजीवौ मा एकौ कुरु लक्षणभेदेन भेदः ।
यत्परं तत्परं भणामि मन्यस्व आत्मन आत्मना अभेदः ।।३०।।

हे प्रभाकरभट्ट जीवाजीवाविकौ मा कार्षीः । कस्मात् । लक्षणभेदेन भेदोऽस्ति तद्यथा— रसादिरहितं शुद्धचैतन्यं जीवलक्षणम् । तथा चोक्तं **प्राभृते—"अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं; जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।"** इत्थंभूतशुद्धात्मनो भिन्नमजीवलक्षणम् । तच्च द्विविधम् । जीवसंबन्धमजीवसंबन्धं च । देहरागादिरूपं जीवसंबन्धं, पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपमजीवसंबन्धमजीवलक्षणम् । अत एव भिन्नं जीवादजीवलक्षणम् । ततः कारणात् यत्परं रागादिकं तत्परं जानीहि । कथंभूतम् । भेद्यमभेद्यमित्यर्थः । अत्र योऽसौ शुद्धलक्षणसंयुक्तः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति भावार्थः ।।३०।।

जीवाजीव म एक्कु करि लक्खणभेएँ भेउ । जो परु सो परु मुणि, अप्पा अप्पु अभेउ भणमि ।।३०।। हे प्रभाकर भट्ट ! तू जीव और अजीव को एक मत कर । क्यों ? क्योंकि इन दोनों के लक्षण में भेद है । रसादिरहित शुद्ध चैतन्य जीव का लक्षण है । **भावप्राभृत में कहा है**—" हे भव्य ! तू जीव का स्वरूप इस प्रकार जान ! वह **अरस** अर्थात् पाँच प्रकार के खट्टे मीठे कडुवे कसायले और खारे रस से रहित है । काला, पीला, लाल, सफेद और हरा इस प्रकार पाँच प्रकार के रूप से रहित अरूप है । सुगन्ध और दुर्गन्ध, दो प्रकार की गन्ध से रहित है । **अव्यक्त** अर्थात् इन्द्रियों के गोचर व्यक्त नहीं है । **चेतना गुण** वाला है, **अशब्द** अर्थात् शब्दरहित है । **अलिंगग्रहण** अर्थात् जिसका कोई चिह्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहण में नहीं आता है । **अनिर्दिष्ट संस्थान** अर्थात् समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वातिक, कुब्जक, वामन, हुण्डक इन छह प्रकार के आकारों से रहित निराकार है, इस प्रकार जीव को जानो ।" इस शुद्धात्मा से भिन्न अजीव के लक्षण दो प्रकार के हैं—१ जीव सम्बन्धी २ अजीव सम्बन्धी । देहरागादि रूप यानी द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप तो जीव सम्बन्धी हैं और पुद्गलादि पञ्च द्रव्यरूप अजीव सम्बन्धी है । अतः अजीव का लक्षण जीव से भिन्न है । इसलिए जो रागादिक पर पदार्थ हैं उन्हें पर ही जानो । (यद्यपि रागादिक पर पदार्थ जीव में ही उत्पन्न होते हैं अतः वे जीव के कहे जाते हैं परन्तु वे कर्मजनित हैं, कर्म के सम्बन्ध से हैं, इसलिए इन्हें पर ही जानो ।) भावार्थ यह है कि शुद्ध चेतना लक्षण को धारण करने वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है ।।३०।।

अथ तस्य शुद्धात्मनो ज्ञानमयादिलक्षणं विशेषेण कथयति—

अब उस शुद्धात्मा के ज्ञानादि लक्षणों का विशेष कथन करते हैं—

अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु ।
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु-एहु णिरुत्तु ।।३१।।

अमनाः अनिन्द्रियो ज्ञानमयः मूर्तिविरहितश्चिन्मात्रः ।
आत्मा इन्द्रियविषयो नैव लक्षणमेतन्निरुक्तम् ।।३१।।

परमात्मविपरीतमानसविकल्पजालरहितत्वादमनस्कः, अतीन्द्रियशुद्धात्मविपरीतेनेन्द्रियग्रामेण रहितत्वादतीन्द्रियः, लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः, अमूर्तात्मविपरीतलक्षणया स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या वर्जितत्वान्मूर्तिविरहितः, अन्यद्र-

व्यासाधारणया शुद्धचेतनया निष्पन्नत्वाच्चिन्मात्रः । कोऽसौ । आत्मा । पुनश्च किंविशिष्टः । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन ग्राह्योऽपीन्द्रियाणामविषयश्च लक्षणमिदं निरुक्तं निश्चितमिति । अत्रोक्तलक्षणपरमात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥३१॥

अप्पा अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति विरहिउ चिमित्तु इंदिय-विसउ णवि, एहु लक्खणु णिरुत्तु ॥३१॥ यह शुद्ध आत्मा परमात्मा से विपरीत मानसिक विकल्प जालों से रहित **अमनस्क** है, शुद्धात्मा से विपरीत इन्द्रियसमूह से रहित **अतीन्द्रिय** है । लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान की परिपूर्णता मे ज्ञानमय है । अमूर्तिक आत्मा से विपरीत स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाली मूर्ति से रहित होने के कारण **अमूर्तिक** है, अन्य द्रव्यों में नहीं मिलने वाली शुद्ध चेतना से निष्पन्न होने के कारण **चिन्मात्र** है, वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से ग्राह्य होते हुए भी **इन्द्रियगम्य** नहीं है; ये लक्षण जिसके कहे गए है, उसे ही तू आत्मा जान । **भावार्थ** यह है कि उक्तलक्षणों वाला परमात्मा ही उपादेय है ॥३१॥

अथ संसारशरीरभोगनिर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसारवल्ली नश्यतीति कथयति—

अव, संसार-शरीर और भोगों से विरक्त होकर जो शुद्धात्मा का ध्यान करता है, उसको संसार-वेल नष्ट हो जाती है, सो कहते हैं—

भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥३२॥

भवतनुभोगविरक्तमना य आत्मानं ध्यायति ।
तस्य गुर्वी वल्ली सांसारिकी त्रुट्यति ॥३२॥

भवतनुभोगेषु रञ्जितं मूर्छितं वासितमासक्तं चित्तं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखरसास्वादेन व्यावृत्य स्वशुद्धात्मसुखे रतत्वात्संसारशरीरभोगविरक्तमनाः सन् यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य **गुरुक्की** महती संसारवल्ली त्रुट्यति नश्यति शतचूर्णा भवतीति । अत्र येन परमात्मध्यानेन संसारवल्ली विनश्यति स एव परमात्मोपादेयो भावनीयश्चेति तात्पर्यार्थः ॥३२॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रमध्ये प्रक्षेपकपञ्चकं गतम् ।

जो भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु अप्पा झाएइ तासु गुरुक्को संसारिणि वेल्लडी तुट्टेइ ॥३२॥ संसार, शरीर और भोगो में अनुरंजित, मूर्च्छित, आसक्त चित्त को, आत्मज्ञानोत्पन्न वीतराग परमानन्द सुखामृत के आस्वाद से वहाँ से हटाकर अपने शुद्धात्म सुख में अनुरक्त कर संसार-शरीर और भोगों से विरक्तमन होते हुए जो शुद्धात्मा का ध्यान करता है, उसकी वडी भारी ससार वेलड़ी भी नष्ट हो जाती है । इसप्रकार जिस परमात्मध्यान से संसार रूपी वेल नष्ट हो जाती है, वही परमात्मा उपादेय है, भावनीय है, यह **भावार्थ** है ॥३२॥ इसप्रकार चौवोस दोहों मे पाँच प्रक्षिप्त दोहो का कथन पूर्ण हुआ ।

तदनन्तरं देहदेवगृहे योऽसौ वसति स एव शुद्धनिश्चयेन परमात्मा तन्निरूपयति—

अत्र, देहरूपी देवालय में जो निवास करता है, शुद्ध निश्चय नय से वही परमात्मा है, सो कहते हैं—

देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु ।
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥३३॥

देहदेवालये यः वसति देवः अनाद्यनन्तः ।
केवलज्ञानस्फुरत्तनुः स परमात्मा निर्भ्रान्तिः ॥३३॥

व्यवहारेण देहदेवकुले वसन्नपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वाद्देहवन्मूर्तः सर्वाशुचिमयो न भवति । यद्यपि देहो नाराध्यस्तथापि स्वयं परमात्माराध्यो देवः पूज्यः, यद्यपि देहः आद्यन्तस्तथापि स्वयं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनानाद्यनन्तः, यद्यपि देहो जडस्तथापि स्वयं लोकालोकप्रकाशकत्वात्केवलज्ञानस्फुरिततनुः केवलज्ञानप्रकाशरूपशरीर इत्यर्थः । स पूर्वोक्तलक्षणयुक्तः परमात्मा भवतीति । कथंभूतः । निर्भ्रान्तिः निस्सन्देह इति अत्र योऽसौ देहे वसन्नपि सर्वाशुच्यादिदेहधर्मं न स्पृशति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥३३॥

जो देहादेवलि वसइ देउ अणाइ-अणंतु केवलणाण–फुरंत–तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥३३॥ व्यवहार से देह रूपी देवालय में रहते हुए भी निश्चय से देहादि से भिन्न होने के कारण देहवत् मूर्त तथा सर्व-अशुचिमय नहीं है । यद्यपि देह आराध्य नहीं है तथापि स्वयं परमात्मा आराध्य है देव है, पूज्य है; यद्यपि देह आदि-अन्त सहित है तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परमात्मा अनादि-अनन्त है । यद्यपि देह जड़ है तथापि परमात्मा स्वयं लोकालोक का प्रकाशक होने से केवलज्ञान रूप देह से युक्त है अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूपशरीर है । ऐसा पूर्वोक्त लक्षण वाला परमात्मा होता है । कैसे ? निःसन्देह, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना । सार यह है कि जो यह परमात्मा देह में रहते हुए भी सर्वअशुचिमयी देहधर्म का स्पर्श तक नहीं करता, वही शुद्धात्मदेव उपादेय है—यह भावार्थ है ॥३३॥

अथ शुद्धात्मविलक्षणे देहे वसन्नपि देहं न स्पृशति, देहेन सोऽपि न स्पृश्यत इति प्रतिपादयति—

अब, शुद्धात्मा से भिन्न देह में रहते हुए भी वह देह का स्पर्श नहीं करता और देह भी उसका स्पर्श नहीं करती, सो कहते हैं—

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जो जि ।
देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥३४॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि य एव ।
देहेन स्पृश्यते योऽपि नैव मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥३४॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि, देहेन न स्पृश्यते योऽपि मन्यस्व जानीहि परमात्मा सोऽपि । इतो विशेषः—य एव शुद्धात्मानुभूतिविपरीतेन क्रोधमानमायालोभस्वरूपादिविभावपरिणामेनोपार्जितेन पूर्वकर्मणा निर्मिते देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण वसन्नपि निश्चयेन य एव देहं न स्पृशति, तथाविधदेहेन न स्पृश्यते योऽपि तं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवम् । किं कृत्वा । वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वेति । अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिरहितदेहे ममत्वपरिणामेन सहितानां हेयः स एव शुद्धात्मा देहममत्वपरिणामरहितानामुपादेय इति भावार्थः ।।३४।।

जो देहे वसंतु वि णियमे जि देहु वि णवि छिवइ, देहे जो वि णवि छिप्पइ सो जि परमप्पउ मुणि ।।३४।। जो देह में रहते हुए भी निश्चय नय से उसको नही छूता और जो स्वयं देह से भी नहीं छुआ जाता, उसी को परमात्मा जानो । विशेषार्थ—जो शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत क्रोध-मान-माया-लोभादि विभाव परिणामों से उपार्जित पूर्व कर्मो से निर्मित देह में अनुपचरित-असद्भूत व्यवहार नय से रहते हुए भी देह को नही छूता और इसी प्रकार देह से छुआ भी नही जाता, तुम उसी को परमात्मा मानो । कैसे ? वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में ठहर कर । जो यह परमात्मा है वह शुद्धात्मानुभूति से रहित और देह में ममत्व परिणाम रखने वालों के लिए हेय है और वही शुद्धात्मा देह मे ममत्व परिणाम न रखने वालों के लिए उपादेय है, आराध्य है ।।३४।।

अथ यः समभावस्थितानां योगिनां परमानन्दं जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति । तमाह—

समभाव में स्थित योगियों के परमानन्द उत्पन्न करता हुआ कोई शुद्धात्मा स्फुरायमान होता है, सो कहते हैं—

[१] जो सम-भाव-परिट्ठियहँ जोइहँ कोइ फुरेइ ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ।।३५।।

यः समभावप्रतिष्ठितानां योगिनां कश्चित् स्फुरति ।
परमानन्दं जनयन् स्फुटं स परमात्मा भवति ।।३५।।

यः कोऽपि परमात्मा जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतस्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ प्रतिष्ठितानां परमयोगिनां कश्चित् स्फुरति संवित्तिमायाति । कि कुर्वन् । वीतरागपरमानन्दं जनयन् स्फुटं निश्चितम् । तथा चोक्तम्—**"आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः । जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ।।"**[२] **हे प्रभाकरभट्ट** स एवंभूतः

---

१. उभयविणट्ठे भावे णियउवलद्धे सुसुद्ध ससरूवे ।
विलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए ।।५८।। तत्त्वसार–आचार्य देवसेन

२ इष्टोपदेश श्लोक ४७, पूज्यपादाचार्य ।

परमात्मा भवतीति । अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां स एवोपादेयः, तद्विपरीतानां हेय इति तात्पर्यार्थः ॥३५॥

समभाव परिट्ठियहँ जोइहँ परमाणंदु जणंतु जो कोइ फुरेइ सो फुडु परमप्पु हवेइ ॥३५॥ समभाव में स्थित योगियों के परमानन्द उत्पन्न करता हुआ जो कोई स्फुरायमान होता है, वही प्रकट परमात्मा है। जीवनमरण, लाभालाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र आदि में समभाव को परिणत तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयात्मक वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित परमयोगियों के जो कोई स्फुरायमान होता है, अनुभूति में आता है; क्या करते हुए ? वीतराग परमानन्द को उत्पन्न करते हुए; वही प्रकट परमात्मा है। कहा भी है—"प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार से रहित होकर जब आत्मा अपने अनुष्ठान में—स्व स्वरूप की प्राप्ति में—लीन हो जाता है तब उस आत्मनिष्ठ योगी के परम समाधिरूप ध्यान से किसी वचनातीत और अन्यत्र असम्भव ऐसे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है।" हे प्रभाकर भट्ट ! वह ऐसा परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में रत योगीश्वरों के लिए उपादेय है और इनसे विपरीत वृत्ति वालों के लिए हेय अर्थात् देहात्मबुद्धि विषयासक्त जीव इस स्वरूप को नहीं जानते हैं ॥३५॥

अथ शुद्धात्मप्रतिपक्षभूतकर्मदेहप्रतिबद्धोऽप्यात्मा निश्चयनयेन सकलो न भवतीति ज्ञापयति—

अब, शुद्धात्मा के प्रतिपक्षी कर्म और देह से यह आत्मा अनादि से बद्ध है, फिर भी निश्चय नय की अपेक्षा यह शरीररूप नहीं है, सो कहते हैं—

कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि ।
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥३६॥

कर्मनिबद्धोऽपि योगिन् देहे वसन्नपि य एव ।
भवति न सकलः कदापि स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥३६॥

कर्मनिबद्धोऽपि हे योगिन् देहे वसन्नपि य एव न भवति सकलः क्वापि काले स्फुटं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवेति । अतो विशेषः—परमात्मभावनाविपक्षभूतैः राग-द्वेषमोहैः समुपार्जितैः कर्मभिरशुद्धनयेन बद्धोऽपि तथैव देहस्थितोऽपि निश्चयनयेन सकलः सदेहो न भवति क्वापि तमेव परमात्मानं **हे प्रभाकरभट्ट** मन्यस्व जानीहि वीतरागस्व-संवेदनज्ञानेन भावयेत्यर्थः । अत्र सदैव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानामुपा-देयो भवत्यन्येषां हेय इति भावार्थः ॥३६॥

जोइया जो कम्मणिबद्धु वि देहि वसंतु वि कया वि सयलु ण होइ सो जि परमप्पउ फुडु मुणि ॥३६॥ हे योगिन् ! कर्मों से बँधा होने पर भी, देह में रहते हुए भी जो कभी शरीररूप नहीं होता, तू निश्चय से उसी को परमात्मा जान। विशेषार्थ – व्यवहार नय की अपेक्षा परमात्म-भावना से विरुद्ध राग-द्वेष-मोह से उत्पन्न कर्मों से बँधा होने पर भी तथा देह में स्थित होने पर भी

निश्चय नय की अपेक्षा यह आत्मा कभी शरीररूप नहीं हुआ है, हे प्रभाकर भट्ट ! तू उसे ही परमात्मा जान, वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से उसी की भावना कर। यहाँ भावार्थ यह है कि वीतराग निर्विकल्पसमाधि मे लीन साधुओ के लिए ही यह परमात्मा उपादेय है; जबकि अन्य के लिए हेय है ॥३६॥

यः परमार्थेन देहकर्मरहितोऽपि मूढात्मनां सकल इति प्रतिभातीत्येवं निरूपयति—

परमार्थ से देह और कर्मों से रहित होने पर भी यह आत्मा अज्ञानियों को शरीररूप ज्ञात होता है, ऐसा कहते हैं—

जो परमत्थें णिक्कलु वि कम्म-विभिण्णउ जो जि।
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥३७॥

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि कर्मविभिन्नो य एव।
मूढाः सकलं भणन्ति स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥३७॥

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि देहरहितोऽपि कर्मविभिन्नोऽपि य एव भेदाभेदरत्नत्रय-भावनारहिता मूढात्मानस्तमात्मानं सकलमिति भणन्ति स्फुटं निश्चितं **हे प्रभाकरभट्ट** तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहीति, वीतरागसदानन्दैकसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः। अत्र स एव परमात्मा शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिनिवृत्तिकाले सम्यगुपा-देयो भवति तदभावे हेय इति तात्पर्यार्थः ॥३७॥

जो परमत्थें णिक्कलु वि, जो कम्म-विभिण्णउ जि, मूढा सयलु फुडु भणंति, सो जि परमप्पउ मुणि ॥३७॥ जो निश्चय नय की अपेक्षा शरीर रहित है और कर्मो से भी सर्वथा भिन्न है ऐसे आत्मा को, निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की भावना से रहित मूढ़ जन प्रकटपने से शरीररूप ही मानते हैं; हे प्रभाकर भट्ट ! तू उसी को परमात्मा जान और वीतरागसदानन्द निर्विकल्प समाधि मे स्थित होकर उसका अनुभव कर। वही परमात्मा शुद्धात्मानुभूति के प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व-रागादिको के निवृत्तिकाल में ज्ञानियों को उपादेय है और जिनके मिथ्यात्व रागादि दूर नहीं हुए है उनके लिए उपादेय नही है, यह **अभिप्राय** है ॥३७॥

अथानन्ताकाशैकनक्षत्रमिव यस्य केवलज्ञाने त्रिभुवनं प्रतिभाति स परमात्मा भव-तीति कथयति—

अब, अनन्त आकाश मे एक नक्षत्र की भाँति जिसके केवलज्ञान में तीनों लोक भासते हैं, वह परमात्मा है, सो कहते है—

गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुयणु विहाइ।
मुक्कहं जसु पए बिंबियउ सो परमप्पु अणाइ ॥३८॥

गगने अनन्तेऽपि एकमुडु यथा भुवनं विभाति।
मुक्तस्य यस्य पदे बिम्बितं स परमात्मा अनादिः ॥३८॥

गगने अनन्तेऽप्येकनक्षत्रं यथा तथा भुवनं जगत् प्रतिभाति। क्व प्रतिभाति। मुक्तस्य यस्य पदे केवलज्ञाने बिम्बितं प्रतिफलितं दर्पणे बिम्बमिव। स एवंभूतः परमात्मा भवतीति। अत्र यस्यैव केवलज्ञाने नक्षत्रमेकमिव लोकः प्रतिभाति स एव रागादिसमस्त-विकल्परहितानामुपादेयो भवतीति भावार्थः ॥३८॥

जेहउ अणंति वि गयणि एक्क उडु, भुयणु जसु मुक्कहँ पए बिंबियउ विहाइ, सो परमप्पु अणाइ ॥३८॥ जैसे अनन्त आकाश में एक नक्षत्र चमकता है वैसे ही सम्पूर्ण लोक भासित होता है। कहाँ भासित होता है? जिस मुक्त जीव के केवलज्ञान में दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह लोक-अलोक सब भासते हैं, वह ऐसा परमात्मा है। भावार्थ—जिसके केवलज्ञान में एक नक्षत्र की भांति सम्पूर्ण लोक भासता है, वही परमात्मा रागादि समस्त विकल्पों से रहित योगीश्वरों के लिए उपादेय है ॥३८॥

अथ योगीन्द्रवृन्दैर्यो निरवधिज्ञानमयो निर्विकल्पसमाधिकाले ध्येयरूपश्चिन्त्यते तं परमात्मानमाह—

अब, योगीन्द्र समूहों के द्वारा जो अनन्तज्ञानमयी परमात्मा निर्विकल्प समाधि-काल में ध्यान करने योग्य है, उसका कथन करते हैं—

जोइय-विंदहिं णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ।
मोक्खहँ कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ॥३९॥

योगिवृन्दैः ज्ञानमयः यो ध्यायते ध्येयः।
मोक्षस्य कारणे अनवरतं स परमात्मा देवः ॥३९॥

योगीन्द्रवृन्दैः शुद्धात्मवीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतैः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः यः कर्मतापन्नो ध्यायते ध्येयो ध्येयरूपोऽपि। किमर्थं ध्यायते। मोक्षकारणे मोक्षनिमित्ते अनवरतं निरन्तरं स एव परमात्मा देवः परमाराध्य इति। अत्र य एव परमात्मा मुनि-वृन्दानां ध्येयरूपो भणितः स एव शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपक्षभूतार्तरौद्रध्यानरहितानामुपादेय इति भावार्थः ॥३९॥

जो जोइयविंदहिं मोक्खहँ कारणि अणवरउ णाणमउ झाइज्जइ सो परमप्पउ देउ झेउ ॥३९॥ जो योगीश्वरों के द्वारा शुद्धात्मवीतरागनिर्विकल्पसमाधि में रत योगियों के द्वारा ज्ञान-मयी-केवलज्ञान से परिपूर्ण चिन्तवन किया जाता है। किसलिए? मोक्ष के निमित्त, अनवरत सदा, वही परमात्मदेव परमाराध्य है। भावार्थ-जो परमात्मा मुनियों के लिए ध्येय कहा गया है वही शुद्धात्मानुभूति के प्रतिपक्षी आर्त्त-रौद्र ध्यान से रहित जीवों के लिए भी उपादेय है अर्थात् आर्त-रौद्र ध्यान के अभाव में ही उस परमात्मा का ध्यान हो सकता है ॥३९॥

अथ योऽयं शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवो ज्ञानावरणादिकर्महेतुं लब्ध्वा त्रसस्थावररूपं जगज्जनयति स एव परमात्मा भवति नान्यः कोऽपि जगत्कर्ता ब्रह्मादिरिति प्रतिपादयति—

अब, जो यह शुद्ध बुद्धैकस्वभाव वाला जीव है, वही ज्ञानावरणादिकर्मों का कारण पाकर त्रस-स्थावर रूप जगत् को जन्म देता है, वही परमात्मा है, अन्य कोई जगत्कर्त्ता ब्रह्मादि नहीं है, सो कहते हैं—

जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ ।
लिंगत्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ॥४०॥

यो जीवः हेतुं लब्ध्वा विधिं जगत् बहुविधं जनयति ।
लिङ्गत्रयपरिमण्डितः स परमात्मा भवति ॥४०॥

यो जीवः कर्ता हेतुं लब्ध्वा । किम् । विधिसंज्ञं ज्ञानावरणादिकर्म । पश्चाज्जङ्गमस्थावररूपं जगज्जनयति स एव लिङ्गत्रयमण्डितः सन् परमात्मा भण्यते न चान्यः कोऽपि जगत्कर्ता हरिहरादिरिति । तद्यथा । योऽसौ पूर्वं बहुवा शुद्धात्मा भणितः स एव शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोऽपि सन् अनादिसंतानागतज्ञानावरणादिकर्मबन्धप्रच्छादितत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकसुखास्वादमलभमानो व्यवहारनयेन त्रसो भवति, स्थावरो भवति, स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गो भवति, तेन कारणेन जगत्कर्ता भण्यते नान्यः कोऽपि परकल्पितपरमात्मेति । अत्रायमेव शुद्धात्मा परमात्मोपलब्धिप्रतिपक्षवेदत्रयोदयजनितं रागादिविकल्पजालं निर्विकल्पसमाधिना यदा विनाशयति तदोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥४०॥

जो जिउ विहि हेउ लहेवि बहुविहउ जगु जणेइ, लिंगत्तयपरिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ॥४०॥ जो जीवात्मा ज्ञानावरणादि कर्म रूप कारण पाकर बहुविध-जंगम, स्थावर रूप जगत् को उत्पन्न करता है, वही स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग इन से मण्डित परमात्मा कहा जाता है, अन्य कोई हरि-हरादिक जगत्कर्त्ता नहीं है । जो यह पूर्व मे अनेक वार शुद्धात्मा कहा गया है, वही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा शुद्ध होते हुए भी अनादि से संसार में ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध से आच्छादित हुआ, वीतराग, निर्विकल्प सहजानन्द अद्वितीय सुख के स्वाद को न पाने से व्यवहार नय से त्रस होता है, स्थावर होता है, स्त्रीपुरुषनपुंसक होता है; इस कारण से जगत्कर्त्ता कहा जाता है, अन्य कोई भी पर-कल्पित परमात्मा नहीं है । **भावार्थ**—यही शुद्धात्मा परमात्मोपलब्धि के प्रतिपक्षी तीनों वेदों से उत्पन्न रागादि विकल्प जाल को निर्विकल्प समाधि के बल से जब नष्ट कर देता है, तब उपादेयभूत मोक्षसुख का साधक होने से उपादेय होता है ॥४०॥

अथ यस्य परमात्मनः केवलज्ञानप्रकाशमध्ये जगद्वसति जगन्मध्ये सोऽपि वसति तथापि तद्रूपो न भवतीति कथयति—

अब, जिस परमात्मा के केवलज्ञानरूप प्रकाश में जगत् अवस्थित है और जगत् के मध्य में वह (परमात्मा) भी रह रहा है तो भी वह जगत्रूप नहीं है, सो कहते हैं—

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि ।
जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ।।४१।।

यस्य अभ्यन्तरे जगत् वसति जगदभ्यन्तरे य एव ।
जगति एव वसन्नपि जगत् एव नापि मन्यस्व परमात्मानं तमेव ।।४१।।

यस्य केवलज्ञानस्याभ्यन्तरे जगत् त्रिभुवनं ज्ञेयभूतं वसति जगतोऽभ्यन्तरे योऽसौ ज्ञायको भगवानपि वसति जगति वसन्नेव रूपविषये चक्षुरिव निश्चयनयेन तन्मयो न भवति मन्यस्व जानीहि । हे **प्रभाकरभट्ट,** तमित्थंभूतं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र योऽसौ केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य वीतरागस्वसंवेदनकाले मुक्तिकारणं भवति स एवोपादेय इति भावार्थः ।।४१।।

जसु अब्भंतरि जगु वसइ, जग-अब्भंतरि जो जि वसइ, जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि, सो जि परमप्पउ मुणि ।।४१।। जिसके केवलज्ञान में ज्ञेयभूत जगत् प्रतिबिम्बित हो रहा है और जो यह ज्ञायक भगवान भी जगत् में रह रहा है तो भी रूपी पदार्थों को देखने वाले नेत्र की तरह निश्चय नय से वह किसी पदार्थ से तन्मय नहीं होता है, ऐसा जानो । हे प्रभाकरभट्ट ! तू ऐसे परमात्मा को, वीतरागनिर्विकल्प समाधि में ठहर कर भावना कर । **भावार्थ**-वीतराग स्वसंवेदनकाल में जो यह परमात्मतत्त्व केवलज्ञानादि की व्यक्तिरूप कार्यसमयसार के मोक्ष का कारण होता है, वही उपादेय है ।।४१।।

अथ देहे वसन्तमपि हरिहरादयः परमसमाधेरभावादेव यं न जानन्ति स परमात्मा भवतीति कथयन्ति—

अब, देह में रहते हुए भी जिसको परमसमाधि के अभाव के कारण हरि-हरादिक नहीं जानते हैं, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—

देहि वसंत वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति ।
परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ।।४२।।

देहे वसन्तमपि हरिहरा अपि यम् अद्यापि न जानन्ति ।
परमसमाधितपसा विना तं परमात्मानं भणन्ति ।।४२।।

परमात्मस्वभावविलक्षणे देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन वसन्तमपि हरिहरा अपि यमद्यापि न जानन्ति । केन विना । वीतरागनिर्विकल्पनित्यानन्दैकसुखामृतरसास्वादरूपपरमसमाधितपसा । तं परमात्मानं भणन्ति वीतरागसर्वज्ञा इति । किं च । पूर्वभवे कोऽपि जीवो भेदाभेदरत्नत्रयाराधनां कृत्वा विशिष्टपुण्यबन्धं च कृत्वा पश्चाद-

ज्ञानभावेन निदानबन्धं करोति तदनन्तरं स्वर्गं गत्वा पुनर्मनुष्यो भूत्वा त्रिखण्डाधिपति-र्वासुदेवो भवति। अन्यः कोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वान्यत्रैव भवे विशिष्टसमाधिबलेन पुण्यबन्धं कृत्वा पश्चात्पूर्वंकृतचारित्रमोहोदयेन विषयासक्तो भूत्वा रुद्रो भवति। कथं ते परमात्मस्वरूपं न जानन्ति इति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारं ददाति। युक्तमुक्तं भवता, यद्यपि रत्नत्रयाराधनां कृतवन्तस्तथापि यादृशेन वीतरागनिर्विकल्परत्नत्रयस्वरूपेण तद्भवे मोक्षो भवति तादृशं न जानन्तीति। अत्र यमेव शुद्धात्मानं साक्षादुपादेयभूतं तद्भवमोक्ष-साधकाराधनासमर्थं च ते हरिहरादयो न जानन्तीति स एवोपादेयो भवतीति भावार्थः ॥४२॥

देहि वसंत वि जं हरि-हर वि परम समाहि तवेण विणु अज्ज वि ण मुणंति, सो परमप्पु भणंति ॥४२॥ परमात्म स्वभाव से भिन्न देह मे अनुपचरित-असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा रहते हुए भी जिसको हरि-हर आदि भी परम समाधि—वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द अद्वितीय सुखरूप अमृतरस के आस्वादरूप परमसमाधि तप के विना आज तक भी नहीं जानते है, वीतराग-सर्वज्ञ देव उसको परमात्मा कहते है। यहाँ एक शङ्का है कि पूर्वभव में कोई जीव निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की आराधना कर, विशिष्ट पुण्य का वन्ध करके, वाद में अज्ञानभाव से निदानवन्ध कर लेता है, उसके वाद स्वर्ग में जाकर, फिर मनुष्य होकर त्रिखण्डाधिपति **वासुदेव** होता है और कोई अन्य जीव जिनदीक्षा धारण कर इस भव में समाधि के वल से पुण्यवन्ध करता है, फिर पूर्वकृत चारित्रमोह के उदय से विपयो में लीन हुआ रुद्र होता है। तो फिर ये हरिहरादिक परमात्मा का स्वरूप कैसे नही जानते? समाधान यह है कि आपका कथन ठीक है। यद्यपि इन्होंने रत्नत्रय की आराधना की है तथापि जिस कोटि के वीतरागनिर्विकल्परत्नत्रय स्वरूप के धारण करने से उसी भव में मोक्ष हो जाता है, वैसा ये नही जानते है। **भावार्थ**–जिस साक्षात् उपादेयभूत शुद्धात्मा की तद्भवमोक्ष के साधक ही आराधना कर सकते है और जिसे वे हरिहरादिक नही जानते है, वही शुद्धात्मा उपादेय है, चिन्तन करने योग्य है ॥४२॥

अथोत्पादव्ययपर्यायार्थिकनयेन संयुक्तोऽपि यः द्रव्यार्थिकनयेन उत्पादव्ययरहितः स एव परमात्मा निर्विकल्पसमाधिबलेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्ट इति निरूपयति—

अव, पर्यायार्थिक नय से उत्पाद-व्यय से संयुक्त होने पर भी जो द्रव्यार्थिक नय से उत्पाद-व्यय से रहित है, वही परमात्मा निर्विकल्प समाधि के वल से जिनवरों द्वारा देह में भी देख लिया गया है, सो कहते है—

भावाभावहिँ संजुवउ भावाभावहिँ जो जि।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिँ मुणि परमप्पउ सो जि ॥४३॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः भावाभावाभ्या य एव।
देहे एव दृष्टः जिनवरैः मन्यस्व परमात्मान तमेव ॥४३॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययाभ्यां परिणतः द्रव्यार्थिकनयेन भावाभावयोः रहितः य एव वीतरागनिर्विकल्पसदानन्दैकसमाधिना तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्टः तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहि वीतरागपरमसमाधिबलेनानुभवेत्यर्थः । अत्र य एव परमात्मा कृष्णनीलकापोतलेश्यास्वरूपादिसमस्तविभावरहितेन शुद्धात्मोपलब्धिध्यानेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्टः स एव साक्षादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ।।४३।।

जो जि भावाभावहिँ संजुवउ, भावाभावहिँ (रहितः) । जिणवरहिँ देहे जि दिट्ठउ, सो जि परमप्पउ मुणि ।।४३।। पर्यायार्थिक नय से जो उत्पाद और व्यय सहित है, वही द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद और व्यय से रहित है, उसे वीतराग-निर्विकल्प आनन्दरूप समाधि के बल से यानी तद्भव मोक्षसाधक-आराधना के बल से जिनवरदेवो ने देह में भी देख लिया है, उसी को परमात्मा जानो अर्थात् वीतरागपरमसमाधि के बल से उसका अनुभव करो । भावार्थ-जो परमात्मा कृष्ण-नील-कापोत लेश्या रूपादि समस्त विभाव परिणामों से रहित शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप ध्यान से जिनवरदेवों ने देह में भी देख लिया है, वही साक्षात् उपादेय है ।।४३।।

अथ येन देहे वसता पञ्चेन्द्रियग्रामो वसति गतेनोद्वसो भवति स एव परमात्मा भवतीति कथयति—

अब, देह में जिसके रहने मे पाँच इन्द्रियरूप ग्राम वसता है और जिसके निकल जाने पर वह ग्राम उजड़ जाता है, वही परमात्मा है, ऐसा कहते हैं –

देहि वसंतें जेण पर इंदिय-गामु वसेइ ।
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ।।४४।।

देहे वसता येन परं इन्द्रियग्रामः वसति ।
उद्वसो भवति गतेन स्फुटं स परमात्मा भवति ।।४४।।

देहे वसता येन परं नियमेनेन्द्रियग्रामो वसति येनात्मना निश्चयेनातीन्द्रियस्वरूपेणापि व्यवहारनयेन शुद्धात्मविपरीते देहे वसता स्पर्शनादीन्द्रियग्रामो वसति, स्वसंवित्त्यभावे स्वकीयविषये प्रवर्तत इत्यर्थः । उद्वसो भवति गतेन स एवेन्द्रियग्रामो यस्मिन् भवान्तरगते सत्युद्वसो भवति स्वकीयविषयव्यापाररहितो भवति स्फुटं निश्चितं स एवंलक्षणश्चिदानन्दैकस्वभावः परमात्मा भवतीति । अत्र य एवातीन्द्रियसुखास्वादसमाधिरतानां मुक्तिकारणं भवति स एव सर्वप्रकारोपादेयातीन्द्रियसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ।।४४।।

जेण पर देहि वसंतें इंदियगामु वसेइ गएण उव्वसु फुडु होइ, सो परमप्पु हवेइ ।।४४।। जिस (परमात्मा) के देह में रहने पर नियम से पाँच इन्द्रियरूप ग्राम वसता है, निश्चयनय से

आत्मा अतीन्द्रिय स्वरूप है फिर भी व्यवहार नय से शुद्धात्मा से भिन्न ऐसी देह में उसके रहने पर स्पर्शनादिक-इन्द्रियग्राम वसता है यानी आत्मज्ञान के अभाव से अपने-अपने विषयों में इन्द्रियाँ प्रवृत्ति करती हैं और जिसके चले जाने पर यह इन्द्रियग्राम उजड़ जाता है अर्थात् इन्द्रियाँ अपने विषय-व्यापार से रहित हो जाती हैं, निश्चय ही वह इस प्रकार के लक्षण वाला चिदानन्दैकस्वभावी परमात्मा है। **भावार्थ**–अतीन्द्रियसुख के आस्वादी परमसमाधि में लीन मुनियों को ऐसे परमात्मा का ध्यान ही मुक्ति का कारण होता है, वही अतीन्द्रिय सुख का साधक होने से सब प्रकार से उपादेय है ॥४४॥

अथ यः पञ्चेन्द्रियैः पञ्चविषयान् जानाति स च तैर्न ज्ञायते स परमात्मा भवतीति निरूपयति—

अब, जो पाँचों इन्द्रियों से उनके पाँचों विषयों को जानता है, परन्तु स्वयं उन इन्द्रियों के द्वारा नही जाना जाता, वही परमात्मा है– ऐसा कथन करते है—

जो णिय-करणहिँ पंचहिँ वि पंच वि विसय मुणेइ ।
मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ ॥४५॥

य निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् जानाति ।
ज्ञातः न पञ्चभिः पञ्चभिरपि स परमात्मा भवति ॥४५॥

यो निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् मनुते जानाति । तद्यथा । यः कर्ता शुद्धनिश्चयनयेनातीन्द्रियज्ञानमयोऽपि अनादिवन्धवशात् असद्भूतव्यवहारेणेन्द्रियमयशरीरं गृहीत्वा स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थत्वात्पञ्चेन्द्रियैः कृत्वा पञ्चविषयान् जानाति, इन्द्रियज्ञानेन परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च कथंभूतः । **मुणिउ ण पंचहिं पंचहिं वि सो परमप्पु हवेइ** मतो न ज्ञातो न पञ्चभिरिन्द्रियैः पञ्चभिरपि स्पर्शादिविषयैः । तथाहि– वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानविषयोऽपि पञ्चेन्द्रियैश्च न ज्ञात इत्यर्थः । स एवंलक्षणः परमात्मा भवतीति । अत्र य एव पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादविपरीतेन वीतरागनिर्विकल्पपरमानन्दसमरसीभावसुखरसास्वादपरिणतेन समाधिना ज्ञायते, स एवात्मोपादानसिद्धमित्यादिविशेषणविशिष्टस्योपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य साधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥४५॥

जो णियकरणहिँ पंचहिं पंच वि विसय मुणेइ, पंचहिं पंचहिं वि ण मुणिउ, सो परमप्पु हवेइ ॥४५॥ जो अपनी पाँचों इन्द्रियो द्वारा उनके पाँचो विषयों (स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द) को जानता है अर्थात् जो आत्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, तो भी अनादिबन्ध के कारण असद्भूत व्यवहारनय से इन्द्रियमय शरीर को ग्रहण कर स्वय अर्थ-विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण पाँचों इन्द्रियो के माध्यम से पाँचों विषयों को जानता है, यानी इन्द्रियज्ञान रूप परिणमन करता है परन्तु स्वयं पाँचो इन्द्रियों से तथा पाँचो विषयो से भी नही

जाना जाता, अगोचर रहता है, वही परमात्मा है। भावार्थ—जो पंचेन्द्रियविषय-सुख के आस्वाद से विपरीत, वीतराग निर्विकल्प परमानन्द समरसीभावरूप, सुख के रसास्वादरूप परिणत समाधि के द्वारा जाना जाता है, वही (परमात्मा) उपादानसिद्ध इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट, उपादेयरूप अतीन्द्रिय सुख का साधक होने से आराधने योग्य है ।।४५।।

अथ यस्य परमार्थेन बन्धसंसारौ न भवतस्तमात्मानं व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि इति कथयति—

अब, जिसके परमार्थ से न बन्ध है, न संसार है, उस आत्मा को सब लौकिक व्यवहार छोड़ कर जानो, ऐसा कहते हैं—

जसु परमत्थे बंधु णवि जोइय ण वि संसारु ।
सो परमप्पउ जाणि तुहुँ मणि मिल्लिवि ववहारु ।।४६।।

यस्य परमार्थेन बन्धो नैव योगिन् नापि संसारः ।
तं परमात्मानं जानीहि त्वं मनसि मुक्त्वा व्यवहारम् ।।४६।।

जसु परमत्थें बंधु णवि जोइय ण वि संसारु यस्य परमार्थेन बन्धो नैव हे योगिन् नापि संसारः । तद्यथा—यस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मनस्तद्विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकाल-भवभावरूपः परमागमप्रसिद्धः पञ्चप्रकारः संसारो नास्ति, इत्थंभूतसंसारस्य कारण-भूतप्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षपदार्थाद्विलक्षणो बन्धोऽपि नास्ति, **सो परमप्पउ जाणि तुहुं मणि मिल्लहि ववहारु** तमेवेत्थंभूतलक्षणं परमात्मानं मनसि व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि, वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणेन संसारेण बन्धनेन च रहितः स एवानाकुलत्वलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति तात्पर्यार्थः।।४६।।

जोइय जसु परमत्थे बंधु ण वि, संसारु ण वि, तुहुँ मणि ववहारु मिल्लि वि सो परमप्पउ जाणि ।।४६।। हे योगी ! जिसके निश्चय से न तो बन्ध है और न ही संसार—जिस चिदानन्दैक-स्वभाव शुद्धात्मा के निज स्वभाव से भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप परमागमप्रसिद्ध पाँच प्रकार का संसार नहीं है और इस संसार के कारणभूत प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप, केवल-ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय की प्रगटता रूप मोक्ष से भिन्न बन्ध भी नहीं है, ऐसे लक्षण वाले उस परमात्मा को मन में सब व्यवहार छोड़ कर, वीतराग निर्विकल्पसमाधि में ठहर कर जान, चिन्तन कर। भावार्थ—शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न जो ससार और इसके कारण रूप बन्ध दोनो से रहित है और अनाकुलता लक्षण वाला है, ऐसा वह परमात्मा ही सब प्रकार से उपादेयभूत मोक्षसुख का साधक होने मे आराध्य है।।४६।।

अथ यस्य परमात्मनो ज्ञानं वल्लीवत् ज्ञेयास्तित्वाभावेन निवर्तते न च शक्त्य-भावेनेति कथयति—

अब, जिस परमात्मा का ज्ञान लता के समान ज्ञेयपदार्थों का अभाव होने से रुक जाता है, शक्ति के अभाव के कारण नहीं, सो कहते है—

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ।
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ।।४७।।

ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तिष्ठति ज्ञानं वलित्वा ।
मुक्तानां यस्य पदे विम्बितं परमस्वभाव भणित्वा ।।४७।।

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तथा ज्ञानं तिष्ठति व्यावृत्येति । यथा मण्डपाद्यभावे वल्ली व्यावृत्य तिष्ठति तथा ज्ञेयावलम्बनाभावे ज्ञानं व्यावृत्य तिष्ठति न च ज्ञातृत्वशक्त्यभावेनेत्यर्थः । कस्य संबन्धि ज्ञानम् । **मुक्कहं** मुक्तात्मनां ज्ञानम् । कथंभूतम् । **जसु पय बिंबियउ** यस्य भगवतः पदे परमात्मस्वरूपे विम्बितं प्रतिफलितं तदाकारेण परिणतम् । कस्मात् । **परमसहाउ भणेवि** परमस्वभाव इति भणित्वा मत्वा ज्ञात्वैवेत्यर्थः । अत्र यस्येत्थंभूतं ज्ञानं सिद्धसुखस्योपादेयस्याविनाभूतं स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ।।४७।।

जिम विल्लि थक्कइ, मुक्कहँ णाणु णेयाभावे वलेवि, जसु पय परमसहाउ बिंबियउ भणेवि ।।४७।। जैसे मण्डपादि के अभाव मे बेल आगे चढने से रुक जाती है, उसी प्रकार मुक्त जीवों का ज्ञान भी ज्ञेयपदार्थो का अवलम्बन न मिलने से जानने की शक्ति होने पर भी ठहर जाता है। जिस परमात्मा के केवलज्ञान में अपना उत्कृष्टस्वभाव सवके जानने रूप प्रतिभासित हो रहा है यानी ज्ञान सबको जानने वाला है, सर्वाकार ज्ञान की परिणति है, ऐसा जान कर ज्ञान की आराधना करो। **भावार्थ**—जहाँ तक मण्डप होता है वही तक वेल फैलती है, मण्डप का अभाव हो तो वेल आगे नहीं फैलती, स्थिर हो जाती है, किन्तु हम वेल में फैलने की शक्ति का अभाव नही कह सकते, उसी प्रकार केवली का ज्ञान सर्वव्यापक है, उसके ज्ञान में सर्व पदार्थ प्रतिविम्बित हैं परन्तु ज्ञेय का अवलम्बन न हो तो जानने की शक्ति होने पर भी ज्ञान ठहर जाता है, वही ज्ञान आत्मा का परम स्वभाव है, ऐसा जिसका ज्ञान है, वही शुद्धात्मा उपादेय है ।।४७।।

अथ यस्य कर्माणि यद्यपि सुखदुःखादिकं जनयन्ति तथापि स न जनितो न हृत इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयति—

अब, जिसके कर्म यद्यपि सुखदुःखादिक उत्पन्न करते हैं तो भी वह आत्मा न तो किसी से उत्पन्न हुआ है और न किसी से छीना, पकड़ा या खण्डित किया गया है; ऐसा अभिप्राय मन में रख कर गाथा सूत्र कहते है—

कम्महिँ जासु जणंतहिँ वि णिउ णिउ कज्जु सया वि ।
किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ।।४८।।

कर्मभिः यस्य जनयद्भिरपि निजनिजकार्यं सदापि ।
किमपि न जनितो हृतः नैव तं परमात्मानं भावय ।।४८।।

कर्मभिर्यस्य जनयद्भिरपि । किम् । निजनिजकार्यं सदापि तथापि किमपि न जनितो हृतश्च नैव तं परमात्मानं भावयत । यद्यपि व्यवहारनयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रतिवन्धकानि कर्माणि सुखदुःखादिकं निजनिजकार्यं जनयन्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन अनन्तज्ञानादिस्वरूपं न हृतं न विनाशितं न चाभिनवं जनितमुत्पादितं किमपि यस्यात्मनस्तं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र यदेव कर्मभिर्न हृतं न चोत्पादितं चिदानन्दैकस्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ।।४८।।

कम्महिं सया वि णिउ णिउ कज्जु जणंतहिं वि जासु किं पि ण जणियउ, णवि हरिउ, सो परमप्पउ भावि ।।४८।। कर्म सदा ही अपने-अपने सुख-दुःखादि कार्य को प्रकट करते हैं तथापि जिस आत्मा का न तो कुछ भी नया पैदा किया गया और न ही जिसका हरण, खण्डन या विनाश किया गया, ऐसे उस परमात्मा का तू चिन्तन कर । **भावार्थ**–यद्यपि व्यवहार नय से शुद्धात्मस्वरूप के प्रतिवन्धक [1]ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म सुखदुःखरूप अपने-अपने कार्य को उत्पन्न करते हैं तथापि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा आत्मा का अनन्तज्ञानादिस्वरूप न तो किसी से छीना गया है, न नष्ट किया गया है और न नया पैदा किया गया है, ऐसे परमात्मा का तू वीतराग निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर ध्यान कर । तात्पर्य यह है कि जो जीव पदार्थ कर्मो मे नहीं हरा गया, न उत्पन्न किया गया, वही चिदानन्दस्वरूप उपादेय है ।।४८।।

अथ यः कर्मनिबद्धोऽपि कर्मरूपो न भवति कर्मापि तद्रूपं न संभवति तं परमात्मानं भावयेति कथयति—

अव, जो आत्मा अनादिकाल से कर्मो मे निवद्ध है तो भी कर्मरूप नहीं होता और कर्म भी आत्मस्वरूप नही होते, ऐसा जानकर तू उस परमात्मा का ध्यान कर, ऐसा कहते है—

कम्म-णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि ।
कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ।।४६।।

कर्मनिबद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं कर्म कदापि ।
कर्मापि यो न कदापि स्फुटं त परमात्मान भावय ।।४६।।

---

१. ज्ञानावरण कर्म ज्ञान पर आवरण डालता है, दर्शनावरण कर्म दर्शनगुण को आच्छादित करता है । वेदनीय साता-असाता उत्पन्न करके अतीन्द्रिय सुख को घातता है । मोहनीय सम्यक्त्व व चारित्र को रोकता है । आयुकर्म स्थिति के प्रमाण शरीर में रखता है, अविनाशी भाव को प्रकट नही होने देता, नामकर्म नाना प्रकार गति, जाति शरीरादिक को उत्पन्न करता है, गोत्रकर्म ऊँच-नीच गोत्र मे डालता है और अन्तराय कर्म अनन्त वल को प्रकट नही होने देता ।

कम्मणिवद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि कर्मनिवद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं निश्चितम् । किं न भवति । कर्म कदाचिदपि । तथाहि—यः कर्ता शुद्धात्मोपलम्भाभावेनोपार्जितेन ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्मणा व्यवहारेण बद्धोऽपि शुद्धनिश्चयेन कर्मरूपो न भवति । केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपं त्यक्त्वा कर्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च किंविशिष्टः । **कम्मु वि जो ण कया वि फुडु** कर्मापि यो न कदापि स्फुट निश्चितम् । तद्यथा—ज्ञानावरणादिद्रव्यभावरूपं कर्मापि कर्तृभूतं यः परमात्मा न भवति, स्वकीयकर्मपुद्गलस्वरूपं विहाय परमात्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । **सो परमप्पउ भावि** तमेवंलक्षणं परमात्मानं भावय । देहरागादिपरिणतिरूपं वहिरात्मानं मुक्त्वा शुद्धात्मपरिणतिभावनारूपेऽन्तरात्मनि स्थित्वा सर्वप्रकारोपादेयभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानं भावयेति भावार्थ : ।।४९।।

जो कम्मणिवद्ध वि कया वि फुडु कम्मु णवि होइ, कम्मु वि जो ण कया वि फुडु, सो परमप्पउ भावि ।।४९।। जो आत्मा कर्मो से बँधा हुआ होने पर भी कभी निश्चय से कर्मरूप नहीं होता– जो आत्मा स्वशुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि के अभाव में उपार्जित ज्ञानावरणादि शुभ-अशुभ कर्मो से व्यवहार नय की अपेक्षा बँधा हुआ है तो भी शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा कभी कर्म रूप नही होता अर्थात् अपने केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वरूप को छोड कर कर्म रूप नही परिणमता और ये ज्ञानावरणादि द्रव्य-भावरूप कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं परिणमते अर्थात् अपने पुद्गल स्वरूप को छोड़ कर परमात्मरूप नहीं होते, ऐसे लक्षण वाले परमात्मा का तू ध्यान कर । **भावार्थ**-देहरागादि परिणति रूप वहिरात्मभाव का त्याग कर, शुद्धात्मपरिणति की भावनारूप अन्तरात्मा मे स्थित होकर सब प्रकार से उपादेयभूत विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले परमात्मा का चिन्तन कर ।।४९।।

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये यथा निर्मलो ज्ञानमयो व्यक्तिरूपः शुद्धात्मा सिद्धौ तिष्ठति, तथाभूतः शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण देहेऽपि तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्विंशतिसूत्राणि गतानि । अत ऊर्ध्वं स्वदेहप्रमाणव्याख्यानमुख्यत्वेन पट्सूत्राणि कथयन्ति । तद्यथा—

इस प्रकार त्रिविध-आत्मा का कथन करने वाले पहले महाधिकार में–जैसा निर्मल ज्ञानमय प्रकटरूप शुद्धात्मा सिद्धालय मे विराजमान है, वैसा ही शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा शक्तिरूप से देह में भी स्थित है—इस कथन की मुख्यता से चौबीस दोहासूत्र कहे । इससे आगे आत्मा स्वदेह प्रमाण है—इस कथन की मुख्यता से छह दोहा-सूत्र कहते हैं—

कि वि भणंति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणंति ।
कि वि भणंति जिउ देह-समु सुण्णु वि के वि भणंति ।।५०।।

केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगत जीव जडं केऽपि भणन्ति ।
केऽपि भणन्ति जीवं देहसम शून्यमपि केऽपि भणन्ति ।।५०।।

केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगतं, जीवं केऽपि जडं भणन्ति, केऽपि भणन्ति जीवं देहसमं, शून्यमपि केऽपि वदन्ति । तथाहि——केचन **सांख्यनैयायिकमीमांसका:** सर्वगतं जीवं वदन्ति । **सांख्या:** पुनर्जडमपि कथयन्ति । जैना: पुनर्देहप्रमाणं वदन्ति । बौद्धाश्च शून्यं वदन्तीति । एवं प्रश्नचतुष्टयं कृतमिति भावार्थ: ॥५०॥

कि वि जिउ सव्वगउ भणंति, के वि जिउ जडु भणंति । के वि जिउ सुण्णु वि भणंति कि वि जिउ देहसमु भणंति ॥५०॥ कोई (नैयायिक, वेदान्ती, मीमांसक) जीव को सर्वव्यापक कहते हैं, कोई (सांख्य) जीव को जड़ कहते हैं, कोई (बौद्ध) जीव को शून्य भी कहते हैं, कोई (जैन) जीव को व्यवहार नय की अपेक्षा देहप्रमाण कहते हैं । शिष्य ने ये चार प्रश्न किये, ऐसा भावार्थ है ॥५०॥

अथ वक्ष्यमाणनयविभागेन प्रश्नचतुष्टयस्याप्यभ्युपगमं स्वीकारं करोति——

अब, नय-विभाग की अपेक्षा चारों प्रश्नों को स्वीकार करके इनका समाधान करते हैं—

अप्पा जोइय सव्व-गउ अप्पा जडु वि वियाणि ।
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि ॥५१॥

आत्मा योगिन् सर्वगत: आत्मा जडोऽपि विजानीहि ।
आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व आत्मानं शून्यं विजानीहि ॥५१॥

आत्मा हे योगिन् सर्वगतोऽपि भवति, आत्मानं जडमपि विजानीहि, आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व, आत्मानं शून्यमपि जानीहि । तद्यथा। हे **प्रभाकरभट्ट** वक्ष्यमाणविवक्षितनयविभागेन परमात्मा सर्वगतो भवति, जडोऽपि भवति, देहप्रमाणोऽपि भवति, शून्योऽपि भवति नापि दोष इति भावार्थ: ॥५१॥

जोइय ! अप्पा सव्वगउ, अप्पा जडु वि वियाणि । अप्पा देहपमाणु मुणि, अप्पा सुण्णु वियाणि ॥५१॥ हे योगी ! (प्रभाकर भट्ट !) आत्मा सर्वगत भी है, जड़ भी है, देह प्रमाण भी है और तू इसे शून्य भी जान । नयों की अपेक्षा ऐसा मानने मे कोई दोष नहीं है, यह **भावार्थ** है ॥५१॥

अथ कर्मरहितात्मा केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति तेन कारणेन सर्वगतो भवतीति प्रतिपादयति——

अब, कर्मरहित आत्मा केवलज्ञान से लोक और अलोक दोनों को जानता है, इस कारण से सर्वगत सर्वव्यापक होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अप्पा कम्म-विवज्जियउ केवल-णाणें जेण ।
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ॥५२॥

आत्मा कर्मविवर्जितः केवलज्ञानेन येन ।
लोकालोकमपि मनुते जीव सर्वगः उच्यते तेन ।।५२।।

आत्मा कर्मविवर्जितः सन् केवलज्ञानेन करणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन । तथाहि—अयमात्मा व्यवहारेण केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोऽपि निश्चयनयेन स्वात्मानं जानाति, तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत्सर्वगतो भवति न च प्रदेशापेक्षयेति । कश्चिदाह । यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं, न च निश्चयनयेनेति । परिहारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात् । यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति । अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तदेवोपादेयस्यानन्तसुखस्याभिन्नत्वादुपादेयमित्यभिप्रायः ।।५२।।

अप्पा कम्म-विवज्जियउ केवलणाणें जेण लोयालोउ वि मुणइ, तेण जिय सव्वगु वुच्चइ ।।५२।। यह आत्मा कर्मरहित हुआ केवलज्ञान से जिस कारण से लोक और अलोक को जानता है उसी कारण से हे जीव ! यह सर्वगत कहा जाता है । यह आत्मा व्यवहार नय से केवलज्ञान से लोकालोक को जानता है और देह में स्थित हुआ भी निश्चय नय से अपनी आत्मा को जानता है, इस कारण से व्यवहार नय से ज्ञान की अपेक्षा तो रूपी विषय में चक्षु के समान सर्वगत है, प्रदेशों की अपेक्षा नहीं । कोई शंका करता है कि यदि व्यवहार नय से लोक अलोक को जानता है तो व्यवहार-नय से सर्वज्ञ हुआ, निश्चय नय से नहीं । इसका समाधान करते हैं कि जैसे अपनी आत्मा को तन्मयी होकर जानता है वैसे पर-द्रव्य को तन्मयीपने से नहीं जानता, भिन्न रूप से जानता है अतः व्यवहार से कहा जाता है न कि ज्ञान के अभाव से । यदि फिर निश्चय नय से आत्मद्रव्य के समान तन्मयीभूत होकर पर द्रव्य को भी जाने तो पर के सुख-दुःख, रागद्वेष के ज्ञान होने पर स्वयं भी सुखी-दुःखी रागीद्वेषी होने का बड़ा दूषण उपस्थित होता है । सो ऐसा होता नहीं । यहाँ जिस ज्ञान से व्यापक कहा, वह ज्ञान उपादेय अतीन्द्रिय अनन्त सुख से अभिन्न होने के कारण उपादेय है, यह अभिप्राय है ।।५२।।

अथ येन कारणेन निजवोधं लव्ध्वात्मन इन्द्रियज्ञानं नास्ति तेन कारणेन जडो भवतीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

अव, जिसकारण से आत्मवोध प्राप्त करने पर आत्मा का इन्द्रिय-ज्ञान नहीं रहता, उस कारण से वह जड़ होता है, ऐसा अभिप्राय मन में धारण कर यह गाथासूत्र कहते हैं—

जे णिय-बोह-परिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु ।
इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ।।५३।।

येन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुटयति ज्ञानम् ।
इन्द्रियजनितं योगिन् तेन जीवं जडमपि विजानीहि ।।५३।।

येन कारणेन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुटयति विनश्यति । किं कर्तृ । ज्ञानम् । कथंभूतम् । इन्द्रियजनितं हे योगिन् तेन कारणेन जीवं जडमपि विजानीहि । तद्यथा । छद्मस्थानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञाने सत्यपीन्द्रियजनितं ज्ञानं नास्ति, केवलज्ञानिनां पुनः सर्वदैव नास्ति तेन कारणेन जडत्वमिति । अत्र इन्द्रियज्ञानं हेयमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति भावार्थः ।।५३।।

जे णियबोहपरिट्ठियहँ जीवहँ इंदियजणियउ णाणु तुट्टइ, जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ।।५३।। जिस अपेक्षा आत्मज्ञान में स्थित जीवों के इन्द्रियजनितज्ञान नाश को प्राप्त होता है, हे योगी ! उसी कारण से जीव को जड भी जानो । छद्मस्थों के वीतरागनिर्विकल्प समाधि के काल में स्वसंवेदनज्ञान होने पर भी इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं है और केवलज्ञानियों के तो सदा ही इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं है, अतः इन्द्रियज्ञान के अभाव की अपेक्षा आत्मा जड़ भी कहा जा सकता है । यहाँ पर इन्द्रियज्ञान हेय है और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, यह भावार्थ है ।।५३।।

अथ शरीरनामकर्मकारणरहितो जीवो न वर्धते न च हीयते तेन कारणेन मुक्तश्चरमशरीरप्रमाणो भवतीति निरूपयति—

आगे शरीर नामा नामकर्मरूप कारण से रहित यह जीव न बढ़ता है न घटता है, इस कारण से मुक्तजीव चरमशरीर प्रमाण होता है, ऐसा कहते हैं—

कारण-विरहिउ सुद्ध-जिउ वड्ढइ खिरइ ण जेण ।
चरम-सरीर-पमाणु जिउ जिणवर बोल्लहिँ तेण ।।५४।।

कारणविरहितः शुद्धजीवः वर्धते क्षरति न येन ।
चरमशरीरप्रमाणं जीवं जिनवराः ब्रुवन्ति तेन ।।५४।।

कारणविरहितः शुद्धजीवो वर्धते क्षरति हीयते न येन कारणेन चरमशरीरप्रमाणं मुक्तजीवं जिनवरा भणन्ति तेन कारणेनेति । तथाहि—यद्यपि संसारावस्थायां हानिवृद्धिकारणभूतशरीरनामकर्मसहितत्वाद्धीयते वर्धते च तथापि मुक्तावस्थायां हानिवृद्धिकारणाभावाद् वर्धते हीयते च नैव, शरीरप्रमाण एव तिष्ठतीत्यर्थः । कश्चिदाह—मुक्तावस्थायां प्रदीपवदावरणाभावे सति लोकप्रमाणविस्तारेण भाव्यमिति । तत्र परिहारमाह—प्रदीपस्य योऽसौ प्रकाशविस्तारः स स्वभावज एव न त्वपरजनितः पश्चाद्भाजनादिना साद्यावरणेन प्रच्छादितस्तेन कारणेन तस्यावरणाभावेऽपि प्रकाशविस्तारो घटते एव । जीवस्य पुनरनादिकर्मप्रच्छादितत्वात्पूर्वं स्वभावेन विस्तारो नास्ति । किंरूपसंहार-

विस्तारौ। शरीरनामकर्मजनितौ। तेन कारणेन शुष्कमृत्तिकाभाजनवत् कारणाभावादुपसंहारविस्तारौ न भवतः चरमशरीरप्रमाणेन तिष्ठतीति। अत्र य एव मुक्तौ शुद्धबुद्धस्वभावः परमात्मा तिष्ठति तत्सदृशो रागादिरहितकाले स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ।।५४।।

जेण कारण-विरहिउ सुद्ध जिउ ण वड्ढइ खिरइ, तेण जिणवर जिउ चरमसरीर-पमाणु बोल्लहिं ।।५४।। हानि-वृद्धि के कारणों (शरीरनामकर्म) से रहित शुद्धजीव न बढ़ता है, न घटता है, इसी कारण जिनेन्द्रदेव मुक्तजीव को चरमशरीर प्रमाण कहते हैं। यद्यपि संसार अवस्था में हानिवृद्धि के कारणभूत शरीरनामकर्म सहित होने से घटता-बढ़ता है तथापि मुक्तावस्था में हानिवृद्धि के कारण के अभाव से न घटता है, न बढता है, अपितु चरमशरीर प्रमाण ही रहता है। यहाँ कोई शंका करता है कि मुक्तावस्था में आवरण हट जाने पर दीपक के प्रकाश के सर्वत्र विस्तार की भाँति जीव को सम्पूर्ण लोकविस्तार प्रमाण हो जाना चाहिए, इसका **समाधान** करते हैं कि दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह स्वभाव से होता है, पर से उत्पन्न हुआ नही है, बाद में पात्र आदि से अथवा दूसरे आवरण से आच्छादित किया गया है, आवरण का अभाव होने पर प्रकाश विस्तार रूप हो जाता है। किन्तु अनादिकाल से कर्मों से प्रच्छादित होने से पूर्व जीव का स्वभाव से विस्तार नहीं है। अपितु शरीरनाम कर्म से उत्पन्न संकोच और विस्तार है। अतः सूखी मिट्टी के बर्तन की तरह कारण का अभाव हो जाने से संकोच-विस्तार नहीं होता। (बर्तन गीली मिट्टी से बनता है, जब तक मिट्टी गीली रहती है, बर्तन में संकोच-विस्तार हो सकता है। परन्तु उसके सूख जाने पर फिर बर्तन घटता-बढ़ता नहीं है, ज्यों का त्यो रहता है।) जीव चरमशरीर प्रमाण ही ठहरता है। यहाँ **तात्पर्य** है कि जो शुद्धबुद्धज्ञानस्वभावी परमात्मा मुक्ति में तिष्ठ रहा है, वैसा ही शरीर में भी विराजता है। जबराग का अभाव होता है, उसकाल में यह आत्मा परमात्मा के समान है, वही उपादेय है ।।५४।।

अथाष्टकर्माष्टादशदोपरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केवलज्ञानादिगुणापेक्षया चेति दर्शयति—

अब, आठ कर्मो और अठारह दोपों से रहित होने की अपेक्षा शुद्धात्मा को शून्य कहा जाना है, केवलज्ञानादि गुणों की अपेक्षा नहीं, सो दर्शाते हैं—

अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण।
सुद्धहँ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ।।५५।।

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन।
शुद्धानां एकोऽपि अस्ति नैव शून्योऽपि उच्यते तेन ।।५५।।

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन कारणेन शुद्धात्मनां तन्मध्ये चैकोऽप्यस्ति नैव शून्योऽपि भण्यते तेन कारणेनैवेति। तद्यथा। शुद्धनिश्चयनयेन ज्ञानावरणाद्यष्टद्रव्यकर्माणि क्षुधादिदोपकारणभूतानि क्षुधातृषादिरूपाष्टादशदोपा अपि

कार्यभूता:, अपिशब्दात्सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणरूपेण शुद्धजीविते सत्यपि दशप्राणरूपमशुद्धजीवत्वं च नास्ति तेन कारणेन संसारिणां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण रागादिविभावशून्यं च भवति। मुक्तात्मनां तु व्यक्तिरूपेणापि न चात्मानन्तज्ञानादिगुणशून्यत्वमेकान्तेन बौद्धादिमतवदिति। तथा चोक्तं **पञ्चास्तिकाये–"जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ। ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा"** ॥३५॥ अत्र य एव मिथ्यात्वरागादिभावेन शून्यश्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थ: प्रतिपादित: परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थ: ॥५५॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाविकारमध्ये य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको भणित: स एव परमात्मा निश्चयनयेनासंख्यातप्रदेशोऽपि स्वदेहमध्ये तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं गतम्।

जेण अट्ठ वि बहुविहइँ कम्मइँ णवणव दोस वि एक्कु वि सुद्धहँ णवि अत्थि तेण सुण्णु वि वुच्चइ ॥५५॥ अनेक भेदों वाले आठों ही कर्म और अठारह दोष जिस कारण से शुद्ध आत्मा मे एक भी नहीं है, उस अपेक्षा शुद्धात्मा शून्य भी कहा जाता है। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा इस आत्मा के ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नही है, क्षुधादि दोषों के कारणभूत कर्मो का नाश हो जाने से क्षुधातृषादि अठारह दोष कार्यरूप नही है और अपि शब्द से सत्ता चैतन्य ज्ञान आनन्दादि शुद्ध प्राण होने पर इन्द्रियादि दस अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं अत संसारी जीवों के भी शुद्ध निश्चयनय से शक्तिरूप से रागादि विभावभावों की शून्यता ही है। मुक्तात्माओं के तो प्रकटरूप से भी रागादि से रहितपना है इसलिए विभावों से रहितपने की अपेक्षा शून्य भाव है, इसी अपेक्षा से आत्मा को शून्य भी कहते है किन्तु बौद्धादिमतों के समान अनन्तज्ञानादि गुणो से शून्य कभी नही है— **श्री पंचास्तिकाय** गाथा ३५ में कहा है कि जिनके जीवस्वभाव (प्राणधारणरूप जीवत्व) नही है और सर्वथा उसका अभाव भी नही है, वे देहरहित वचनगोचरातीत सिद्ध है। यहाँ मिथ्यात्वरागादि भाव से शून्य तथा एक चिदानन्द स्वभाव से परिपूर्ण जो परमात्मा कहा गया है, वही उपादेय है, ऐसा तात्पर्य है ॥५५॥

इसप्रकार त्रिविध-आत्मा का प्रतिपादन करने वाले प्रथम महाधिकार में जो ज्ञान की अपेक्षा व्यवहारनय से लोकालोकव्यापक कहा गया है, वही परमात्मा निश्चयनय की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी होने पर भी अपनी देह के प्रमाण रहता है; इस व्याख्यान की मुख्यता से छह दोहासूत्र कहे गये।

तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं कथयति। तद्यथा—

अब, द्रव्य, गुण और पर्याय निरूपण की मुख्यता से तीन गाथा सूत्र कहते हैं—

अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पें जणिउ ण कोइ।
दव्व-सहावें णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ ॥५६॥

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि ।
द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ।।५६।।

आत्मा न जनितः केनापि आत्मना कर्तृभूतेन जनितं न किमपि, द्रव्यस्वभावेन नित्यमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पर्यायो विनश्यति भवति चेति । तथाहि । संसारिजीवः शुद्धात्मसंवित्त्यभावेनोपार्जितेन कर्मणा यद्यपि व्यवहारेण जन्यते स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् कर्माणि जनयति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण कर्मकर्तृभूतेन नरनारकादिपर्यायेण न जन्यते स्वयं च कर्मनोकर्मादिकं न जनयतीति । आत्मा पुनर्न केवलं शुद्धनिश्चयनयेन व्यवहारेणापि न च जन्यते न च जनयति तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन नित्यो भवति, पर्यायार्थिकनयेनोत्पद्यते विनश्यति चेति । अत्राह शिष्यः । मुक्तात्मनः कथमुत्पादव्ययाविति । परिहारमाह । आगमप्रसिद्धयागुरुलघुकगुणहानिवृद्ध्यपेक्षया, अथवा येनोत्पादादिरूपेण ज्ञेयं वस्तु परिणमति तेन परिच्छित्त्याकारेण ज्ञानपरिणत्यपेक्षया । अथवा मुक्तौ संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः शुद्धजीवद्रव्यं ध्रौव्यापेक्षया च सिद्धानामुत्पादव्ययौ ज्ञातव्याविति । अत्र तदेव सिद्धस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ।।५६।।

अप्पा केण वि ण जणियउ, अप्पे कोई ण जणिउ, दव्व सहावें णिच्चु मुणि, पज्जउ विणसइ होइ ।।५६।। यह आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ, इस आत्मा से भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, द्रव्य स्वभाव से इस आत्मा को नित्य जानो, पर्यायभाव से यह विनाशीक है । ससारी जीव शुद्धात्मज्ञान के अभाव से उपार्जित कर्मों के कारण यद्यपि व्यवहार नय से (नर नारकादि पर्यायों में) उत्पन्न होता है और स्वयं भी शुद्धात्मज्ञान से रहित हुआ कर्मों को उत्पन्न करता है तथापि शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा शक्तिरूप से शुद्ध ही है, कर्मो से उत्पन्न हुई नर-नारकादि पर्यायरूप नहीं होता और स्वयं भी कर्म नोकर्मादिक को उत्पन्न नहीं करता । आत्मा पुनः न केवल शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अपितु व्यवहार अपेक्षा भी न उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है, इस कारण से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पन्न होता है और नाश को प्राप्त होता है । यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि मुक्तात्माओ के उत्पाद-व्यय किस तरह हो सकता है ? **समाधान** यह है कि आगमप्रसिद्ध अगुरुलघुगुणहानि—वृद्धि की अपेक्षा—अगुरुलघुगुण की परिणति रूप अर्थपर्याय समय-समय मे आविर्भाव तिरोभाव रूप होती है । इस अर्थपर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय जानना चाहिए । इसमें षट्गुणी हानि—वृद्धि होती है—१. अनन्तभागवृद्धि, २. असंख्यातभाग वृद्धि, ३. सख्यातभागवृद्धि, ४. संख्यातगुणवृद्धि, ५. असंख्यातगुणवृद्धि, ६. अनन्तगुणवृद्धि । १. अनन्तभागहानि, २. असंख्यातभागहानि, ३. सख्यातभागहानि, ४. सख्यातगुणहानि, ५. असख्यातगुणहानि, ६. अनन्तगुणहानि; इनका स्वरूप तो केवलीगम्य है । इनकी अपेक्षा सिद्धों के उत्पाद-व्यय कहा जाता है । **अथवा** सभी ज्ञेय पदार्थ उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप परिणमते हैं, सो सब पदार्थ सिद्धों के ज्ञानगोचर हैं । ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति है, सो जब ज्ञेय पदाथ में उत्पाद-व्यय हुआ, तब ज्ञान में सब प्रतिभासित हुआ इसलिए ज्ञान की परिणति की अपेक्षा उत्पाद-व्यय जानना । **अथवा**

मुक्त होने पर सिद्ध पर्याय का उत्पाद हुआ और संसार-पर्याय का नाश हुआ और द्रव्य स्वभाव से सदा ध्रुव ही है। सिद्ध का स्वरूप सब उपाधियों से रहित है, वही उपादेय है, यह भावार्थ है ॥५६॥

अथ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं प्रतिपादयति—

अब द्रव्य, गुण, पर्याय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुण-पज्जय-जुत्तु।
सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु ॥५७॥

तत् परिजानीहि द्रव्यं त्वं यत् गुणपर्याययुक्तम्।
सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ॥५७॥

तं परियाणहि दव्वु तुहुं जं गुणपज्जयजुत्तु तत्परि समन्ताज्जानीहि द्रव्यं त्वम्। तत्किम्। यद्गुणपर्याययुक्तं, गुणपर्यायस्य स्वरूपं कथयति। **सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु** सहभुवो जानीहि तेषां द्रव्याणां गुणाः, क्रमभुवः पर्याया उक्ता भणिता इति। तद्यथा। गुणपर्ययवद् द्रव्यं ज्ञातव्यम्। इदानीं तस्य तद्द्रव्यस्य गुणपर्यायाः कथ्यन्ते। सहभुवो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः, इदमेकं तावत्सामान्यलक्षणम्। अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः, इति द्वितीयं च। यथा जीवस्य ज्ञानादयः पुद्गलस्य वर्णादयश्चेति। ते च प्रत्येकं द्विविधाः स्वभावविभावभेदेनेति। तथाहि। जीवस्य यावत्कथ्यन्ते। सिद्धत्वादयः स्वभावपर्यायाः केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा असाधारणा इति। अगुरुलघुकाः स्वभावगुणास्तेषामेव गुणानां षड्ढानिवृद्धिरूपस्वभावपर्यायाश्च सर्वद्रव्यसाधारणाः। तस्यैव जीवस्य मतिज्ञानादिविभावगुणा नरनारकादिविभावपर्यायाश्च इति। इदानीं पुद्गलस्य कथ्यन्ते। केवलपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावपर्यायः वर्णान्तरादिरूपेण परिणमनं वा। तस्मिन्नेव परमाणौ वर्णादयः स्वभावगुणा इति, द्व्यणुकादिरूपस्कन्धरूपविभावपर्यायास्तेष्वेव द्व्यणुकादिस्कन्धेषु वर्णादयो विभावगुणा इति भावार्थः। धर्माधर्माकाशकालानां स्वभावगुणपर्यायास्ते च यथावसरं कथ्यन्ते। विभावपर्यायास्तूपचारेण यथा घटाकाशमित्यादि। अत्र शुद्धगुणपर्यायसहितः शुद्धजीव एवोपादेय इति भावार्थः ॥५७॥

जं गुणपज्जयजुत्तु तं तुहुँ दव्वु परियाणहि, ताहँ गुणसहभुव जाणहि पज्जउ कमभुव वुत्तु ॥५७॥ जो गुण और पर्यायों से युक्त है उसे तुम (हे प्रभाकरभट्ट!) द्रव्य जानो। गुण सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमभावी कही जाती हैं। द्रव्य को गुण और पर्याय सहित जानना चाहिए। अब गुण और पर्याय का कथन करते हैं—गुण सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमभावी (नयचक्र), यह एक सामान्य लक्षण है। गुण अन्वयी होते हैं और पर्यायें व्यतिरेकी–यह दूसरा लक्षण है। जैसे जीव के ज्ञानादि गुण हैं और पुद्गल के वर्णादि गुण। ये गुण तो द्रव्य में सहभावी हैं, अन्वयी हैं, सदा-

नित्य है। पर्याय के दो भेद हैं—एक तो स्वभाव, दूसरी विभाव। जीव के सिद्धत्वादि स्वभाव-पर्याय है और केवलज्ञानादि स्वभावगुण हैं। ये जीव मे ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्य में नही। अगुरुलघु आदि स्वभावगुण सब द्रव्यो में पाये जाते हैं। अगुरुलघु गुण का परिणमन षट्गुणी हानिवृद्धि रूप है। यह स्वभाव पर्याय सभी द्रव्यों में है, कोई द्रव्य इसके विना नहीं है, यह अर्थपर्याय कही जाती है सो शुद्ध-पर्याय है। यह शुद्ध पर्याय संसारी जीवों के, सब अजीव पदार्थो के तथा सिद्धों के पाई जाती है और सिद्ध पर्याय तथा केवलज्ञानादि गुण सिद्धों के ही पाया जाता है, दूसरों के नही। संसारी जीवो के मतिज्ञानादि विभावगुण और नर नारकादि विभाव पर्याय पाई जाती है। यह तो जीव द्रव्य के गुण-पर्याय का कथन हुआ—अब पुद्गल के कहते हैं—पुद्गल के परमाणु रूप तो स्वभाव पर्याय और वर्णादि स्वभावगुण और एक वर्ण मे दूसरे वर्ण रूप होना, यह विभावगुणव्यंजन पर्याय तथा एक परमाणु में दो तीन इत्यादि अनेक परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होना ये विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय हैं। द्वयणुकादि स्कन्ध में जो वर्ण आदि हैं, वे विभावगुण कहे जाते हैं और वर्ण से वर्णान्तर होना, रस मे रसान्तर होना, गन्ध से अन्य गन्ध होना— यह विभाव-पर्याय है। परमाणु शुद्ध द्रव्य मे एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और शीत-उष्ण में से एक तथा रूखे-चिकने में से एक, ऐसे दो स्पर्श इस तरह पाँच गुण तो मुख्य हैं; इनके आदि से अस्तित्वादि अनन्तगुण हैं, वे स्वभावगुण कहे जाते हैं और परमाणु का जो आकार वह स्वभाव द्रव्य व्यजन-पर्याय है तथा वर्णादि गुणरूप परिणमन वह स्वभावगुण व्यञ्जन पर्याय हैं। जीव और पुद्गल इन दोनों में तो स्वभाव और विभाव दोनों हैं तथा धर्म-अधर्म-आकाश-काल इन चारो में अस्तित्वादि स्वभाव गुण ही है और अर्थपर्याय षट्गुणी हानिवृद्धिरूप स्वभाव पर्याय सभी के है। धर्मादि के विभावगुण पर्याय नही है। आकाश के घटाकाश आदि का जो कथन है, वह उपचार मात्र है। इन षट् द्रव्यों में शुद्ध गुण, शुद्ध पर्याय सहित जो शुद्ध जीव द्रव्य है, वही उपादेय है, यह भावार्थ है ।।५७।।

अथ जीवस्य विशेषेण द्रव्यगुणपर्यायान् कथयति—

अब, विशेषरूप मे जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय का कथन करते हैं—

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुँ गुण पुणु दंसणु णाणु ।
पज्जय चउ-गइ-भाव तणु कम्म-विणिम्मिय जाणु ।।५८।।

आत्मानं बुध्यस्व द्रव्यं त्वं गुणौ पुनः दर्शनं ज्ञानम् ।
पर्यायान् चतुर्गतिभावान् तनुं कर्मविनिर्मितान् जानीहि ।।५८।।

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुं आत्मानं द्रव्यं बुध्यस्व जानीहि त्वम् । **गुण पुणु दंसणु णाणु** गुणौ पुनर्दर्शनं ज्ञानं च । **पज्जय चउगइभाव तणु कम्मविणिम्मिय जाणु** तस्यैव जीवस्य पर्यायांश्चतुर्गतिभावान् परिणामान् तनुं शरीरं च । कथंभूतान् तान् । कर्म-विनिर्मितान् जानीहीति । इतो विशेषः । शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं द्रव्यं जानीहि । तस्यैवात्मनः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनं गुण इति । तत्र ज्ञानमष्टविधं केवलज्ञानं सकलमखण्डं शुद्धमिति शेषं सप्तकं खण्डज्ञानमशुद्धमिति । तत्र सप्तकमध्ये मत्यादिचतुष्टयं सम्यग्ज्ञानं कुमत्यादित्रयं मिथ्याज्ञानमिति । दर्शनचतुष्टयमध्ये केवल-

दर्शनं सकलमखण्डं शुद्धमिति चक्षुरादित्रयं विकलमशुद्धमिति । किं च । गुणास्त्रिविधा भवन्ति । केचन साधारणाः, केचनासाधारणाः, केचन साधारणासाधारणा इति । जीवस्य तावदुच्यन्ते । अस्तित्वं वस्तुत्वं प्रमेयत्वागुरुलघुत्वादयः साधारणाः, ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः । अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिकं प्रति साधारणम् प्रदेशत्वं पुनः कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेषद्रव्यं प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानम् । एवं शेषद्रव्याणामपि यथासंभवं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥५८॥

तुहुँ अप्पा दव्वु बुज्झहि पुणु दंसणु णाणु गुण, चउ-गइ-भाव तणु कम्म-विणिम्मिय पज्जय जाणु ॥५८॥ तू (हे प्रभाकर भट्ट !) आत्मा को तो द्रव्य जान और दर्शनज्ञान को गुण जान । चार गतियों के भाव तथा शरीर को कर्मजनित विभाव पर्याय जान । इसका विशेष व्याख्यान करते हैं—शुद्ध निश्चयनय मे शुद्धबुद्ध अखण्ड स्वभाव आत्मा को तू द्रव्य जान । उस आत्मा के सविकल्पज्ञान और निर्विकल्प दर्शन को गुण जान । ज्ञान आठ प्रकार का है, इनमें से केवलज्ञान तो पूर्ण, अखण्ड और शुद्ध है तथा शेप सात अपूर्ण, खण्डित और अशुद्ध हैं । इन सात में से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञान ये चार ज्ञान तो सम्यक् ज्ञान हैं और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये मिथ्याज्ञान है । दर्शन-चतुष्टय में केवलदर्शन तो पूर्ण, अखण्ड और शुद्ध है और चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शन अपूर्ण और अशुद्ध है । गुण तीन प्रकार के होते है—कुछ साधारण, कुछ असाधारण, कुछ साधारण-असाधारण । जीव के ये इस प्रकार है—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण है, ज्ञान सुख आदि स्वजाति में साधारण होने पर भी विजाति में पुनः असाधारण होते है । अमूर्तपना पुद्गलद्रव्य के प्रति असाधारण है और आकाशादिक के लिए साधारण । प्रदेशत्व गुण काल की अपेक्षा असाधारण और शेप द्रव्यो के लिए साधारण गुण है । पुद्गल परमाणु को द्रव्य कहते हैं, मूर्तपना पुद्गल का विशेप गुण है और इसी प्रकार शेप द्रव्यों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए । यही भावार्थ है ॥५८॥

अथानन्तसुखस्योपादेयभूतस्याभिन्नत्वात् शुद्धगुणपर्याय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते । तत्राष्टकमध्ये प्रथमचतुष्टयं कर्मशक्तिस्वरूपमुख्यत्वेन द्वितीयचतुष्टयं कर्मफलमुख्यत्वेनेति । तद्यथा ।

अब, उपादेयभूत अतीन्द्रिय सुख से तन्मयी जो निर्विकल्पभाव है, उसकी प्राप्ति के लिए शुद्ध गुण-पर्याय के व्याख्यान की मुख्यता से आठ दोहे कहते है । इन आठ में भी पहले चार दोहों में कर्मसम्बन्ध का व्याख्यान और शेप चार दोहो में कर्मफल का व्याख्यान करेंगे ।

जीवकर्मणोरनादिसम्बन्धं कथयति—

जीव और कर्म का अनादि-सम्बन्ध है, ऐसा कहते है—

जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण ।
कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण जेण ॥५९॥

जीवानां कर्माणि अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन ।
कर्मणा जीवोऽपि जनित: नैव द्वयोरपि आदि: न येन ।।५६।।

जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण जीवानां कर्मणामनादिसंबन्धो भवति हे जीव जनितं कर्म न तेन जीवेन । **कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिं वि आइ ण जेण** कर्मणा कर्तृभूतेन । जीवोऽपि जनितो न द्वयोरप्यादिर्न येन कारणेनेति । इतो विशेष: । जीवकर्मणामनादिसंबन्ध: पर्यायसंतानेन बीजवृक्षवद्व्यवहारनये संबन्ध: कर्म तावत्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावेन जीवेन न तु जनितं तथाविधजीवोऽपि स्वशुद्धात्मसंवित्त्यभावोपार्जितेन कर्मणा नरनारकादिरूपेण न जनित: कर्मात्मेति च द्वयोरनादित्वादिति । अत्रानादिजीवकर्मणोस्संबन्धव्याख्यानेन सदा मुक्त: सदा शिव: कोऽप्यस्तीति निराकृतमिति भावार्थ: ।। तथा चोक्तम्—**मुक्तश्चेत्प्राग्भवे बद्धो नो बद्धो मोचनं वृथा । अबद्धो मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थक: ।। अनादितो हि मुक्तश्चेत्पश्चाद्बन्ध: कथं भवेत् । बन्धनं मोचनं नो चेन्मुञ्चेरर्थो निरर्थक: ।।५६।।**

जिय ! जीवहं कम्मु अणाइ तेण कम्मु ण जणियउ, कम्में वि जीउ णवि जणिउ, जेण दोहिं वि आइ ण ।।५६।। जीव और कर्म का अनादिकालीन सम्बन्ध है, हे आत्मन् ! उस जीव ने कर्म उत्पन्न नही किये, कर्मो ने भी जीव को उत्पन्न नहीं किया क्योंकि इन दोनों का ही आदि नही है अर्थात् दोनों अनादि से हैं । विशेष—पर्यायसन्तान की अपेक्षा व्यवहार नय से जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध बीज और वृक्ष की भांति है, जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज होता है । उसी प्रकार पहले बीजरूप कर्म से देह, फिर देह में नये-नये कर्म तथापि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा जीव विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला ही है । न तो जीव ने ये कर्म उत्पन्न किए है और न स्वशुद्धात्मानुभव के अभाव में उपार्जित कर्म से प्राप्त नरनारकादि पर्याय ने जीव को उत्पन्न किया है । दोनों अनादि से हैं । यहाँ जीव और कर्म के अनादिसम्बन्ध के कथन से इस मान्यता का निराकरण किया है कि आत्मा सदा मुक्त है, सदा शिव है । अन्यत्र कहा भी है जो यह जीव पहले बँधा हो, तभी 'मुक्त' कहना बन सकता है और जो पहले बँधा ही न हो तो फिर 'मुक्त' कैसे ? जो अबद्ध है उसे मुक्त कहना ठीक नहीं । जो विभावबंध मुक्ति मानते हैं, उनका कहना निरर्थक है । जो यह अनादि का मुक्त ही हो तो बाद में बद्ध कैसे हो सकता है ? बद्ध होवे तभी मुक्ति हो सकती है । जो बद्ध ही न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है ।।५६।।

अथ व्यवहारनयेन जीव: पुण्यपापरूपो भवतीति प्रतिपादयति—

अब, व्यवहारनय से जीव पुण्य-पाप रूप होता है, यह प्रतिपादित करते है—

एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु ।
बहुविह-भावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु ।।६०।।

एष व्यवहारेण जीव: हेतुं लब्ध्वा कर्म ।
बहुविधभावेन परिणमति तेन एव धर्म: अधर्म: ।।६०।।

एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु एष प्रत्यक्षीभूतो जीवो व्यवहार-नयेन हेतुं लब्ध्वा । किम् । कर्मेति । **बहुविहभावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु** बहुविधभावेन विकल्पज्ञानेन परिणमति तेनैव कारणेन धर्मोऽधर्मश्च भवतीति । तद्यथा । एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावोऽपि पश्चाद्वयवहारेण वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनाभावेनोपार्जितं शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति । अत्र यद्यपि व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवहिर्द्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकाले साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानन्दैकरूपो मोक्षसुखाभिन्नत्वात् शुद्धजीव उपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥६०॥

एहु जीवडउ ववहारें कम्मु हेउ लहेविणु बहुविहभावें परिणवइ, तेण जि धम्मु अहम्मु ॥६०॥ यह जीव व्यवहारनय से कर्मरूप कारण को प्राप्त कर विकल्पज्ञान मे अनेक रूप परिणमन करता है, इसी से धर्म-अधर्म या पुण्य-पाप रूप होता है। यह जीव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वीतराग चिदानन्द स्वभाव होते हुए भी व्यवहारनय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन के अभाव से उपार्जित शुभाशुभ कर्मों के कारण को प्राप्त कर पुण्यरूप-पापरूप होता है। यद्यपि यह व्यवहारनय मे पुण्य-पापरूप होता है, फिर भी परमात्मा की अनुभूति से तन्मयी जो वीतराग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और आत्म-बाह्य पदार्थों में इच्छा के रोकने रूप तप—इस प्रकार की चतुर्विध निश्चयाराधना की भावना के काल में, इसके (आत्मा के) लिए साक्षात् उपादेय रूप वीतराग परमानन्दैकरूप मोक्षसुख मे अभिन्न शुद्ध जीव ही उपादेय है, यह भावार्थ है ॥६०॥

अथ तानि पुन. कर्माण्यष्टौ भवन्तीति कथयति—

वे कर्म - जिनमे संसारी जीव बँधा है —आठ है, सो कहते है—

ते पुणु जीवहँ जोइया अट्ठ वि कम्म हवंति ।
जेहिँ जि झंपिय जीव णवि अप्प-सहाउ लहंति ॥६१॥

तानि पुनः जीवानां योगिन् अष्टौ अपि कर्माणि भवन्ति ।
यैः एव च्छादिताः जीवाः नैव आत्मस्वभावं लभन्ते ॥६१॥

ते पुणु जीवहं जोइया अट्ठ वि कम्म हवंति तानि पुनर्जीवानां हे योगिन्नष्टावेव कर्माणि भवन्ति । **जेहिं जि झंपिय जीव णवि अप्पसहाउ लहंति** यैरेव कर्मभिर्झंपिताः सन्तो जीवाः सम्यक्त्वाद्यष्टविधस्वकीयस्वभावं न लभन्ते । तद्यथा हि—"**सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं । अगुरुलहुगं अव्वाबाहं अट्ठगुणा हुंति सिद्धाणं** ॥[१] शुद्धात्मादिपदार्थविपये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षायिकसम्यक्त्वमिति भण्यते ।

---

१ कुन्दकुन्द प्राकृत सिद्धभक्ति २०।

जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थयुगपद्विशेषपरिच्छित्तिरूपं केवलज्ञानं भण्यते तत्रैव सामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं भण्यते । केवलज्ञानविषये अनन्तपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनन्तवीर्यं भण्यते । अतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं भण्यते । एक जीवावगाहप्रदेशे अनन्तजीवावगाहदानसामर्थ्यमवगाहनत्वं भण्यते । एकान्तेन गुरुलघुत्वस्याभावरूपेण अगुरुलघुत्वं भण्यते । वेदनीयकर्मोदयजनितसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधगुणश्चेति । इदं सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं संसारावस्थायां किमपि केनापि कर्मणा प्रच्छादितं तिष्ठति यथा तथा कथ्यते । सम्यक्त्वं मिथ्यात्वकर्मणा प्रच्छादितं, केवलज्ञानं केवलज्ञानावरणेन झंपितं, केवलदर्शनं केवलदर्शनावरणेन झंपितम्, अनन्तवीर्यं वीर्यान्तरायेण प्रच्छादितं, सूक्ष्मत्वमायुष्ककर्मणा प्रच्छादितम् । कस्मादिति चेत् । विवक्षितायुःकर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते सत्यतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं त्यक्त्वा पश्चादिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । अवगाहनत्वं शरीरनामकर्मोदयेन प्रच्छादितं, सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितम् । गुरुत्वशब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्वं भण्यते, लघुत्वशब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यत इति । अव्याबाधगुणत्वं वेदनीयकर्मोदयेनेति संक्षेपेणाष्टगुणानां कर्मभिराच्छादनं ज्ञातव्यमिति । तदेव गुणाष्टकं मुक्तावस्थायां स्वकीयस्वकीयकर्मप्रच्छादनाभावे व्यक्तं भवतीति संक्षेपेणाष्टगुणाः कथिताः । विशेषेण पुनरमूर्तत्वनिर्नामगोत्रादयः साधारणासाधारणरूपानन्तगुणाः यथासम्भवमागमाविरोधेन ज्ञातव्या इति । अत्र सम्यक्त्वादिशुद्धगुणस्वरूपः शुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥६१॥

जोइया ! ते पुणु कम्म जीवहं अट्ठ वि हवंति । जेहिँ जि झंपिय जीव अप्प-सहाउ णवि लहंति ॥६१॥ हे योगी ! वे कर्म जीवों के आठ ही होते हैं जिनसे आवृत होने के कारण ये जीव सम्यक्त्वादि अष्ट गुणरूप स्वकीय स्वभाव को उपलब्ध नहीं होते । वे आठ गुण इस प्रकार हैं— "सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध— ये आठ गुण सिद्धों के होते हैं ।" शुद्ध आत्मादि पदार्थों में विपरीत श्रद्धानरहित परिणाम को **क्षायिक सम्यक्त्व** कहा जाता है । तीन लोक तीन काल के पदार्थों को एक ही समय में विशेष रूप से जानने वाला **केवलज्ञान** कहलाता है और सब पदार्थों को एक ही समय में सामान्यरूप से देखने को **केवलदर्शन** कहते हैं । केवलज्ञान में अनन्तज्ञायक शक्ति है, उसे **अनन्तवीर्य** कहते हैं । अतीन्द्रियज्ञान से अमूर्तिक सूक्ष्म पदार्थों को जानना **सूक्ष्मत्व गुण** है । एक जीव के अवगाह क्षेत्र में अनन्त जीवों को अवगाहन देने की सामर्थ्य को **अवगाहन गुण** कहते हैं । एकान्त से गुरुता और लघुता का अभाव अर्थात् न गुरु न लघु—उसे **अगुरुलघु गुण** कहते हैं । वेदनीय कर्म के उदय के अभाव से उत्पन्न हुआ समस्त बाधारहित जो निराबाध गुण उसे **अव्याबाध** कहते हैं । ये सम्यक्त्वादि आठ गुण संसारावस्था में किस-किस कर्म से आच्छादित हैं सो कहते हैं । सम्यक्त्वगुण मिथ्यात्व कर्म (दर्शन मोहनीय) से आच्छादित है । केवलज्ञान गुण केवलज्ञानावरण से आवृत है, केवल दर्शनावरण से केवलदर्शन आच्छादित है । वीर्यान्तराय कर्म से अनन्तवीर्य गुण ढका है, सूक्ष्मत्व गुण आयुकर्म से ढका है । कैसे ? विवक्षित

आयुकर्म के उदय से भवान्तर को प्राप्त होने पर अतीन्द्रिय ज्ञान विषय सूक्ष्मपने को छोड़ कर इन्द्रिय ज्ञान का धारक होना है अतः स्थूल को तो जानता है, सूक्ष्म को नहीं। शरीर नाम कर्मोदय से अवगाहन गुण आच्छादित है। सिद्धावस्था के योग्य विशिष्ट अगुरुलघु गुण[1] नाम कर्मोदय से ढक गया है। गुरु शब्द से उच्चगोत्रजनित महत्त्व-गुरुपना और लघु शब्द से नीचगोत्रजनित तुच्छपना व्यक्त होता है। इस प्रकार उभय कारणभूत गोत्रकर्मोदय से विशिष्ट अगुरुलघु गुण आच्छादित है। वेदनीयकर्मोदय से अव्याबाधगुण ढका हुआ है। इस प्रकार संक्षेप में कर्मों के द्वारा आठ गुणों का आच्छादन जानना चाहिए। ये ही आठ गुण मुक्तावस्था में अपने-अपने कर्म के आच्छादन के अभाव में प्रकट हो जाते हैं। संक्षेप में, इन आठ गुणों का कथन किया। विशेषता से अमूर्तपना, निर्नाम-गोत्रपना, साधारण-असाधारणरूप अनन्त गुण यथासम्भव आगमप्रमाण से जानने चाहिए। **भावार्थ** यह है कि सम्यक्त्वादि शुद्ध गुण स्वरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है ॥६१॥

अथ विषयकषायासक्तानां जीवानां ये कर्मपरमाणवः सबद्धा भवन्ति तत्कर्मेति कथयति—

अब, विषयकषायासक्त जीवों के जो कर्मपरमाणु बँधते हैं, वे कर्म कहे जाते हैं, सो कहते हैं—

विसय-कसायहिँ रंगियहँ ते अणुया लग्गंति ।
जीव-पएसहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति ॥६२॥

विषयकषायैः रञ्जितानां ये अणवः लगन्ति ।
जीवप्रदेशेषु मोहितानां तान् जिनाः कर्म भणन्ति ॥६२॥

विसयकसायहिं रंगियहं जे अणुया लग्गंति विषयकषायैः रंजितानां रक्तानां ये परमाणवो लग्ना भवन्ति। **जीवपएसिंहिं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति**। केषु लग्ना भवन्ति। जीवप्रदेशेषु। केषाम्। मोहितानां जीवानाम्। तान् कर्मस्कन्धान् जिनाः कर्मेति कथयन्ति। तथाहि। शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणैर्विषयकषायैः रक्तानां स्वसंवित्त्य-भावोपार्जितमोहकर्मोदयपरिणतानां च जीवानां कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धास्तैलम्रक्षितानां मलपर्यायवदष्टविधज्ञानावरणादिकर्मरूपेण परिणमन्तीत्यर्थः ॥ अत्र य एव विषयकषाय-काले कर्मोपार्जनं करोति स एव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले साक्षादुपादेयो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥६२॥ इति कर्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम्।

विसय-कसायहिँ रंगियहँ मोहियहँ जीव-पएसहँ ते अणुया लग्गंति, ते जिण कम्म भणंति ॥६२॥ विषयकषायों से रंजित मोही जीवों के जीवप्रदेशों में जो परमाणु लगते हैं, उन परमाणुओं के स्कन्धों को जिनेन्द्रदेव कर्म कहते हैं। **भावार्थ** शुद्धात्मानुभूति से भिन्न विषय-कषायों में अनुरक्त, आत्मज्ञान के अभाव से उपार्जित मोहकर्मोदय से परिणत जीवों के कर्मवर्गणा योग्य स्कन्ध उसी-

---

१ देखिए—पं रतनचन्दमुख्तार व्यक्तित्व और कृतित्व—द्वितीय खण्ड पृ. ११७० से ११७६। तथा वृहज्जिनोपदेश प. जवाहरलाल शास्त्री कृत : पृ. ३३३-३४७ (शंका समाधान ६४७ से ६५८)।

प्रकार आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों में परिणमन करते हैं जिस प्रकार तेल से शरीर के चिकना होने पर धूलि लग कर मैल रूप में परिणमती है। जो यहाँ विषय-कषाय के काल में कर्मोपार्जन करता है, वही परमात्मा वीतरागनिर्विकल्प समाधि के काल से साक्षात् उपादेय होता है ॥६२॥ इस प्रकार कर्मस्वरूप के कथन की मुख्यता से चार दोहे कहे।

अथापीन्द्रियचित्तसमस्तविभावचतुर्गतिसंतापाः शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनिता इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयन्ति—

आगे, पाँच इन्द्रिय, मन, समस्त विभाव और चतुर्गति के दुःख - ये सब शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा कर्मजनित हैं— ऐसा अभिप्राय मन में रख कर दोहा—सूत्र कहते हैं—

पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल-विभाव।
जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगइ-ताव ॥६३॥

पञ्चापि इन्द्रियाणि अन्यत् मनः अन्यदपि सकलविभावः।
जीवानां कर्मणा जनिताः जीव अन्यदपि चतुर्गतितापाः ॥६३॥

पंच वि इंदिय अण्णु वि सयलवि भाव पञ्चेन्द्रियाणि अन्यन्मनः अन्यदपि पुनरपि समस्तविभावः। **जीवहं कम्मइं जणिय जिय अण्णु वि चउगइताव** एते जीवानां कर्मणा जनिता हे जीव, न केवलमेते अन्यदपि पुनरपि चतुर्गतिसंतापास्ते कर्मजनिता इति। तद्यथा। अतीन्द्रियात् शुद्धात्मनो यानि विपरीतानि पञ्चेन्द्रियाणि, शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितान्मनो विपरीतमनेकसंकल्पविकल्पजालरूपं मनः, ये च शुद्धात्मतत्त्वानुभूतेर्विलक्षणाः समस्तविभावपर्यायाः, वीतरागपरमानन्दसुखामृतप्रतिकूलाः समस्तचतुर्गतिसंतापाः दुःखदाहाश्चेति सर्वेऽप्येते अशुद्धनिश्चयनयेन स्वसंवेद्याभावोपार्जितेन कर्मणा निर्मिता जीवानामिति। अत्र परमात्मद्रव्यात्प्रतिकूलं यत्पञ्चेन्द्रियादिसमस्तविकल्पजालं तद्धेयं तद्विपरीतं स्वशुद्धात्मतत्त्वं पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषादिसमस्तविकल्परहितं परमसमाधिकाले साक्षादुपादेयमिति भावार्थः ॥६३॥

पंच वि इंदिय अण्णु, मणु वि सयलविभाव अण्णु, चउगइ-ताव वि अण्णु, जिय जीवहँ कम्मइँ जणिय ॥६३॥ पाँचों ही इन्द्रियाँ भिन्न हैं, मन और रागादि सब विभाव परिणाम अन्य हैं, चारों गतियों के दुःख भी अन्य हैं, हे जीव ! ये सब जीवों के कर्म से उत्पन्न हुए हैं। अतीन्द्रिय शुद्धात्मा से विपरीत जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प से रहित आत्मा से विपरीत अनेक संकल्प-विकल्प समूहरूप जो मन है और शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति से भिन्न जो राग-द्वेष, मोहादिरूप सब विभाव पर्याय हैं, वे सब आत्मा से भिन्न हैं तथा वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृत से प्रतिकूल जो चतुर्गति के महान् दुःखदायी सन्ताप हैं वे सब भी जीव पदार्थ से भिन्न हैं। ये सभी अशुद्धनिश्चयनय से आत्मज्ञान के अभाव से उपार्जित कर्मों से जीव के उत्पन्न हुए हैं। यहाँ पर परमात्म द्रव्य से विपरीत जो पाँचों इन्द्रियों को आदि लेकर सब विकल्प जाल है, वे सब हेय हैं; उससे विपरीत पाँचों

इन्द्रियों के विषयो की अभिलाषादि समस्त विकल्पों से रहित अपना शुद्धात्मतत्त्व ही परमसमाधि के काल मे साक्षात् उपादेय है, यही भावार्थ है ।।६३।।

अथ सांसारिकसमस्तसुखदुःखानि शुद्धनिश्चयनयेन जीवानां कर्म जनयतीति निरूपयति—

अब, सांसारिक समस्त सुख-दुःख शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जीवों के कर्म से उत्पन्न होते हैं, सो कहते हैं—

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ ।।६४।।

दुःखमपि सुखमपि बहुविधं जीवानां कर्म जनयति ।
आत्मा पश्यति मनुते पर निश्चयः एव भणति ।।६४।।

दुक्खु वि सुक्खु वि बहुविहउ जीवहं कम्मु जणेइ दुःखमपि सुखमपि । कथंभूतम् । बहुविधं जीवानां कर्म जनयति । **अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउं भणेइ** आत्मा पुनः पश्यति जानाति परं नियमेन निश्चयनयः एवं ब्रुवते इति । तथाहि—अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकवीतरागसौख्यात् प्रतिकूलं सांसारिकसुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयेन कर्मजनितं भवति । आत्मा पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थः सन् वस्तु वस्तुस्वरूपेण पश्यति जानाति च न च रागादिकं करोति । अत्र पारमार्थिकसुखाद्विपरीतं सांसारिकसुखदुःखविकल्पजालं हेयमिति तात्पर्यार्थः ।।६४।।

जीवहँ बहुविहउ दुक्खु वि सुक्खु वि कम्मु जणेइ । अप्पा देक्खइ पर मुणइ, एउँ णिच्छउ भणेइ ।।६४।। जीवो के अनेक तरह के दुःख और सुख कर्म ही उत्पन्न करता है । आत्मा उपयोगमयी होने से देखता है और केवल जानता है, यह निश्चयनय कहता है । **भावार्थ**–निराकुल पारमार्थिक वीतराग सुख से प्रतिकूल सांसारिक सुख-दुःख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जीवजनित हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा कर्मजनित है, आत्मा तो वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर हुआ वस्तु को वस्तु के स्वरूप में देखता-जानता है, रागादिक नही करता । यहाँ पारमार्थिक सुख से विपरीत जो सासारिक सुख-दुःखरूप विकल्प जाल है, वह हेय है, यह तात्पर्य है ।।६४।।

अथ निश्चयेन बंधमोक्षौ कर्म करोतीति प्रतिपादयति—

अब यह प्रतिपादित करते है कि निश्चय नय से बन्ध और मोक्ष कर्मजनित ही हैं—

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ।।६५।।

बन्धमपि मोक्षमपि सकल जीव जीवानां कर्म जनयति ।
आत्मा किमपि करोति नैव निश्चय एवं भणति ।।६५।।

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहं कम्मु जणेइ बन्धमपि मोक्षमपि समस्तं हे जीव जीवानां कर्म कर्तृ जनयति **अप्पा किंपि [किंचि] वि कुणइ णवि णिच्छउ एउं भणेइ** आत्मा किमपि न करोति बन्धमोक्षस्वरूपं निश्चय एवं भणति । तद्यथा । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबन्धं तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावबन्धं तथा नयद्वयेन द्रव्य-भावमोक्षमपि यद्यपि जीवः करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धनिश्चय-नयेन न करोत्येव भणति । कोऽसौ । निश्चय इति । अत्र य एव शुद्धनिश्चयेन बन्धमोक्षौ न करोति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥६५॥

जिय ! बंधु वि मोक्खु वि सयलु जीवहँ कम्मु जणेइ । अप्पा किं पि वि णवि कुणइ, णिच्छउ एउँ भणेइ ॥६५॥ हे जीव ! बन्ध और मोक्ष सबको जीवों के कर्म ही उत्पन्न करते है । आत्मा कुछ भी नही करता । निश्चयनय ऐसा कहता है । भावार्थ–अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मबन्ध को और अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भावकर्मबन्ध को तथा दोनों नयों से द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष को यद्यपि जीव करता है तथापि शुद्ध पारिणामिक परम भाव के ग्रहण करने वाले शुद्ध निश्चयनय से नही करता है । यहाँ जो शुद्धनिश्चय नय से बन्ध और मोक्ष का कर्त्ता नही है, वही शुद्धात्मा उपादेय है—यह अभिप्राय है ॥६५॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

आगे, दोहासूत्रों की स्थलसंख्या से बाहर प्रक्षेपक का कथन करते है—

सो णत्थि त्ति पएसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि ।
जिण-वयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो ॥६५*१॥

न नास्ति इति प्रदेशः चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ।
जिनवचनं न लभमानः यत्र न भ्रमितः जीवः ॥६५*१॥

सो णत्थि त्ति पएसो स प्रदेशो नास्त्यत्र जगति । स किम् । **चउरासीजोणि-लक्खमज्झम्मि जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो** चतुर्लक्षेषु मध्ये भूत्वा जिनवचनमलभमानो यत्र न भ्रमितो जीव इति । तथाहि । भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानः सन्नयं जीवोऽनादिकाले यत्र चतुरशीतियोनिलक्षेपु मध्ये भूत्वा न भ्रमित. सोऽत्र कोऽपि प्रदेशो नास्ति इति । अत्र यदेव भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिन-वचनमलभमानो भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयात्मसुखप्रतिपादकत्वादुपादेयमिति तात्प-र्यार्थः ॥६५*१॥

सो णत्थि त्ति पएसो जत्थ चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि जिणवयणं ण लहंतो जीवो ण डुलुडुल्लिओ ॥६५*१॥ इस जगत् में ऐसा कोई भी प्रदेश-स्थान नही है जहाँ चौरासी लाख योनियों मे होकर जिनवचन को नही प्राप्त करते हुए यह जीव नही भटका हो । निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के

प्रतिपादक जिनवचन को नहीं पाते हुए यह जीव अनादि काल से चौरासी लाख योनियों में होकर जहाँ न घूमा हो ऐसा जगत् में एक भी प्रदेश नहीं है। यहाँ अभिप्राय यह है कि जिस भेदाभेदरत्नत्रय के प्रतिपादक जिनवचन के न पाने से यह जीव भटका है, वे ही जिनवचन उपादेय-आत्मसुख के प्रतिपादक होने के कारण उपादेय हैं, आराधने योग्य हैं, यह तात्पर्य है ॥६५*१॥

अथात्मा पङ्गुवत् स्वयं न याति न चैति कर्मैव नयत्यानयति चेति कथयति—

अब, पङ्गु के समान आत्मा भी स्वयं न कहीं जाता है, न आता है, कर्म ही इसको ले जाते हैं और लाते है, ऐसा कहते हैं—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥६६॥

आत्मा पङ्गोः अनुहरति आत्मा न याति न आयाति।
भुवनत्रयस्य अपि मध्ये जीव विधिः आनयति विधिः नयति ॥६६॥

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ आत्मा पङ्गोरनुहरति सदृशो भवति अयमात्मा न याति न चागच्छति। क्व। **भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ** भुवनत्रयस्यापि मध्ये हे जीव विधिरानयति विधिर्नयतीति। तद्यथा। अयमात्मा शुद्धनिश्चयेनानन्तवीर्यत्वात् शुभाशुभकर्मरूपनिगलद्वयरहितोऽपि व्यवहारेण अनादिसंसारे स्वशुद्धात्मभावनाप्रतिबन्धकेन मनोवचनकायत्रयेणोपार्जितेन कर्मणा निर्मितेन पुण्यपापनिगलद्वयेन दृढतरं बद्धः सन् पंगुवद्भूत्वा स्वयं न याति न चागच्छति स एवात्मा परमात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतेन विधिशब्दवाच्येन कर्मणा भुवनत्रये नीयते तथैवानीयते चेति। अत्र वीतरागसदानन्दैकरूपात्सर्वप्रकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्भिन्नं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्धेयमिति भावार्थः ॥६६॥ इति कर्मशक्तिस्वरूपकथनस्थले सूत्राष्टकं गतम्।

जिय! अप्पा पंगुह अणुहरइ, अप्पु ण जाइ ण एइ। भुवणत्तयहँ वि मज्झि विहि आणइ विहि णेइ ॥६६॥ हे जीव! यह आत्मा पंगु के समान है। स्वयं न कहीं जाता है, न आता है तीनों लोको में इस जीव को कर्म ही ले जाता है और कर्म ही लाता है। यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय से अनन्तवीर्य का धारी होने से शुभाशुभ कर्मरूप बन्धन से रहित है, तो भी व्यवहारनय से अनादिसंसार में स्वशुद्धात्मभावना के प्रतिबन्धक मन-वचन-काय से उपार्जित कर्मों से निर्मित पुण्यपापरूप बेड़ियो से दृढतर बँधा हुआ होने के कारण पंगु के समान होकर अपने आप न तो जाता है, न आता है। वही आत्मा परमात्मा की प्राप्ति के प्रतिबन्धक, विधि शब्द से वाच्य कर्मों से तीनों लोकों में लाया-ले जाया जाता है। यहाँ, वीतराग परम आनन्दरूप, सब प्रकार से उपादेयभूत परमात्मा से भिन्न जो शुभाशुभ कर्म हैं, वे हेय है, यह भावार्थ है ॥६६॥ इस प्रकार कर्मशक्तिस्वरूप को बताने वाले आठ दोहासूत्र कहे।

अत ऊर्ध्वं भेदाभेदभावनामुख्यतया पृथक्-पृथक् स्वतन्त्रसूत्रनवकं कथयति—

अब, भेदाभेदभावना की मुख्यता से पृथक्-पृथक् नौ स्वतन्त्र सूत्र कहते हैं—

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोई ।।६७।।

आत्मा आत्मा एव परः एव परः आत्मा परः एव न भवति ।
पर एव कदाचिदपि आत्मा नैव नियमेन प्रभणन्ति योगिनः ।।६७।।

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ आत्मात्मैव पर एव परः आत्मा पर एव न भवति । **परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोई** पर एव कदाचिदप्यात्मा नैव भवति नियमेन निश्चयेन भणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति । परमयोगिन इति । तथाहि । शुद्धात्मा केवलज्ञानादिस्वभावः शुद्धात्मात्मैव परः कामक्रोधादिस्वभावः पर एव पूर्वोक्तः परमात्माभिधानं तदेकस्वस्वभावं त्यक्त्वा कामक्रोधादिरूपो न भवति । कामक्रोधादिरूपः परः क्वापि काले शुद्धात्मा न भवतीति परमयोगिनः कथयन्ति । अत्र मोक्षसुखादुपादेयभूतादभिन्नः कामक्रोधादिभ्यो भिन्नो यः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ।।६७।।

अप्पा अप्पु जि, परु परु जि, अप्पा परु ण जि होइ । परु जि कयाइ वि अप्पु णवि, णियमें जोई पभणहिं ।।६७।। आत्मा आत्मा ही है, पर पदार्थ पर ही है, आत्मा तो परद्रव्य नहीं होता और परद्रव्य भी कभी आत्मा नहीं होता, ऐसा निश्चय से योगीश्वर कहते हैं । शुद्धात्मा तो केवलज्ञानादि स्वभाव है, शुद्धात्मस्वरूप ही है, परवस्तु जो काम-क्रोधादि स्वभाव है, वह पर वस्तु—भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म—ही है । पूर्वोक्त परमात्मा संज्ञा वाला आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव को छोड कर काम-क्रोधादिरूप नहीं होता है । कामक्रोधादिरूप पर ही हैं, ये कभी शुद्धात्मा नहीं होते और शुद्धात्मा कभी इन रूप नहीं होता, ऐसा योगीश्वर कहते हैं । (संसार-अवस्था में यह आत्मा अशुद्ध निश्चयनय से कामक्रोधादिरूप हो गया है तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा निज भावरूप ही है ।) यहाँ उपादेयरूप मोक्षसुख से अभिन्न और काम-क्रोधादिक से भिन्न जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है, यह अभिप्राय है ।।६७।।

अथ शुद्धनिश्चयेनोत्पत्तिं मरणं बन्धमोक्षौ न करोत्यात्मेति प्रतिपादयति—

अब, शुद्धनिश्चयनय से आत्मा जन्म, मरण, बन्ध और मोक्ष नहीं करता है, यह प्रतिपादित करते हैं—

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ ।।६८।।

नापि उत्पद्यते नापि म्रियते बन्धं न मोक्षं करोति ।
जीवः परमार्थेन योगिन् जिनवरः एवं भणति ॥६८॥

नाप्युत्पद्यते नापि म्रियते बन्धमोक्षं च न करोति । कोऽसौ कर्ता । जीवः । केन परमार्थेन हे योगिन् जिनवर एव ब्रूते कथयति । तथाहि । यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य जीवितमरणशुभाशुभबन्धान् करोति । शुद्धात्मानुभूतिसद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन न करोति । अत्राह शिष्यः । यदि शुद्धद्रव्यार्थिकलक्षणेन शुद्धनिश्चयेन मोक्षं च न करोति तर्हि शुद्धनयेन मोक्षो नास्तीति तदर्थमनुष्ठानं वृथा । परिहारमाह । मोक्षो हि बन्धपूर्वकः, स च बन्धः शुद्धनिश्चयेन नास्ति, तेन कारणेन बन्धप्रतिपक्षभूतो मोक्षः सोऽपि शुद्धनिश्चयेन नास्ति यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बन्धो भवति तदा सर्वदैव बन्ध एव । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । एकः कोऽपि पुरुषः शृङ्खलाबद्धस्तिष्ठति द्वितीयस्तु बन्धनरहितस्तिष्ठति यस्य बन्धभावो मुक्त इति व्यवहारो घटते, द्वितीयं प्रति मोक्षो जातो भवत इति यदि भण्यते तदा कोपं करोति । कस्माद्बन्धाभावे मोक्षवचनं कथं घटत इति । तथा जीवस्यापि शुद्धनिश्चयेन बन्धाभावे मुक्तवचनं न घटते इति । अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो मुक्तजीवसदृशः स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥६८॥

जोइया परमत्थें जिउ ण उप्पज्जइ, ण वि मरइ, ण बंधु मोक्खु करेइ । एउँ जिणवरु भणेइ ॥६८॥ हे योगी ! परमार्थ मे विचार किया जावे तो यह जीव न तो उत्पन्न होता है, न मरता है और न बन्ध-मोक्ष को करता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते है । **भावार्थ**–यद्यपि आत्मा शुद्धात्मानुभूति के अभाव मे शुभ-अशुभ उपयोगरूप परिणमन कर जीवन, मरण, शुभ, अशुभ कर्मबन्ध करता है और शुद्धात्मानुभूति के सद्भाव में शुद्धोपयोग से परिणत हो कर मोक्ष को करता है तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से न बन्ध को करता है, न मोक्ष को । यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि यदि शुद्ध द्रव्यार्थिक स्वरूप शुद्ध निश्चयनय से मोक्ष का भी कर्ता नही है, तो ऐसा समझना चाहिए कि शुद्ध नय मे मोक्ष ही नही है. तो फिर उसके लिए प्रयत्न करना वृथा है । इसका **उत्तर** देते हैं –मोक्ष बन्धपूर्वक है, वह बन्ध शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा होता नही, इस कारण से बन्ध का प्रतिपक्षी मोक्ष भी शुद्ध निश्चय नय से नही है । यदि शुद्ध निश्चय नय से बन्ध होता, तो हमेशा बन्ध ही रहता, कभी बन्ध का अभाव नही होता । इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त कहते है—कोई एक पुरुष सांकल मे बँधा हुआ है, दूसरा कोई पुरुष बन्धनरहित है इनमें से जो बँधा है, उसके छूटने पर मुक्त हुआ, यह व्यवहार घटित होता है किन्तु दूसरे के लिए यह कहे कि वह मुक्त हुआ तो वह क्रोध करता है (कि मैं बँधा ही कब था जो अब आप मुझे 'मुक्त' कहते हैं) क्योंकि बन्ध के अभाव में 'मुक्त' वचन का व्यवहार घटित नहीं होता । इसी प्रकार यह जीव शुद्ध निश्चयनय से बँधा हुआ नही है अतः इसे मुक्त कहना ठीक नही है । बंध भी व्यवहारनय से है और मुक्त भी व्यवहारनय

से। यहाँ यह अभिप्राय है कि सिद्ध समान यह अपना शुद्धात्मा वीतराग निर्विकल्पसमाधि में लीन पुरुषों को उपादेय है ॥६८॥

अथ निश्चयनयेन जीवस्योद्भवजरामरणरोगलिङ्गवर्णसंज्ञा नास्तीति कथयन्ति—

निश्चयनय से जीव के जन्म, जरा, मरण, रोग, लिंग, वर्ण और संज्ञा नहीं है, ऐसा कहते हैं—

अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण।
णियमिं अप्पु वियाणि तुहुँ जीवहँ एक्क वि सण्ण ॥६६॥

अस्ति न उद्भवः जरामरणं रोगाः अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः।
नियमेन आत्मन् विजानीहि त्वं जीवस्य एकापि संज्ञा ॥६६॥

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिंग वि वण्ण अस्ति न न विद्यते। किं किं नास्ति। **उब्भउ** उत्पत्तिः जरामरणं रोगा अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः **णियमिं वियाणि तुहुं जीवहं एक्क वि सण्ण** नियमेन निश्चयेन हे आत्मन् हे जीव विजानीहि त्वम्। कस्य नास्ति। जीवस्य न केवलमेतन्नास्ति संज्ञापि नास्तीति। अत्र संज्ञाशब्देनाहारादिसंज्ञा नामसंज्ञा वा ग्राह्या। तथाहि। वीतरागनिर्विकल्पसमाधेर्विपरीतैः क्रोधमानमायालोभप्रभृतिविभावपरिणामैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान्युद्भवादीनि शुद्धनिश्चयेन न सन्ति जीवस्य। ते कस्मान्न सन्ति। केवलज्ञानाद्यनन्तगुणैः कृत्वा निश्चयेनानादिसंतानागतोद्भवादिभ्यो भिन्नत्वादिति। अत्र उपादेयरूपानन्तसुखाविनाभूतशुद्धजीवात्तत्मकाशाद्यानि भिन्नान्युद्भवादीनि तानि हेयानीति तात्पर्यार्थः ॥६६॥

अप्पु जीवहँ उब्भउ न, जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण, एक्क सण्ण वि ण अत्थि, तुहुँ णियमिं वियाणि ॥६६॥ हे आत्मन्! जीव के जन्म नहीं है; जरा, मरण, रोग, चिह्न, वर्ण, आहारादिक एक भी संज्ञा वा नाम नहीं है, ऐसा तू निश्चय से जान। वीतरागनिर्विकल्पसमाधि से विपरीत जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव परिणाम हैं, उनसे उपार्जित कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए जन्म-मरण आदि अनेक विकार है, वे शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं क्योंकि निश्चयनय से आत्मा केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है और अनादि सन्तान से प्राप्त जन्म-जरा-आदि सब से पूर्णतः भिन्न है। यहाँ उपादेय रूप अनन्त सुख का धाम जो शुद्ध जीव है, उससे भिन्न जन्मादिक सब त्याज्य है, एक आत्मा ही उपादेय है, यह **अभिप्राय** जानना ॥६६॥

यद्युद्भवादीनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न सन्ति तर्हि कस्य सन्तीति प्रश्ने देहस्य भवन्तीति प्रतिपादयति—

यदि शुद्ध निश्चयनय से जन्म-मरणादि जीव के नहीं हैं तो किसके हैं? ऐसा **प्रश्न** करने पर **समाधान** करते हैं कि ये सब देह के हैं—

देहहँ उब्भउ जर-मरणु देहहँ वण्णु विचित्तु ।
देहहँ रोय वियाणि तुहुँ देहहँ लिंगु विचित्तु ।।७०।।

देहस्य उद्भवः जरामरणं देहस्य वर्णः विचित्रः ।
देहस्य रोगान् विजानीहि त्वं देहस्य लिङ्गं विचित्रम् ।।७०।।

देहस्य भवति । किं किम् । उब्भउ उत्पत्तिः जरामरणं च वर्णो विचित्रः । वर्णशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च श्वेतादि ब्राह्मणादि वा गृह्यते । तस्यैव देहस्य रोगान् विजानीहीति, लिङ्गमपि लिङ्गशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गं यतिलिङ्गं वा ग्राह्यं चित्तं मनश्चेति । तद्यथा—शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयभावनाप्रतिकूलैः रागद्वेषमोहैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयसंपन्ना जन्ममरणादिधर्मा यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्य सन्ति तथापि निश्चयनयेन देहस्येति ज्ञातव्यम् । अत्र देहादिममत्वरूपविकल्पजालं त्यक्त्वा यदा वीतरागसदानन्दैकरूपेण सर्वप्रकारोपादेयभूतेन परिणमति तदा स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः ।।७०।।

तुहुँ देहहँ उब्भउ, जरमरणु, देहहँ विचित्तु वण्णु, देहहँ रोय, देहहँ विचित्तु लिंगु वियाणि ।।७०।। गुरुदेव कहते हैं कि हे शिष्य ! तू देह के जन्म-जरा-मरण होते हैं, देह के अनेक रंग (श्वेत श्याम रक्त पीत हरित) अथवा वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र) होते हैं, देह के रोग होते हैं, देह के अनेक प्रकार के लिंग-स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि होते हैं, ऐसा जान । **भावार्थ**-शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान आचरण रूप अभेद रत्नत्रय की भावना से प्रतिकूल राग-द्वेष, मोहादि से उपार्जित कर्मों के उदय से सम्पन्न जन्म-मरणादि धर्म यद्यपि व्यवहारनय से जीव के हैं तथापि निश्चयनय से देह के ही जानने चाहिए । यहाँ पर देहादिक में ममतारूप विकल्पजाल को छोड़कर जब यह जीव वीतराग सदानन्दरूप सब तरह उपादेय रूप निज भावों से परिणमता है तब इसके लिए स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय जानो ।।७०।।

अथ देहस्य जरामरणं दृष्ट्वा मा भयं जीव कार्षीरिति निरूपयति—
अब यह कहते हैं कि हे जीव ! देह के जरा-मरण देख कर तू भय मत कर—

देहहँ पेक्खिवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ।।७१।।

देहस्य दृष्ट्वा जरामरणं मा भयं जीव कार्षीः ।
यः अजरामरः ब्रह्मा परः तं आत्मानं मन्यस्व ।।७१।।

देहहं पेक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि देहसंबन्धि दृष्ट्वा । किम् । जरामरणम् । मा भयं कार्षीः हे जीव । अयमर्थो यद्यपि व्यवहारेण जीवस्य जरामरणं तथापि शुद्धनिश्चयेन देहस्य न च जीवस्येति मत्वा भयं मा कार्षीः । तर्हि किं कुरु ।

जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि यः कश्चिदजरामरो जरामरणरहितब्रह्मशब्द-वाच्यः शुद्धात्मा । कथंभूतः । परः सर्वोत्कृष्टस्तमित्थंभूतं परं ब्रह्मस्वभावमात्मानं जानीहि पञ्चेन्द्रियविषयप्रभृतिसमस्तविकल्पजालं मुक्त्वा परमसमाधौ स्थित्वा तमेव भावयेति भावार्थः ।।७१।।

जीव ! देहहँ जर-मरणु पेक्खिवि भउ मा करेहि । जो अजरामरु परु बँभु सो अप्पाणु मुणेहि ।।७१।। हे जीव ! देह की वृद्धावस्था और मरण देखकर तू भय मत कर, जो अजर-अमर-परब्रह्म हैं, उसे ही तू आत्मा जान । यद्यपि व्यवहारनय से जीव के जरा-मरण हैं तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा ये जीव के नहीं है, देह के हैं । तू अपने चित्त मे ऐसा समझ कि जो कोई जरा-मरण रहित अखण्ड परब्रह्म है, वैसा ही मेरा स्वरूप है, शुद्धात्मा सर्वोत्कृष्ट है, ऐसा तू अपना स्वभाव जान । पञ्चेन्द्रियों के विषयादि समस्त विकल्प समूहों को छोड़कर परमसमाधि मे स्थिर होकर स्वशुद्धात्मा का ही ध्यान कर; यह भावार्थ है ।।७१।।

अथ देहे छिद्यमानेऽपि भिद्यमानेऽपि शुद्धात्मानं भावयेत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं प्रतिपादयति—

अब, देह के छिद-भिद जाने पर भी तू शुद्धात्मा का ध्यान कर, ऐसा अभिप्राय मन में रख कर सूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव-तीरु ।।७२।।

छिद्यतां भिद्यतां यातु क्षयं योगिन् इदं शरीरम् ।
आत्मानं भावय निर्मल येन प्राप्नोपि भवतीरम् ।।७२।।

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु छिद्यतां वा द्विधा भवतु भिद्यतां वा छिद्रीभवतु क्षयं वा यातु हे योगिन् इद शरीरं तथापि त्व कि कुरु । **अप्पा भावहि णिम्मलउ** आत्मानं वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं भावय । किंविशिष्टम् । निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम् । येन किं भवति । **जिं पावहि भवतीरु** येन परमात्मध्यानेन प्राप्नोपि लभसे त्वं हे जीव । किम् । भवतीरं संसारसागरावसान-मिति अत्र योऽसौ देहस्य छेदनादिव्यापारेऽपि रागद्वेषादिक्षोभमकुर्वन् सन् शुद्धात्मानं भाव-यतीति संपादनादर्वाङ्मोक्षं स गच्छतीति भावार्थ. ।।७२।।

जोइय एहु सरीरु छिज्जउ भिज्जउ खउ जाउ, णिम्मलउ अप्पा भावहि, जिं भवतीरु पावहि ।।७२।। हे योगी ! यह शरीर छिद जावे-दो टुकडे हो जावे, अथवा भिद जावे-छिद्र सहित हो जावे, नाश को प्राप्त हो जावे तो भी तू क्या कर ? अपने निर्मल आत्मा का ही ध्यान कर अर्थात् वीतराग चिदानन्द शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म रहित अपने आत्मा का ही

चिन्तन कर, जिससे तू भवसागर का पार पाएगा। भावार्थ-जो इस देह के छेदनादि व्यापार के होने पर भी रागद्वेष क्षोभ आदि न करते हुए शुद्धात्मा को ध्याता है, वह थोड़े ही काल में मोक्ष को प्राप्त करता है ।।७२।।

अथ कर्मकृतभावानचेतनं द्रव्यं च निश्चयनयेन जीवाद्भिन्नं जानीहीति कथयति-

अब कहते है कि कर्मकृत भावों को और अचेतन द्रव्य शरीरादि को निश्चयनय से जीव से भिन्न जानो—

कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु ।
जीव-सहावहँ भिण्णु जिय णियमिं बुज्झहि सव्वु ।।७३।।

कर्मणः संबन्धिनः भावाः अन्यत् अचेतन द्रव्यम् ।
जीवस्वभावात् भिन्नं जीव नियमेन बुध्यस्व सर्वम् ।।७३।।

कम्महं केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु कर्मसम्बन्धिनो रागादिभावा अन्यत् चाचेतनं देहादिद्रव्यं एतत्पूर्वोक्तं **अप्पसहावहं भिण्णु** जिय विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वरूपादात्मस्वभावान्निश्चयेन भिन्नं पृथग्भूतं हे जीव **णियसि बुज्झहि सव्वु** नियमेन निश्चयेन बुध्यस्व जानीहि सर्वं समस्तमिति । अत्र मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-कषाययोगनिवृत्तिपरिणामकाले शुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ।।७३।।

जिय कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु सव्वु णियमिं जीव-सहावहँ भिण्णु बुज्झहि ।।७३।। हे जीव ! कर्मजन्य रागादि भाव और शरीरादिक अचेतन पदार्थ इन सबको नियम से जीव के स्वभाव से भिन्न जानो । ये सब कर्मोदयजनित हैं, आत्मा का स्वभाव विशुद्ध ज्ञानदर्शनमयी है। भावार्थ यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों की निवृत्ति रूप परिणाम-काल मे शुद्धात्मा ही उपादेय है ।।७३।।

अथ ज्ञानमयपरमात्मनः सकाशादन्यत्परद्रव्यं मुक्त्वा शुद्धात्मानं भावयेति निरूपयति—

अब कहते है कि ज्ञानमयी परमात्मा से भिन्न पर-द्रव्य को छोड़कर तू शुद्धात्मा की भावना कर—

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ ।।७४।।

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्य. परः भाव. ।
त त्यक्त्वा जीव त्वं भावय आत्मस्वभावम् ।।७४।।

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ आत्मानं मुक्त्वा । किंविशिष्टम् । ज्ञानमयं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणराशिं निश्चयात् अन्यो भिन्नोऽभ्यन्तरे

मिथ्यात्वरागादिवहिर्विषये देहादिपरभावः **सो छंडेविणु जीव तुहुं भावहि अप्पसहाउ** तं पूर्वोक्तं शुद्धात्मनो विलक्षणं परभावं छंडयित्वा त्यक्त्वा हे जीव त्वं भावय। कम्। स्वशुद्धात्मस्वभावम्। किंविशिष्टम्। केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपकार्यसमयसार-साधकमभेदरत्नत्रयात्मककारणसमयसारपरिणतमिति। अत्र तमेवोपादेयं जानीहीत्य-भिप्रायः ॥७४॥

जीव ! तुहुं णाणमउ अप्पा मेल्लिवि अण्णु परायउ भाउ सो छंडेविणु अप्पसहाउ भावहि ॥७४॥ हे जीव ! तू ज्ञानमयी आत्मा से भिन्न अन्य जो पर-भाव है उन्हे छोडकर अपने शुद्ध आत्म-स्वभाव का ध्यान कर। भावार्थ-केवलज्ञानादि अनन्त गुणों के समूह आत्मा से भिन्न जो मिथ्यात्व-रागादि अन्तर के भाव तथा देहादि बाहर के पर-भाव हैं, उन्हे त्याग कर केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय रूप कार्यसमयसार का साधक जो अभेदरत्नत्रयरूप कारण समयसार है, उस रूप परिणत हुए अपने शुद्धात्म स्वभाव का चिन्तन कर और उसे ही उपादेय समझ ॥७४॥

अथ निश्चयेनाष्टकर्मसर्वदोषरहितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहितमात्मानं जानीहीति कथयति—

आगे, निश्चयनय से तू आत्मा को आठ कर्म और सब दोषों से रहित तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित जान—

अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु।
दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु ॥७५॥

अष्टभ्यः कर्मभ्यः बाह्यं सकलैः दोषैः त्यक्तम्।
दर्शनज्ञानचारित्रमय आत्मानं भावय निश्चितम् ॥७५॥

अट्ठहं कम्महं बाहिरउ सयलहं दोसहं चत्तु अष्टकर्मभ्यो बाह्यं शुद्धनिश्चयेन ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मभ्यो भिन्नं मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपसर्वदोषैस्त्यक्तम्। पुनश्च किंविशिष्टम्। **दंसणणाणचरित्तमउ** दर्शनज्ञानचारित्रमयं शुद्धोपयोगाविनाभूतैः स्वशुद्धा-त्मसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्निर्वृत्तं **अप्पा भावि णिरुत्तु** तमित्थंभूतमात्मानं भावय। दृष्ट-श्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा भावयेत्यर्थः। **णिरुत्तु** निश्चितम्। अत्र निर्वाणसुखादुपादेयभूतादभिन्नः समस्तभावकर्मद्रव्यकर्मभ्यो भिन्नो योऽसौ शुद्धात्मा स एवाभेदरत्नत्रयपरिणतानां भव्यानामुपादेय इति भावार्थः ॥७५॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये पृथक् पृथक् स्वतन्त्रं भेदभावना-स्थलसूत्रनवकं गतम्।

अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु दंसण णाण चरित्तमउ अप्पा णिरुत्त भावि ॥७५॥ शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से रहित और मिथ्यात्वरागादि सब

दोषों से रहित, शुद्धोपयोग के साथ रहने वाले अपने सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र रूप आत्मा का निश्चय से ध्यान कर। देखे, सुने और भोगे हुए भोगों की आकांक्षा रूप निदानबन्धादि समस्त विभाव परिणामों को छोड़ कर निजस्वरूप की भावना कर। यहाँ उपादेयभूत निर्वाणसुख से अभिन्न और सब भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से भिन्न जो शुद्धात्मा है, वही अभेद रत्नत्रय को धारण करने वाले भव्यों को उपादेय है, यह भावार्थ हुआ ॥७५॥ ऐसे त्रिविध आत्मा का स्वरूप कहने वाले प्रथम अधिकार में पृथक्-पृथक् स्वतंत्र भेद-भावना के स्थल में नौ दोहे कहे।

तदनन्तरं निश्चयसम्यग्दृष्टिमुख्यत्वेन स्वतन्त्रसूत्रमेकं कथयति—

अब निश्चय सम्यग्दृष्टि की मुख्यता से एक स्वतन्त्र दोहा सूत्र कहते हैं—

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्माइट्ठि हवेइ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुच्चेइ ॥७६॥

आत्मना आत्मानं जानन् जीवः सम्यग्दृष्टिः भवति।
सम्यग्दृष्टिः जीवः लघु कर्मणा मुच्यते ॥७६॥

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ आत्मनात्मानं जानन् सन् जीवो वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनान्तरात्मना स्वशुद्धात्मानं जानन्ननुभवन् सन् जीवः कर्ता वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भवति। निश्चयसम्यक्त्वभावनायां फलं कथ्यते **सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइं मुच्चेइ** सम्यग्दृष्टिः जीवो लघु शीघ्रं ज्ञानावरणादिकर्मणा मुच्यते इति। अत्र येनैव कारणेन वीतरागसम्यग्दृष्टिः किल कर्मणा शीघ्रं मुच्यते तेनैव कारणेन वीतरागचारित्रानुकूलं शुद्धात्मानुभूत्यविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वमेव भावनीयमित्यभिप्रायः। तथा चोक्तं **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यैर्मोक्षप्राभृते** निश्चयसम्यक्त्वलक्षणम्—"**सद्दव्वरओ सवणो सम्मादिट्ठी हवेइ णियमेण। सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥**" ॥७६॥

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्माइट्ठि हवेइ, सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुच्चेइ ॥७६॥ अपने को अपने से जानता हुआ यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यग्दृष्टि जीव शीघ्र कर्मों से मुक्त हो जाता है। यह आत्मा वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में परिणत हुआ अन्तरात्मा होकर अपनी शुद्धात्मा का ज्ञान और अनुभव करते हुए वीतरागसम्यग्दृष्टि होता है तब निश्चयसम्यक्त्व भावना के फलस्वरूप ज्ञानावरणादि कर्मों से शीघ्र मुक्त हो जाता है। यहाँ **अभिप्राय** यह है कि जिस कारण से वीतरागसम्यग्दृष्टि होकर यह जीव कर्मों से शीघ्र छूट जाता है वही कारणरूप वीतरागचारित्र के अनुकूल शुद्धात्मानुभूति का अविनाभावी वीतरागसम्यक्त्व ही ध्याने योग्य है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने **मोक्षप्राभृत** में निश्चयसम्यक्त्व का लक्षण ऐसा ही कहा है—"जो मुनि स्व द्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा में रत है, वह नियम से सम्यग्दृष्टि है और वही सम्यक्त्व भावरूप परिणमन करता हुआ दुष्ट आठ कर्मों का क्षय करता है" ॥७६॥

अत ऊर्ध्वं मिथ्यादृष्टिलक्षणकथनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तद्यथा—

अब, इससे आगे मिथ्यादृष्टि के लक्षण-कथन की मुख्यता से आठ दोहे कहते हैं—

पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहु-विह-कम्मडा जें संसारु भमेइ ।।७७।।

पर्यायरक्तो जीवः मिथ्यादृष्टिः भवति ।
बध्नाति बहुविधकर्माणि येन संसारं भ्रमति ।।७७।।

पज्जयरत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ पर्यायरक्तो जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति परमात्मानुभूतिरुचिप्रतिपक्षभूताभिनिवेशरूपा व्यावहारिकमूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलान्तर्भाविनी मिथ्या वितथा व्यलीका च सा दृष्टिरभिप्रायो रुचिः प्रत्ययः श्रद्धानं यस्य स भवति मिथ्यादृष्टिः । स च किंविशिष्टः । नरनारकादिविभावपर्यायरतः । तस्य मिथ्यापरिणामस्य फलं कथ्यते । **बंधइ बहुविहकम्मडा जें संसारु भमेइ** बध्नाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं भ्रमति, येन मिथ्यात्वपरिणामेन शुद्धात्मोपलब्धेः प्रतिपक्षभूतानि बहुविधकर्माणि बध्नाति तैश्च कर्मभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं परिभ्रमतीति । तथा चोक्तं **मोक्षप्राभृते** निश्चयमिथ्यादृष्टिलक्षणम्–"**जो पुणु परदव्वरओ मिच्छाइट्ठी हवेइ सो साहू । मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं** ।।" पुनश्चोक्तं तत्रैव—"**जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा । आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेयव्वा** ।।" अत्र स्वसंवित्तिरूपाद्वीतरागसम्यक्त्वात् प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं हेयमिति भावार्थः ।।७७।।

पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ, बहुविहकम्मडा बंधइ जें संसारु भमेइ ।।७७।। पर्याय मे अनुरक्त जीव मिथ्यादृष्टि होता है, वह अनेक प्रकार के कर्म बाँधता है जिनसे ससार में परिभ्रमण करता रहता है । परमात्मानुभूति की रुचि से विपरीत, तीन मूढता आठ मद, आठ मल, छह अनायतन रूप पच्चीस दोषों से युक्त जो मिथ्या दृष्टि, अभिप्राय, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धान जिसके है, वह मिथ्यादृष्टि है । वह मिथ्यादृष्टि नर-नारकादि विभाव पर्यायों में लीन रहता है और मिथ्यात्व परिणाम से शुद्धात्मा के अनुभव से विपरीत अनेक कर्म बाँधता है जिनसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूपी पंच प्रकार के संसार में भटकता रहता है । **मोक्षपाहुड में श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने निश्चय मिथ्यादृष्टि का लक्षण ऐसा ही कहा है—"जो साधु पर-द्रव्य में रत है, रागी है; वह मिथ्यादृष्टि होता है । वह मिथ्यात्व भावरूप परिणमन करता हुआ दुष्ट अष्ट कर्मों से बँधता है ।" उन्होने यह भी कहा है कि जो जीव विभाव पर्यायों-नर-नारकादि पर्यायो में लीन है, उन्हे पर-समय कहा गया है और जो जीव आत्म स्वभाव मे स्थित है, वे स्वसमय जानने योग्य है । (**प्रवचनसार गाथा ९४**) । यहाँ भावार्थ यह है कि आत्मज्ञान रूपी वीतराग सम्यक्त्व से विपरीत जो मिथ्यात्व है, वह हेय है ।।७७।।

अथ मिथ्यात्वोपार्जितकर्मशक्तिं कथयति—

अब, मिथ्यात्व से उपार्जित कर्मो की शक्ति का कथन करते हैं—

कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्ज-समाइँ ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिँ ताइँ ॥७८॥

कर्माणि दृढघनचिक्कणानि गुरुकाणि वज्रसमानि ।
ज्ञानविचक्षणं जीवं उत्पथे पातयन्ति तानि ॥७८॥

कम्मइं दिढघणचिक्कणइं गरुवइं वज्जसमाइं कर्माणि भवन्ति । किंविशिष्टानि । दृढानि वलिष्ठानि घनानि निबिडानि चिक्कणान्यपनेतुमशक्यानि विनाशयितुमशक्यानि गुरुकाणि महान्ति वज्रसमान्यभेद्यानि च । इत्थंभूतानि कर्माणि किं कुर्वन्ति । **णाणवियक्खणु जिवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं** ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पथे पातयन्ति । तानि कर्माणि युगपल्लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानाद्यनन्तगुणविचक्षणं दक्षं जीवमभेदरत्नत्रयलक्षणान्निश्चयमोक्षमार्गात्प्रतिपक्षभूत उन्मार्गे पातयन्तीति । अत्रायमेवाभेदरत्नत्रयरूपो निश्चयमोक्षमार्ग उपादेय इत्यभिप्रायः ॥७८॥

ताइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्ज-समाइँ कम्मइँ णाणवियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिँ ॥७८॥ वे बलिष्ठ, बहुत, विनाश करने को अशक्य अतः चिकने, भारी और वज्र के समान अभेद्य कर्म ज्ञानादिगुण से विचक्षण जीव को खोटे मार्ग में पटक देते हैं । एक साथ लोकालोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से विचक्षण जीव को वे संसार के कारणभूत कर्म उनके ज्ञानादि गुणों का आच्छादन करके अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग से विपरीत खोटे मार्ग में डाल देते हैं । यहाँ अभिप्राय यह है कि अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग ही उपादेय है ॥७८॥

अथ मिथ्यापरिणत्या जीवो विपरीतं तत्त्वं जानातीति निरूपयति—

अब कहते है कि मिथ्यात्व परिणति से यह जीव तत्त्व को विपरीत जानता है—

जिउ मिच्छत्तेँ परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।
कम्म-विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥७९॥

जीवः मिथ्यात्वेन परिणतः विपरीतं तत्त्वं मनुते ।
कर्मविनिर्मितान् भावान् तान् आत्मानं भणति ॥७९॥

जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ जीवो मिथ्यात्वेन परिणतः सन् विपरीतं तत्त्वं जानाति, शुद्धात्मानुभूतिरुचिविलक्षणेन मिथ्यात्वेन परिणतः सन् जीवः परमात्मादितत्त्वं च यथावद् वस्तुस्वरूपमपि विपरीतं मिथ्यात्वरागादिपरिणतं जानाति । ततश्च किं करोति । **कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ** कर्मविनिर्मितान् भावान् तानात्मानं भणति, विशिष्टभेदज्ञानाभावाद्गौरस्थूलकृशादिकर्मजनितदेहधर्मान् जानाती-

त्यर्थः। अत्र तेभ्यः कर्मजनितभावेभ्यो भिन्नो रागादिनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति तात्पर्यम् ॥७९॥

जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ तच्चु विवरिउ मुणेइ। कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥७९॥ यह जीव मिथ्यात्व से परिणत होकर तत्त्वो के स्वरूप को विपरीत श्रद्धान करता है और कर्मों मे रचे गए भावो को अपने कहता है। वस्तु का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है तो भी यह मिथ्यात्वी जीव वस्तु के स्वरूप को विपरीत जानता है, अपना जो शुद्धज्ञानादि सहित स्वरूप है उसको मिथ्यात्व रागादि रूप जानता है अर्थात् भेदविज्ञान के अभाव से गोरा, काला, मोटा, दुवला आदि कर्मजनित देह के स्वरूप को अपना जानता है। इसी बुद्धि से ससार में परिभ्रमण करता है। यहाँ उन कर्मजनित भावों से भिन्न रागादिनिवृत्ति के काल मे स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है, यह **भावार्थ है ॥७९॥**

अथानन्तरं तत्पूर्वोक्तकर्मजनितभावान् येन मिथ्यापरिणामेन कृत्वा वहिरात्मा-आत्मनि योजयति तं परिणामं सूत्रपञ्चकेन विवृणोति—

अव उन परिणामों का पाँच दोहासूत्रों में कथन करते है जिन कर्मजनित भावों को मिथ्यात्व परिणाम से वहिरात्मा अपनी आत्मा से जोडता है—

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ॥८०॥

अहं गौर. अहं श्याम. अहमेव विभिन्नः वर्णः।
अहं तन्वङ्ग. स्थूलः अह एतं मूढं मन्यस्व ॥८०॥

अहं गौरो गौरवर्णः, अहं श्यामः श्यामवर्णः, अहमेव भिन्नो नानावर्णः मिश्रवर्णः। क्व। वर्णविपये रूपविपये। पुनश्च कथंभूतोऽहम्। तन्वङ्गः कृशाङ्गः। पुनश्च कथंभूतोऽहम्। स्थूलः स्थूलशरीरः। इत्थंभूतं मूढात्मानं मन्यस्व। एवं पूर्वोक्तमिथ्यापरिणामपरिणतं जीवं मूढात्मानं जानीहीति। अयमत्र भावार्थः। निश्चयनयेनात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् गौरस्थूलादिभावान् सर्वथा हेयभूतानपि सर्वप्रकारोपादेयभूते वीतरागनित्यानन्दैकस्वभावे शुद्धजीवे यो योजयति स विपयकपायाधीनतया स्वशुद्धात्मानुभूतेश्च्युतः सन् मूढात्मा भवतीति ॥८०॥ अथ—

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु हउँ तणु-अंगउँ, हउँ थूलु, एहउँ मूढउ मण्णु ॥८०॥ मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मै ही अनेक वर्ण वाला हूँ, मैं दुवले शरीर वाला हूँ, मैं मोटा हूँ, इस प्रकार मानने वाले मिथ्यात्वी जीव को तू मूढ मान। **भावार्थ**—निश्चयनय से आत्मा से भिन्न कर्मजनित गौर-स्थूलादि भाव सर्वथा हेय हैं, जो जीव इनको सब प्रकार से उपादेयभूत वीतराग नित्यानन्द स्वभाव वाले शुद्ध जीव में जोडता है, वह विपयकषायों की आधीनतावश अपनी शुद्धात्मानुभूति से च्युत हुआ मूढात्मा है ॥८०॥

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउँसर इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥८१॥

अहं वरः ब्राह्मणः वैश्यः अहं अहं क्षत्रियः अहं शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री अहं मन्यते मूढः विशेषम् ॥८१॥

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु अहं वरो विशिष्टो ब्राह्मणः अहं वैश्यो वणिग् अहं क्षत्रियोऽहं शेषः शूद्रादिः । पुनश्च कथंभूतः । **पुरिसु णउंसउ इत्थि हउं मण्णइ मूढु विसेसु** पुरुषो नपुंसकः स्त्रीलिङ्गोऽहं मन्यते मूढो विशेषं ब्राह्मणादिविशेषमिति । इदमत्र तात्पर्यम् । यन्निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नानपि कर्मजनितान् ब्राह्मणादिभेदान् सर्वप्रकारेण हेयभूतानपि निश्चयनयेनोपादेयभूते वीतरागसदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि योजयति संबद्धान् करोति । कोऽसौ कथंभूतः । अज्ञानपरिणतः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितो मूढात्मेति ॥८१॥ अथ—

मूढु विसेसु मण्णइ, हउँ वरु बंभणु, हउँ वइसु, हउँ खत्तिउ हउँ सेसु, हउँ पुरिसु णउँसर इत्थि ॥८१॥ मिथ्यादृष्टि जीव अपने को ऐसा विशिष्ट मानता है कि मैं सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं स्त्री हूँ, । भावार्थ—निश्चयनय से परमात्मा से भिन्न इन कर्मजनित ब्राह्मणादि भेदों को सब प्रकार से हेयभूत होते हुए भी निश्चयनय से उपादेयभूत वीतराग सदा आनन्द स्वभाव निजशुद्धात्मा में जोड़ता है अर्थात् अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, नपुंसक मानता है, वह (जीव) निज शुद्धात्म तत्त्व की भावना से रहित हुआ, अज्ञान से परिणत मूढात्मा है ॥८१॥

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥८२॥

तरुणः वृद्धः रूपवान् शूरः पण्डितः दिव्यः ।
क्षपणकः वन्दकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥८२॥

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु तरुणो यौवनस्थोऽहं वृद्धोऽहं रूपस्व्यहं शूरः सुभटोऽहं पण्डितोऽहं दिव्योऽहम् । पुनश्च किंविशिष्टः । **खवणउ वंदउ सेवडउ** क्षपणको दिगम्बरोऽहं वन्दको बौद्धोऽहं श्वेतपटादिलिङ्गधारकोऽहमिति मूढात्मा सर्वं मन्यत इति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि व्यवहारेणाभिन्नान् तथापि निश्चयेन वीतरागसहजानन्दैकस्वभावात्परमात्मनः भिन्नान् कर्मोदयोत्पन्नान् तरुणवृद्धादिविभावपर्यायान् हेयानपि साक्षादुपादेयभूते स्वशुद्धात्मतत्त्वे योजयति । कोऽसौ । ख्यातिपूजालाभादिविभावपरिणामाधीनतया परमात्मभावनाच्युतः सन् मूढात्मेति ॥८२॥ अथ—

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु खवणउ वंदउ सेवडउ सव्वु मूढउ मण्णइ ।।८२।। मैं तरुण हूँ, वृद्ध हूँ, रूपवान् हूँ, शूर हूँ, पण्डित हूँ, श्रेष्ठ हूँ, दिगम्बर हूँ, बौद्ध हूँ, श्वेताम्बर हूँ, इत्यादि सब शरीर के भेदों को मूर्ख अपने मानता है। यहाँ **तात्पर्य** यह है कि यद्यपि व्यवहारनय से आत्मा से अभिन्न तथापि निश्चयनय से वीतराग सहजानन्द एक स्वभावमय परमात्मा से भिन्न, कर्मोदय से उत्पन्न तरुण, वृद्ध आदि विभाव पर्यायों को हेय होते हुए भी साक्षात् उपादेयभूत स्वशुद्धात्म तत्त्व में जोड़ता है अर्थात् उन्हे अपने, आत्मा के मानता है। वह अज्ञानी जीव ख्याति, पूजा, धनलाभ आदि विभाव परिणामो की आधीनता से परमात्म भावना से रहित हुआ मूढ़ात्मा ही है ।।८२।।

जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु ।
माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ।।८३।।

जननी जनन: अपि कान्ता गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यम् ।
मायाजालमपि आत्मीयं मूढ: मन्यते सर्वम् ।।८३।।

जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु जननी माता जनन: पितापि कान्ता भार्या गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यं सुवर्णादि यत्तत्सर्वं **मायाजालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु** मायाजालमप्यसत्यमपि कृत्रिममपि आत्मीयं स्वकीयं मन्यते । कोऽसौ । मूढो मूढात्मा । कतिसंख्योपेतमपि । सर्वमपीति । अयमत्र भावार्थ: । जनन्यादिकं-परस्वरूपमपि शुद्धात्मनो भिन्नमपि हेयस्याशेषनारकादिदु:खस्य कारणत्वाद्धेयमपि साक्षादुपादेयभूतानाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यादभिन्ने वीतरागपरमानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मतत्त्वे योजयति । स क: । मनोवचनकायव्यापारपरिणत: स्वशुद्धात्मद्रव्यभावना-शून्यो मूढात्मेति ।।८३।। अथ—

जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु सव्वु मायाजालु वि मूढउ अप्पणउ मण्णइ ।।८३।। माता, पिता, स्त्री, घर, पुत्र, मित्र आदि सब परिवारजन और द्रव्य-यानी सोना चांदी आदि सर्व परिग्रह—ये सब मायाजाल है, असत्य है, कृत्रिम हैं तो भी अज्ञानी जीव इन्हे अपने मानता है। यहाँ **भावार्थ** यह है कि जननी आदि पर-स्वरूप है, शुद्धात्मा से भिन्न हैं, हेयरूप सम्पूर्ण नारकादि दु.ख का कारण होने के कारण हेय है तो भी यह मूढ जीव साक्षात् उपादेयरूप अनाकुलता स्वरूप पारमार्थिक सुख से अभिन्न वीतराग परमानन्दरूप एक स्वभाव वाले शुद्धात्म द्रव्य में इनको जोड़ता है, अर्थात् अपने मानता है, वह मन-वचन-काय रूप परिणत हुआ शुद्ध अपने आत्मद्रव्य की भावना से शून्य रहित मूढ़ात्मा है। अर्थात् परवस्तु को अपना मानने वाला मूर्ख है ।।८३।।

दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।
मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काइँ करेइ ।।८४।।

दु खस्य कारण ये विषया: तान् सुखहेतून् रमते ।
मिथ्यादृष्टि: जीव अत्र न कि करोति ।।८४।।

दुक्खहं कारणि जे विसय ते सुहहेउ रमेइ दुःखस्य कारणं ये विषयास्तान् विषयान् सुखहेतून् मत्वा रमते । स कः । **मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ** मिथ्यादृष्टिर्जीवः । **इत्थु ण काइं करेइ** अत्र जगति योऽसौ दुःखरूपविषयान् निश्चयनयेन सुखरूपान् मन्यते स मिथ्यादृष्टिः किमकृत्यं पापं न करोति, अपि तु सर्वं करोत्येवेति । अत्र तात्पर्यम् । मिथ्यादृष्टिर्जीवो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दपरमसमरसीभावरूपसुखरसापेक्षया निश्चयेन दुःखरूपानपि विषयान् सुखहेतून् मत्वा अनुभवतीत्यर्थः ॥८४॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये 'जिउ मिच्छत्तें' इत्यादिसूत्राष्टकेन मिथ्यादृष्टिपरिणतिव्याख्यानस्थलं समाप्तम् ॥

दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ, मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काइँ करेइ ॥८४॥ मूढ जीव दुःख के कारण जो पाँच इन्द्रियों के विषय हैं उनको सुख के कारण जान कर उनमें रमण करता है। वह मिथ्यादृष्टि जीव इस संसार में क्या अकरणीय—पाप नहीं करता अपितु सब पाप करता है। यहाँ भावार्थ है—मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न परमानन्द परम समरसी भाव रूप सुख की अपेक्षा निश्चय से महादुःखरूप विषयों को सुख के कारण मानकर उनका सेवन करता है, (सो इनमें वास्तव में सुख नहीं है) ॥८४॥ इस प्रकार त्रिविधात्मा का कथन करने वाले प्रथम महाधिकार में जिउ मिच्छत्तें इत्यादि आठ दोहों में मिथ्यादृष्टि की परिणति का व्याख्यान समाप्त किया।

तदनन्तरं सम्यग्दृष्टिभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन 'कालु लहेविणु' इत्यादि सूत्राष्टकं कथ्यते । अथ—

अब सम्यग्दृष्टि की भावना के व्याख्यान की मुख्यता से **काल लहेविणु** आदि आठ दोहासूत्र कहते हैं—

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ ।
तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमें अप्पु मुणेइ ॥८५॥

कालं लब्ध्वा योगिन् यथा यथा मोहः गलति ।
तथा तथा दर्शनं लभते जीवः नियमेन आत्मानं मनुते ॥८५॥

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ कालं लब्ध्वा हे योगिन् यथा यथा मोहो विगलति **तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ** तथा तथा दर्शनं सम्यक्त्वं लभते जीवः । तदनन्तरं किं करोति । **णियमें अप्पु मुणेइ** नियमेनात्मानं मनुते जानातीत्यर्थः । तथाहि—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलशुद्धात्मोपदेशादीनामुत्तरोत्तरदुर्लभक्रमेण दुःप्राप्ता काललब्धिः, कथंचित्काकतालीयन्यायेन तां लब्ध्वा परमागमकथितमार्गेण मिथ्यात्वादिभेदभिन्नपरमात्मोपलभप्रतिपत्तेर्यथा यथा मोहो विगलति तथा

तथा शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूप सम्यक्त्व लभते । शुद्धात्मकर्मणोर्भेदज्ञानेन शुद्धात्मतत्त्व मनुते जानातीति । अत्र यस्यैवोपादेयभूतस्य शुद्धात्मनो रुचिपरिणामेन निश्चय-सम्यग्दृष्टिर्जातो जीव , स एवोपादेय इति भावार्थ ॥८५॥

जोइया ! कालु लहेविणु जिमु जिमु मोहु गलेइ तिमु तिमु जिउ दसणु लहइ, णियमे अप्पु मुणेइ ॥८५॥ हे योगी ! काल पाकर जैसे-जैसे मोह गलता है वैसे-वैसे यह जीव सम्यग्दर्शन को पाता है फिर निश्चय से आत्मस्वरूप को जानना है । एकेन्द्रिय मे विकलत्रय होना दुर्लभ है, विकलत्रय से पञ्चेन्द्रिय, सञ्ज्ञी, पर्याप्त होना दुर्लभ है, उसमे भी मनुष्य होना कठिन है, फिर आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, शुद्धात्मा का उपदेश आदि मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ है । किसी तरह काक-तालीय न्याय से काललब्धि प्राप्त कर सब दुर्लभ सामग्री मिलने पर परमागम कथित मार्ग से मिथ्यात्वादि के दूर हो जाने से आत्म स्वरूप को उपलब्ध होते हुए इस जीव के जसे-जैसे मोह क्षीण होता जाता है वैसे-वैसे शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व होता है । शुद्धात्मा और कर्म को भिन्न-भिन्न मानता है । यहाँ पर भावार्थ है कि जिस उपादेयभूत शुद्धात्मा की रुचिरूप परिणाम मे यह जीव निश्चय सम्यग्दृष्टि होता है, वही उपादेय है ॥८५॥

अत ऊर्ध्वं पूर्वोक्तन्यायेन सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिभावनाया प्रतिपक्षभूता यादृशी भेदभावना करोति तादृशी क्रमेण सूत्रसप्तकेन विवृणोति—

अत्र, पूर्वोक्त विधि से सम्यग्दृष्टि हो कर मिथ्यात्व की भावना से विपरीत जैसी भेदविज्ञान की भावना करता है, उसका स्वरूप क्रमश सात दोहो मे कहते है—

अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणे जोइ ॥८६॥

आत्मा गौर कृष्ण नापि आत्मा रक्त न भवति ।
आत्मा सूक्ष्मोऽपि स्थूल नापि ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति ॥८६॥

आत्मा गौरो न भवति रक्तो न भवति आत्मा सूक्ष्मोऽपि न भवति स्थूलोऽपि नैव । तर्हि किंविशिष्ट । ज्ञानी ज्ञानस्वरूप ज्ञानेन करणभूतेन पश्यति । अथवा '**णाणिउ जाणइ जोइ**' इति पाठान्तर, ज्ञानी योऽसौ योगी स जानात्यात्मानम् । अथवा ज्ञानी ज्ञानस्वरूपेण आत्मा । कोऽसौ जानाति । योगीति । तथाहि—कृष्णगौरादिकधर्मान् व्यवहारेण जीवसबद्धानपि तथापि शुद्धात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् हेयान् वीतरागस्व-सवेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मतत्त्वे तान् न योजयति सबद्धान्न करोतीति भावार्थ ॥८६॥अथ—

अप्पा गोरउ किण्हु ण वि, अप्पा रत्तु ण होइ । अप्पा सुहुमु वि थूलु-ण वि णाणिउ जाणे जोइ ॥८६॥ आत्मा गोरा और काला नही है, आत्मा लाल नही है, आत्मा सूक्ष्म और स्थूल भी नही है, ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानदृष्टि मे देखा जाता है । अथवा ज्ञानी पुरुष योगी ही ज्ञान मे आत्मा

को जानता है। भावार्थ—ये कृष्णगौरादि वर्ण व्यवहार से जीव से सम्बद्ध हैं तथापि शुद्धात्मा से भिन्न हैं और कर्मजनित हैं, हेय हैं। वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी निजशुद्धात्मतत्त्व में इन वर्णों को नहीं लगाता है अर्थात् इन्हें अपने नहीं मानता है ॥८६॥

अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥८७॥

आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि नापि क्षत्रियः नापि शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ज्ञानी मनुते अशेषम् ॥८७॥

अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि आत्मा ब्राह्मणो न भवति वैश्योऽपि नैव नापि क्षत्रियो नापि शेषः शूद्रादिः पुरुषनपुंसकस्त्रीलिङ्गरूपोऽपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः । णाणिउ मुणइ असेसु ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानी सन् । किं करोति । मनुते जानाति । कम् । अशेषं वस्तुजातं वस्तुसमूहमिति । तद्यथा । यानेव ब्राह्मणादिवर्णभेदान् पुंलिङ्गादिलिङ्गभेदान् व्यवहारेण परमात्मपदार्थादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् साक्षाद्धेयभूतान् वीतरागनिर्विकल्पसमाधिच्युतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव तद्विपरीतभावनारतोऽन्तरात्मा स्वशुद्धात्मस्वरूपेण योजयतीति तात्पर्यार्थः ॥८७॥ अथ—

अप्पा बंभणु वइसु ण वि, खत्तिउ ण वि, सेसु ण वि । पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि, णाणिउ असेसु मुणइ ॥८७॥ आत्मा ब्राह्मण नहीं है, वैश्य भी नहीं है, क्षत्रिय भी नहीं है, शूद्र भी नहीं है, पुरुष नपुंसक स्त्रीलिंगरूप भी नहीं है, ज्ञानस्वरूप हुआ समस्त वस्तुओं को ज्ञान से जानता है। भावार्थ—जो ब्राह्मणादि वर्णभेद हैं और पुल्लिंगादि लिंगभेद हैं, वे यद्यपि व्यवहारनय से देह के सम्बन्ध से जीव के कहे जाते हैं तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा आत्मा से भिन्न हैं और साक्षात् छोड़ने योग्य हैं। वीतरागनिर्विकल्प समाधि से रहित बहिरात्मा इन्हें अपनी आत्मा से जोड़ता है यानी अपने मानता है और इससे विपरीत अन्तरात्मा स्वशुद्धात्मास्वरूप को ही अपने में जोड़ता है यानी स्वयं को वह ज्ञानस्वभावरूप जानता है ॥८७॥

अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥८८॥

आत्मा वन्दकः क्षपणः नापि आत्मा गुरवः न भवति ।
आत्मा लिङ्गी एकः नापि ज्ञानी जानाति योगी ॥८८॥

आत्मा वन्दको बौद्धो न भवति, आत्मा क्षपणको दिगम्बरो न भवति, आत्मा गुरवशब्दवाच्यः श्वेताम्बरो न भवति । आत्मा एकदण्डित्रिदण्डिहंसपरमहंससंज्ञः संन्यासी जटी मुण्डी योगदण्डाक्षमालातिलककुलकघोषप्रभृतिवेषधारी नैकोऽपि कश्चि-

दपि लिङ्गी न भवति । तर्हि कथंभूतो भवति । ज्ञानी । तमात्मानं कोऽसौ जानाति योगी ध्यानीति । तथाहि—यद्यप्यात्मा व्यवहारेण वन्दकादिलिङ्गी भण्यते तथापि शुद्धनिश्चयनयेनैकोऽपि लिङ्गी न भवतीति । अयमत्र भावार्थः । देहाश्रितं द्रव्यलिङ्गमुपचरितासद्भूतव्यवहारेण जीवस्वरूपं भण्यते, वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिङ्गं तु यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वादुपचारेण शुद्धजीवस्वरूपं भण्यते, तथापि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन न भण्यत इति ।।८८।। अथ—

अप्पा वंदउ खवणु ण वि, अप्पा गुरउ ण होइ । अप्पा एक्कु वि लिंगिउ ण णाणिउ जोइ जाणइ ।।८८।। आत्मा बौद्ध नहीं है, दिगम्बर भी नहीं है; आत्मा श्वेताम्बर भी नहीं है, आत्मा किसी भी वेश का धारी नहीं है अर्थात् एकदण्डी, त्रिदण्डी, हंस, परमहंस, सन्यासी, जटाधारी, मुण्डित, रुद्राक्ष की माला, तिलक, कुलक, घोष वगैरह भेषों में कोई भी भेषधारी नहीं है, एक ज्ञानस्वरूप है, उस आत्मा को ध्यानी मुनि ध्यानारूढ होकर जानता है । भावार्थ–यद्यपि आत्मा व्यवहारनय से वन्दकादि लिंगी कहा जाता है तथापि शुद्धनिश्चयनय से वह एक भी भेषधारी (लिंगी) नहीं है । देहाश्रित द्रव्यलिंग उपचरित असद्भूतव्यवहार नय से जीव का स्वरूप कहा जाता है । वीतरागनिर्विकल्पसमाधि रूप भावलिंग यद्यपि शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से उपचार से शुद्धजीवस्वरूप कहा जाता है, तथापि सूक्ष्म शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा भावलिंग भी जीव का स्वरूप नहीं है ।।८८।।

अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ।।८६।।

आत्मा गुरुः नैव शिष्यः नैव नैव स्वामी नैव भृत्यः ।
शूरः कातरः भवति नैव नैव उत्तमः नैव नीचः ।।८६।।

आत्मा गुरुर्नैव भवति शिष्योऽपि न भवति नैव स्वामी नैव भृत्यः शूरो न भवति कातरो हीनसत्त्वो नैव भवति नैवोत्तमः उत्तमकुलप्रसूतः नैव नीचो नीचकुलप्रसूत इति । तद्यथा । गुरुशिष्यादिसंबन्धान् यद्यपि व्यवहारेण जीवस्वरूपास्तथापि शुद्धनिश्चयेन परमात्मद्रव्याद्भिन्नान् हेयभूतान् वीतरागपरमानन्दैकस्वशुद्धात्मोपलब्धेश्च्युतो बहिरात्मा स्वात्मसंबद्धान् करोति तानेव वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थो अन्तरात्मा परस्वरूपान् जानातीति भावार्थः ।।८६।। अथ—

अप्पा गुरु ण वि सिस्सु ण वि सामिउ ण वि भिच्चु ण वि, सूरउ कायरु ण वि होइ, उत्तमु ण वि, णिच्चु ण वि ।।८६।। आत्मा गुरु नहीं है, शिष्य भी नहीं है, स्वामी भी नहीं है, नौकर भी नहीं है, शूरवीर नहीं है, कायर नहीं है, उच्चकुली और नीचकुली भी नहीं है । भावार्थ—ये सब गुरुशिष्य स्वामी-सेवकादि सम्बन्ध यद्यपि व्यवहार से जीव के स्वरूप है तथापि शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं, हेयभूत हैं । इन भेदों को वीतराग परमानन्द निज शुद्धात्मा की प्राप्ति से रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव अपने मानता है और वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित अन्तरात्मा इन्हे परस्वरूप जानता है ।।८६।।

अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा णारउ कहिँ वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ॥९०॥

आत्मा मनुष्य देव नापि आत्मा तिर्यग् न भवति ।
आत्मा नारक क्वापि नैव ज्ञानी जानाति योगी ॥९०॥

अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ अप्पा णारउ कहि वि णवि आत्मा मनुष्यो न भवति देवो नैव भवति आत्मा तिर्यग्योनिर्न भवति आत्मा नारक क्वापि काले न भवति । तर्हि किंविशिष्टो भवति । **णाणिउ जाणइ जोइ** ज्ञानी ज्ञानरूपो भवति । तमात्मान कोऽसौ जानाति । योगी कोऽर्थ । त्रिगुप्तिनिर्विकल्पसमाधिस्थ इति । तथाहि । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतै रागद्वेषादिविभाव-परिणामजालैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान् मनुष्यादिविभावपर्यायान् भेदाभेदरत्नत्रयभावनाच्युतो वहिरात्मा स्वात्मतत्त्वे योजयति । तद्विपरीतोऽन्तरात्म-शब्दवाच्यो ज्ञानी पृथक् जानातीत्यभिप्राय ॥९०॥ अथ—

अप्पा माणुसु देउ ण वि, अप्पा तिरिउ ण होइ, अप्पा कहिँ वि णारउ ण वि, णाणिउ जोइ जाणइ ॥९०॥ आत्मा न तो मनुष्य है, न तो देव है, आत्मा तिर्यञ्च भी नही है, आत्मा नारकी भी नही है अर्थात् वह किसी पर-रूप नही है परन्तु ज्ञानस्वरूप है, उसको योगी—तीन गुप्ति के धारक और निर्विकल्पसमाधि मे लीन होकर जानते हैं । विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव जो परमात्म तत्त्व है उसकी भावना से विपरीत, रागद्वेषादिविभाव परिणाम समूहो से उपार्जित कर्मों के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्यादि विभाव पर्यायो को भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से च्युत वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव अपनी जानता है । इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा ज्ञानी जीव उन मनुष्यादि पर्यायो को अपने से भिन्न जानता है । यह भावार्थ है ॥९०॥

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।
तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु ॥९१॥

आत्मा पण्डित मूर्ख नैव नैव ईश्वर नैव नि स्व ।
तरुण वृद्ध वाल नैव अन्य अपि कर्मविशेप ॥९१॥

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु तरुणउ बूढउ बालु णवि आत्मा पण्डितो न भवति मूर्खो नैव ईश्वर समर्थो नैव नि स्वो दरिद्र: तरुणो वृद्धो वालोऽपि नैव । पण्डितादिस्वरूप यद्यात्मस्वभावो न भवति तर्हि कि भवति । **अण्णु वि कम्मविसेसु** अन्य एव कर्मजनितोऽय विभावपर्यायविशेप इति । तद्यथा । पण्डितादिसवन्धान् यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्वभावान् तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मद्रव्याद्भिन्नान् सर्वप्रकारेण हेयभूतान् वीतरागस्वसवेदनज्ञानभावनारहितोऽपि वहिरात्मा स्वस्मिन्नियोजयति तानेव

पण्डितादिविभावपर्यायांस्तद्विपरीतो योऽसौ चान्तरात्मा परस्मिन् कर्मणि नियोजयतीति तात्पर्यार्थः ॥६१॥ अथ—

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि, ईसरु णवि, णीसु णवि तरुणउ बूढउ बालु णवि, अण्णु वि कम्म-विसेसु ॥६१॥ आत्मा पण्डित और मूर्ख नहीं है, ऐश्वर्यवान् और दरिद्र भी नहीं है, तरुण, वृद्ध और बालक भी नहीं है अपितु ये सब पर्यायें आत्मा से भिन्न कर्मजनित हैं, विभावपर्याय है। **भावार्थः** पण्डितादि सम्बन्धों को यद्यपि व्यवहारनय से जीव का कहा जाता है तथापि ये शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न, सर्व प्रकार से हेयभूत है। इनको वीतराग स्वसंवेदनज्ञान की भावना से रहित मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा अपने जानता है और इन्ही को पण्डितादि विभावपर्यायों को—अज्ञान से रहित अन्तरात्मा अपने से भिन्न कर्मजनित जानता है ॥६१॥

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।
एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ॥६२॥

पुण्यमपि पापमपि कालः नभः धर्माधर्ममपि कायः ।
एकमपि आत्मा भवति नैव मुक्त्वा चेतनभावम् ॥६२॥

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ पुण्यमपि पापमपि कालः नभः आकाशं धर्माधर्ममपि कायः शरीरं, **एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयणभाउ** इदं पूर्वोक्तमेकमप्यात्मा न भवति। किं कृत्वा। मुक्त्वा किं चेतनभावमिति। तथाहि। व्यवहारनयेनात्मनः सकाशादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् हेयभूतान् पुण्यपापादिधर्माधर्मान्मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव पुण्यपापादि समस्तसंकल्पविकल्पपरिहारभावनारूपे स्वशुद्धात्मद्रव्ये सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मके परमसमाधौ स्थितोऽन्तरात्मा शुद्धात्मनः सकाशात् पृथग् जानातीति तात्पर्यार्थः ॥६२॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये मिथ्यादृष्टिभावनाविपरीतेन सम्यग्दृष्टिभावनास्थितेन सूत्राष्टकं समाप्तम्।

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ, एक्कु वि अप्पा णवि होइ, चेयण भाउ मेल्लिवि ॥६२॥ पुण्य और पाप, भूत, भविष्यत् वर्तमान काल, आकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और शरीर, इनमें से एक भी आत्मा नहीं है, चेतनभाव को छोड कर अर्थात् एक चैतन्यभाव ही अपना है। **भावार्थः** व्यवहारनय से आत्मा से अभिन्न किन्तु शुद्ध निश्चय नय से भिन्न हेयभूत पुण्यपापादि धर्मअधर्म को मिथ्यात्व रागादि परिणत बहिरात्मा अपनी आत्मा से जोडता है अर्थात् उन्हे अपने मानता है किन्तु उन्ही को पुण्यपापादि समस्त सकल्पविकल्प रहित निज शुद्धात्मद्रव्य में सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयात्मक परमसमाधि में स्थित हुआ अन्तरात्मा शुद्धात्मा से सर्वथा भिन्न जानता है ॥६२॥ इस प्रकार त्रिविधात्मा का प्रतिपादन करने वाले महाधिकार मे मिथ्यादृष्टि की भावना से विपरीत सम्यग्दृष्टि की भावना की मुख्यता से आठ दोहासूत्र कहे।

अथानन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन 'अप्पा संजमु' इत्यादि प्रक्षेपकान् विहायैकत्रिंशत्सूत्रपर्यन्तमुपसंहाररूपा चूलिका कथ्यते । तद्यथा—

अब, भेदविज्ञान की मुख्यता से अप्पा संजमु इत्यादि प्रक्षेपकों को छोड़ कर ३१ दोहों पर्यन्त उपसंहाररूप चूलिका कही जाती है । यथा—

यदि पुण्यपापादिरूपः परमात्मा न भवति तर्हि कीदृशो भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—

यदि पुण्य-पापादि रूप परमात्मा नहीं है तो कैसा है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।
अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ॥९३॥

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा दर्शनं ज्ञानम् ।
आत्मा शाश्वतमोक्षपदं जानन् आत्मानम् ॥९३॥

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु अप्पा सासयमोक्खपउ आत्मा संयमो भवति शीलं भवति तपश्चरणं भवति आत्मा दर्शनं भवति शाश्वतमोक्षपदं च भवति । अथवा पाठान्तरं **'सासयमुक्खपहु'** शाश्वतमोक्षस्य पन्था मार्गः, अथवा **'सासयसुक्खपउ'** शाश्वतसौख्यपदं स्वरूपं च भवति । किं कुर्वन् सन् । **जाणंतउ अप्पाणु** जानन्ननुभवन् । कम् । आत्मानमिति । तद्यथा । बहिरङ्गेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेन साध्यसाधकभावेन निश्चयेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात् स्थितिकरणात् संयमो भवति, बहिरङ्गसहकारिकारणभूतेन कामक्रोधविवर्जनलक्षणेन व्रतपरिरक्षणशीलेन निश्चयेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मद्रव्यनिर्मलानुभवनेन शीलं भवति । बहिरङ्गेन सहकारिकारणभूतानशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन निश्चयनयेनाभ्यन्तरे समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन परमात्मस्वभावे प्रतपनाद्विजयनात्तपश्चरणं भवति । स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिकरणान्निश्चयसम्यक्त्वं भवति । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानानुभवनान्निश्चयज्ञानं भवति । मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालत्यागेन परमात्मतत्त्वे परमसमरसीभावपरिणमनाच्च **मोक्षमार्गो** भवतीति । अत्र बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियसंयमादिप्रतिपादनादभ्यन्तरे शुद्धात्मानुभूतिरूपभावसंयमादिपरिणमनादुपादेयसुखसाधकत्वादात्मैवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥९३॥

अप्पा संजमु सीलु तउ, अप्पा दंसणु णाणु, अप्पाणु जाणंतउ अप्पा सासय मोक्ख पउ ॥९३॥ आत्मा संयम है, शील है, तप है, आत्मा दर्शन-ज्ञान है और अपने को जानता—अनुभवता आत्मा अविनाशी सुख का स्थान मोक्ष का मार्ग है । अथवा शाश्वत सौख्यपद स्वरूप है । इन्द्रिय-

संयम और प्राणसंयम के बल से साध्य-साधक भाव से निश्चयापेक्षा अपने शुद्धात्मस्वरूप में स्थिर होने से आत्मा **संयम** होता है, बहिरंग सहकारी कारणभूत, कामक्रोधादि के त्याग रूप व्रत की रक्षा तो व्यवहारशील है और निश्चयनय से अन्तरंग में अपने शुद्धात्मद्रव्य का निर्मल अनुभव शील है अतः शीलरूप आत्मा ही कहा गया है। बाह्य सहकारी कारणभूत जो अनशनादि बारह प्रकार का तप है उससे तथा निश्चयापेक्षा अभ्यन्तर में समस्त परद्रव्यों की इच्छा को रोकने से परमात्मस्वभाव (निजस्वभाव) में प्रतपन से और विभाव परिणामो को जीतने से आत्मा ही **तपश्चरण** है। स्व-शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचि होने मे **निश्चय सम्यक्त्व** होता है। वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के अनुभव से **निश्चय ज्ञान** होता है। मिथ्यात्वरागादि समस्त विकल्प समूहो के त्याग से तथा परमात्म तत्त्व मे परम समरसी भाव के परिणमन से (आत्मा ही) मोक्षमार्ग होता है। तात्पर्य यह है कि बहिरंग द्रव्येन्द्रिय संयमादि के पालने से, अन्तरंग में शुद्धात्मानुभूति रूप भावसंयमादि के परिणमन मे, उपादेयसुख का साधक होने से आत्मा ही उपादेय है ॥६३॥

अथ स्वशुद्धात्मसंवित्तिं विहाय निश्चयनयेनान्यदर्शनज्ञानचारित्रं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रं कथयति—

अब, स्वशुद्धात्मानुभूति को छोड़ कर, निश्चयनय से दूसरा कोई दर्शन, ज्ञान, चारित्र नही है, यह अभिप्राय मन में रख कर, दोहा कहते हैं—

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु ।
अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ॥६४॥

अन्यद् एव दर्शनं अस्ति नापि अन्यदेव अस्ति न ज्ञानं ।
अन्यद् एव चरणं न अस्ति जीव मुक्त्वा आत्मानं जानीहि ॥६४॥

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय अन्यदेव दर्शनं नास्ति अन्यदेव ज्ञानं नास्ति अन्यदेव चरणं नास्ति हे जीव। किं कृत्वा। **मेल्लिवि अप्पा जाणु** मुक्त्वा। कम्। आत्मानं जानीहीति। तथाहि यद्यपि षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थाः साध्यसाधकभावेन निश्चयसम्यक्त्वहेतुत्वाद्व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति, तथापि निश्चयेन वीतरागपरमानन्दैकस्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपपरिणामपरिणतशुद्धात्मैव निश्चयसम्यक्त्वं भवति। यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वात्तु व्यवहारेण शास्त्रज्ञानं भवति, तथापि निश्चयनयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मैव निश्चयज्ञानं भवति। यद्यपि निश्चयचारित्रसाधकत्वान्मूलोत्तरगुणा व्यवहारेण चारित्रं भवति, तथापि शुद्धात्मानुभूतिरूपवीतरागचारित्रपरिणत स्वशुद्धात्मैव निश्चयनयेन चारित्रं भवतीति। अत्रोक्तलक्षणोऽभेदरत्नत्रयपरिणतः परमात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥६४॥

जिय ! अप्पा मेल्लिवि अण्णु जि दंसणु ण अत्थि, अण्णु जि णाणु ण अत्थि, अण्णु जि चरणु ण अत्थि, जाणु ।।९४।। हे जीव ! आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी दर्शन नहीं है, अन्य कोई भी ज्ञान नहीं है, अन्य कोई चारित्र नहीं है ऐसा तू जान । अर्थात् आत्मा को ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र जान । भावार्थ : यद्यपि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ का श्रद्धान साध्यसाधक भाव से निश्चयसम्यक्त्व का कारण होने से व्यवहार से सम्यक्त्व होता है तथापि निश्चयापेक्षा वीतराग-परमानन्द स्वभाव वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप परिणाम से परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है । यद्यपि निश्चय स्वसंवेदन ज्ञान का साधक होने से व्यवहार से शास्त्रज्ञान भी ज्ञान है तो भी निश्चयनयापेक्षा वीतरागस्वसंवेदन ज्ञान रूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है । यद्यपि निश्चय चारित्र के साधक होने से अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुण व्यवहारनय से चारित्र कहे जाते हैं तथापि शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग चारित्र को परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चय नय से चारित्र है । तात्पर्य यह है कि अभेदरत्नत्रय रूप परिणत हुआ परमात्मा ही उपादेय है ।।९४।।

अथ निश्चयेन वीतरागभावपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयतीर्थः निश्चयगुरुर्निश्चयदेव इति कथयति—

अब, निश्चयनयापेक्षा वीतराग भाव रूप परिणत स्वशुद्धात्मा ही निश्चय तीर्थ है, निश्चय गुरु है और निश्चय देव है, ऐसा कहते हैं –

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुँ अप्पा विमलु मुएवि ।।९५।।

अन्यद् एव तीर्थं मा याहि जीव अन्यद् एव गुरुं मा सेवस्व ।
अन्यद् एव देवं मा चिन्तय त्वं आत्मानं विमलं मुक्त्वा ।।९५।।

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि अण्णु जि देउ म चिंति तुहुँ अन्यदेव तीर्थं मा गच्छ हे जीव अन्यदेव गुरुं मा सेवस्व अन्यदेव देवं मा चिन्तय त्वम् । किं कृत्वा । **अप्पा विमलु मुएवि** मुक्त्वा त्यक्त्वा । कम् । आत्मानम् । कथंभूतम् । विमलं रागादिरहितमिति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारनयेन निर्वाणस्थानचैत्यचैत्यालयादिकं तीर्थभूतपुरुषगुणस्मरणार्थं तीर्थं भवति, तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपनिश्छिद्रपोतेन संसारसमुद्रतरणसमर्थत्वान्निश्चयनयेन स्वात्मतत्त्वमेव तीर्थं भवति तदुपदेशात्पारंपर्येण परमात्मतत्त्वलाभो भवतीति । व्यवहारेण शिक्षादीक्षादायको यद्यपि गुरुर्भवति, तथापि निश्चयनयेन पञ्चेन्द्रियविषयप्रभृति–समस्तविभावपरिणामपरित्यागकाले संसारविच्छित्तिकारणत्वात् स्वशुद्धात्मैव गुरुः । यद्यपि प्राथमिकापेक्षया सविकल्पापेक्षया चित्तस्थिरीकरणार्थं तीर्थंकरपुण्यहेतुभूतं साध्यसाधकभावेन परंपरया निर्वाणकारणं च जिनप्रतिमादिकं व्यवहारेण देवो भण्यते, तथापि निश्चयनयेन परमाराध्यत्वाद्वीतरागनिर्वि-

कल्पत्रिगुप्तपरमसमाधिकाले स्वशुद्धात्मस्वभाव एव देव इति । एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ।।९५।।

'जिय ! तुहुँ अण्णु जि तित्थु म जाहि, अण्णु जि गुरुउ म सेवि, अण्णु जि देउ म चिंति, अप्पा विमलु मुएवि ।।९५।। हे जीव ! तू दूसरे तीर्थ को मत जा, दूसरे गुरु को मत सेवे, अन्य देव को मत ध्या, रागादिमल रहित आत्मा को छोड़ कर । अर्थात् स्व आत्मा ही तीर्थ है, गुरु है, देव है—तू उसी की आराधना कर । यद्यपि व्यवहारनय से निर्वाणस्थान (सम्मेदशिखरादि), चैत्य (प्रतिमा), चैत्यालयादिक तीर्थभूत पुरुषो के गुणस्मरण के कारण तीर्थ हैं तथापि वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप निश्छिद्र जहाज से संसाररूपी समुद्र को तिरने मे समर्थ जो निज आत्म तत्त्व है, वही निश्चय से तीर्थ है, उसके उपदेश से परम्परा से परमात्म तत्त्व का लाभ होता है । व्यवहार से शिक्षा-दीक्षा प्रदाता यद्यपि गुरु होता है तथापि निश्चय नय से पञ्चेन्द्रियो के विषयों एवं कषायों आदि समस्त विभाव परिणामों के परित्याग के काल में ससारविच्छित्ति का कारण होने से स्व-शुद्धात्मा ही गुरु है । यद्यपि प्रथम अवस्था में सविकल्प दशा में चित्त की स्थिरता के लिए व्यवहार-नय से जिनप्रतिमादिक देव कहे जाते हैं और वे परम्परा से निर्वाण के कारण हैं तो भी निश्चयनय से परम आराधने योग्य वीतराग निर्विकल्पत्रिगुप्त परमसमाधि के समय निजशुद्धात्मभाव ही देव है, अन्य नहीं । इस प्रकार निश्चय—व्यवहार नयापेक्षा साध्यसाधक भाव से तीर्थ, गुरु और देव का स्वरूप जानना चाहिए । यह भावार्थ है ।।९५।। **विशेष** : निज आत्मा ही निश्चय देव, निश्चय गुरु और निश्चयतीर्थ है, वही साधने योग्य है । व्यवहारदेव जिनेन्द्र तथा उनका बिम्ब, व्यवहार गुरु मुनि-राज तथा व्यवहार तीर्थ सिद्धक्षेत्रादिक ये सब निश्चय के साधक हैं अतः प्रथम अवस्था में आराधने योग्य हैं । निश्चयनय से ये सब पर पदार्थ हैं, इनसे परम्परा से सिद्धि है, साक्षात् नही ।

अथ निश्चयेनात्मसंवित्तिरेव दर्शनमिति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि निश्चयनय से आत्मस्वरूप ही सम्यग्दर्शन है—

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु ।
एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहँ सारु ।।९६।।

आत्मा दर्शनं केवलोऽपि अन्यः सर्वः व्यवहारः ।
एक एव योगिन् ध्यायते यः त्रैलोक्यस्य सारः ।।९६।।

अप्पा दंसणु केवलु वि आत्मा दर्शन सम्यक्त्वं भवति । कथंभूतोऽपि । केवलोऽपि । **अण्णु सव्वु ववहारु** अन्यः शेषः सर्वोऽपि व्यवहारः । तेन कारणेन **एक्कु जि जोइय झाइयइ** हे योगिन्, एक एव ध्यायते । यः आत्मा कथभूतः । **जो तइलोयहं सारु** यः परमात्मा त्रैलोक्यस्य सारभूत इति । तद्यथा । वीतरागचिदानन्दैकस्वभावात्म-तत्त्वसम्यक् — श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिपरिणतो निश्चयनयेन स्वात्मैव सम्यक्त्व अन्यः सर्वोऽपि व्यवहारस्तेन कारणेन स एव ध्यातव्य इति । अत्र यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखण्डादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेदविवक्षया कृत्वैकं

भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैर्निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्बहुभिः परिणतो अनेकोऽप्यात्मा त्वभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यत इति भावार्थः। तथा चोक्तं अभेदरत्नत्रयलक्षणम्—[1] "**दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः। स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥"** ॥९६॥

केवलु अप्पा वि दंसणु, अण्णु सव्वु ववहारु। जोइय एक्कु जि झाइयइ जो तइलोयहँ सारु ॥९६॥ केवल आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, अन्य सब व्यवहार है। हे योगी! एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है जो त्रिलोक में सारभूत है। भावार्थ वीतराग चिदानन्द अखण्ड स्वभाव आत्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान अनुभवरूप जो अभेदरत्नत्रय वही जिसका लक्षण है तथा त्रिगुप्तिरूप समाधि में परिणत निश्चयनय से निज आत्मा ही सम्यक्त्व है, अन्य सब व्यवहार हैं। इस कारण से वह आत्मा ही ध्यातव्य है। जैसे दाख, कपूर, चन्दनादि अनेक द्रव्यों से तैयार किया हुआ भी पानक रस अभेद विवक्षा से एक 'रस' ही कहा जाता है, वैसे ही शुद्धात्मानुभूति रूप निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि अनेक भावों से परिणत हुआ आत्मा अनेक रूप होते हुए भी अभेद विवक्षा से एक ही कहा जाता है। अभेदरत्नत्रय का लक्षण यों कहा है –"पर द्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा का निश्चय अर्थात् श्रद्धान सम्यग्दर्शन, आत्मा का यथार्थ ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान और आत्मा में स्थिति सो सम्यक्-चारित्र कहलाता है। ये तीनों आत्म स्वभाव हैं, इनसे आत्मा का बन्धन कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता॥" ९६॥

अथ निर्मलमात्मानं ध्यायस्व येन ध्यातेनान्तर्मुहूर्तेनैव मोक्षपदं लभ्यत इति निरूपयति—

अब कहते हैं कि निर्मल आत्मा का ध्यान करो, जिसके ध्यान करने से अन्तर्मुहूर्त में मोक्षपद की प्राप्ति होती है—

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएँ अण्णेण।
जो झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण॥९७॥

आत्मानं ध्यायस्व निर्मलं किं बहुना अन्येन।
यं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन॥९७॥

अप्पा झायहि णिम्मलउ आत्मानं ध्यायस्व। कथंभूतं निर्मलम्। **किं बहुएं अण्णेण** किं बहुनान्येन शुद्धात्मबहिर्भूतेन रागादिविकल्पजालमालाप्रपञ्चेन। **जो झायंतहं परमपउ लब्भइ** यं परमात्मानं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते। केन कारणभूतेन। **एक्कखणेण** एकक्षणेनान्तर्मुहूर्तेनापि। तथाहि। समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन स्वशुद्धात्मतत्त्वध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन तदेव निरन्तरं ध्यातव्यमिति।

1. अमृतचन्द्राचार्यः पुरुषार्थसिद्ध्युपाय · गाथा २१६।

तथा चोक्तं [1]वृहदाराधनाशास्त्रे। "षोडशतीर्थंकराणां एकक्षणे तीर्थकरोत्पत्तिवासरे प्रथमे श्रामण्यबोधसिद्धिः अन्तर्मुहूर्तेन निर्वृत्ता।" अत्राह शिष्यः। यद्यन्तर्मुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीमस्माकं तद्ध्यानं कुर्वाणानां किं न भवति। परिहारमाह। यादृशं तेषां प्रथमसंहननसहिताना शुक्लध्यानं भवति तादृशमिदानी नास्तीति। तथा चोक्तम्—"अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः। धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनम्॥"। अत्र येन कारणेन परमात्मध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन संसारस्थितिच्छेदनार्थमिदानीमपि तदेव ध्यातव्यमिति भावार्थः॥६७॥

णिम्मलउ अप्पा झायहि अण्णेण बहुएँ किं। जो झायंतहँ एक्कखणेण परमपउ लब्भइ ॥६७॥ निर्मल आत्मा का ही ध्यान करो, अन्य बहुत शुद्धात्मा से बहिर्भूत रागादिविकल्पो से क्या प्रयोजन है। जिस परमात्मा का ध्यान करने वालों को क्षणमात्र मे—अन्तर्मुहूर्त में परम पद की उपलब्धि होती है। भावार्थ—समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्प रहित निज शुद्धात्म तत्त्व के ध्यान करने मे अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त होता है, अतः निरन्तर वही ध्यान करने योग्य है। वृहदाराधना-शास्त्र मे कहा है 'भगवान ऋषभदेव मे शान्तिनाथ तीर्थङ्कर पर्यन्त १६ तीर्थंकरों के तीर्थ की उत्पत्ति होने के प्रथम दिन ही बहुत मे साधु दीक्षा लेकर एक अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हुए।" यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि यदि अन्तर्मुहूर्त मात्र परमात्मा का ध्यान करने से मोक्ष होता है तो इस समय ध्यान करने वाले हमको क्यों नही होता? उत्तर देते है कि जैसा चतुर्थकाल में उन प्रथम संहनन—वज्रवृषभनाराच वालों को शुक्लध्यान होता है, वैसा अभी नही हो सकता। ऐसा ही तत्त्वानुशासन मे कहा है—"श्री सर्वज्ञ वीतरागदेव यहाँ भरतक्षेत्र में अभी पंचमकाल में शुक्ल-ध्यान का निषेध करते हैं। इस समय यहाँ धर्मध्यान हो सकता है। उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनो ही इस समय यहाँ नही है। अतः सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान भी नही हैं।" तात्पर्य यह है कि जिस कारण मे परमात्मा के ध्यान से अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त किया जाता है, उस कारण से संसार की स्थिति का छेद करने के लिए अब भी वही ध्यान करना चाहिए। (शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है, धर्मध्यान से परम्परया मोक्ष मिल सकता है।) ॥६७॥

अथ यस्य वीतरागमनसि शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि किं कुर्वन्तीति कथयति—

---

१. 'वृहदाराधना शास्त्र' से अभिप्राय 'भगवती आराधना' से है। इसे ही आराधना, वृहद् आराधना एव मूलाराधना कहते हैं। (देखिए-हरिषेणकृत वृहत्कथाकोश की डॉ. उपाध्ये लिखित प्रस्तावना पृ. ६८ तथा भगवती आराधना भाग एक, प्रस्तावना पृ १२ जीवराज-ग्रन्थमाला) इस ग्रन्थ मे मूलगाथा इस प्रकार आई है—

सोलसतित्थयराण तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि।
सामण्णणाणसिद्धी, भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥२०३७॥

—भगवती आराधना पृ ७०३ प सदासुखजी कासलीवाल

अत. मूलपाठ ऐसा होना ठीक प्रतीत होता है—षोडशतीर्थंकराणा एकक्षणे तीर्थोत्पत्तिप्रथमवासरे (अनेकमुनीना) श्रामण्यबोधसिद्धि अन्तर्मुहूर्तेन निर्वृत्ता (निष्पन्ना इति)।

—पं. जवाहरलाल जैन सि. शास्त्री, भीण्डर से प्राप्त पत्र।

अब कहते हैं कि जिसके वीतराग मन में शुद्धात्मा की भावना नही है, उसका शास्त्र-पुराण-तपश्चरण क्या कर सकते है ? अर्थात् कुछ भी नही कर सकते—

अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु ।
सत्थ-पुराणइँ तव-चरणु मुक्खु वि करहिँ कि तासु ॥९८॥

आत्मा निजमनसि निर्मलः नियमेन वसति न यस्य ।
शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं मोक्ष अपि कुर्वन्ति किं तस्य ॥९८॥

अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु आत्मा निजमनसि निर्मलो नियमेन वसति तिष्ठति न यस्य **सत्थपुराणइं तवचरणु मुक्खु वि करहिं किं तासु** शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं च मोक्षमपि किं कुर्वन्ति तस्येति । तद्यथा । वीतराग-निर्विकल्पसमाधिरूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि निरर्थकानि भवन्ति । तर्हि किं सर्वथा निष्फलानि । नैवम् । यदि वीतरागसम्यक्त्वरूपस्वशुद्धात्मोपादेयभावनासहितानि भवन्ति तदा मोक्षस्यैव बहिरङ्गसहकारिकारणानि भवन्ति तदभावे पुण्यबन्धकारणानि भवन्ति । मिथ्यात्वरागादिसहितानि पापबन्धकारणानि च विद्यानुवादसंज्ञितदशमपूर्वश्रुतं पठित्वा भर्गपुरुषादिवदिति भावार्थः ॥९८॥

जासु णियमणि णिम्मलउ अप्पा णियमें ण वसइ तासु सत्थ पुराणइँ तवचरणु वि किं मुक्खु करहिँ ॥९८॥ जिसके निज मन मे निर्मल आत्मा निश्चय से नही रहता, उस जीव के शास्त्र-पुराण, तपश्चरण भी क्या मोक्ष कर सकते हैं ? कभी नही कर सकते । वीतराग निर्विकल्पसमाधि रूप शुद्धभावना जिसके नही है, उसके शास्त्र-पुराण तपश्चरणादि सब व्यर्थ है । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि क्या बिल्कुल ही निरर्थक है ? उत्तर देते है कि नही, सर्वथा ऐसा नही है, लेकिन वीतराग सम्यक्त्वरूप निज शुद्धात्मा की भावना सहित हो तभी ये मोक्ष के बहिरंग सहकारी कारण है, अन्यथा पुण्यबन्ध के कारण है । मिथ्यात्वरागादि सहित होने पर तो ये पापबन्ध के कारण है जैसे कि रुद्र वगैरह विद्यानुवादनामा दसवे पूर्व तक शास्त्र पढकर भ्रष्ट हो जाते है ॥९८॥

अथात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति दर्शयति—

अब दर्शाते हैं कि आत्मा के जान लेने पर सब कुछ जान लिया—

जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ॥९९॥

योगिन् आत्मना ज्ञातेन जगत् ज्ञातं भवति ।
आत्मनः संबन्धिनिभावे बिम्बितं येन वसति ॥९९॥

जोइय अप्पे जाणिएण हे योगिन् आत्मना ज्ञातेन । किं भवति । **जगु जाणियउ हवेइ** जगत्त्रिभुवनं ज्ञातं भवति । कस्मात् । **अप्पहं केरइ भावडइ बिंबिउ जेण बसेइ**

आत्मनः संबन्धिनि भावे केवलज्ञानपर्याये विम्बितं प्रतिम्बितं येन कारणेन वसति तिष्ठतीति । अयमर्थः । वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति समस्तद्वादशाङ्गागमस्वरूपं ज्ञातं भवति । कस्मात् । यस्माद्राघवपाण्डवादयो महापुरुषा जिनदीक्षां गृहीत्वा द्वादशाङ्गं पठित्वा द्वादशाङ्गाध्ययनफलभूते निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति अथवा निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादे जाते सति पुरुषो जानाति । किं जानाति । वेत्ति मम स्वरूपमन्यद्देहरागादिकं परमिति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति अथवा आत्मा कर्ता श्रुतज्ञानरूपेण व्याप्तिज्ञानेन करणभूतेन सर्वं लोकालोकं जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिबलेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन केवलज्ञाने जाते सति दर्पणे बिम्बवत् सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अत्रेदं व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागं कृत्वा सर्वतात्पर्येण निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं—समयसारे—**"जो पस्सइ अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं । अपदेससुत्तमज्झं पस्सइ जिणसासणं सव्वं ॥" ॥९९॥**

जोइय ! अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ, जेण अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ वसेइ ॥९९॥ हे योगी ! एक अपने आत्मा के जान लेने पर यह सम्पूर्ण जगत्-तीनों लोक जान लिये जाते है क्योंकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिम्बित हो रहता है । वीतरागनिर्विकल्प स्व संवेदन ज्ञान में परमात्म तत्त्व के जानने पर समस्त द्वादशांग आगम का स्वरूप जाना जाता है । कैसे ? जैसे रामचन्द्र पाण्डव भरत सगर आदि महान् पुरुष जिनदीक्षा लेकर, द्वादशांग पढ कर, उसके फलस्वरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक परमात्म ध्यान में लीन हुए तिष्ठे थे, अतः वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से अपने आत्मा को जान लेने पर सब ज्ञात हो जाता है । अथवा निर्विकल्प समाधि से समुत्पन्न परमानन्द सुख-रस का आस्वाद होने पर पुरुष जानता है कि मेरा स्वरूप भिन्न है, देह-रागादिक पर हैं, मेरे नहीं हैं इसलिए आत्मा के जानने से सब जाने जाते हैं (जिसने अपने को जान लिया, उसने अपने से भिन्न सब पदार्थ जान लिये ।) अथवा आत्मा श्रुतज्ञान रूप व्याप्तिज्ञान से सब लोकालोक को जानता है इसलिए आत्मा के जान लेने पर सब जान लिया गया । अथवा वीतरागनिर्विकल्प त्रिगुप्ति समाधि के बल से (जो केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीजभूत है) केवलज्ञान हो जाने पर दर्पण में बिम्ब के समान सम्पूर्ण लोकालोक का स्वरूप जाना जाता है अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा के जानने से सब जाना जाता है । सार यह है कि इन चारों व्याख्यानों का रहस्य जान कर बाह्याभ्यन्तर समस्त परिग्रह का त्याग कर सब तरह से निजशुद्धात्मा की भावना करनी चाहिए । समयसार में कहा भी है—"जो आत्मा को अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, अविशेष आदि रूप से अनुभव करता है वह द्रव्यश्रुत-भावश्रुतमय द्वादशांग रूप सब जिनशासन का जानकार होता है ।" ॥९९॥

अथैतदेव समर्थयति—

अब इसी बात का समर्थन करते हैं—

अप्प-सहावि परिट्ठियह एहउ होइ विसेसु ।
दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ।।१००।।

आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां एष भवति विशेषः ।
दृश्यते आत्मस्वभावे लघु लोकालोकः अशेषः ।।१००।।

अप्पसहावि परिट्ठियहं आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां पुरुषाणां, **एहउ होइ विसेसु** एष प्रत्यक्षीभूतो विशेषो भवति । एष कः । **दीसइ अप्पसहावि लहु** दृश्यते परमात्मस्वभावे स्थितानां लघु शीघ्रम् । अथवा पाठान्तरं 'दीसइ अप्पसहाउ लहु' । दृश्यते, स कः, आत्मस्वभावः कर्मतापन्नो, लघु शीघ्रम् । न केवलमात्मस्वभावो दृश्यते **लोयालोउ असेसु** लोकालोकस्वरूपमप्यशेषं दृश्यत इति । अत्र विशेषेण पूर्वसूत्रोक्तमेव व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञातव्यं यस्मात्तस्यैव वृद्धमतसंवादरूपत्वादिति भावार्थः ।।१००।।

अप्प-सहावि परिट्ठियह एहउ विसेसु होइ । अप्प सहावि असेसु लोयालोउ लहु दीसइ ।।१००।। आत्मस्वभाव में लीन हुए पुरुषों के प्रत्यक्ष में यह विशेषता होती है कि उन्हें आत्मस्वभाव में सम्पूर्ण लोक-अलोक शीघ्र ही दीख जाता है । अथवा पाठान्तर ऐसा भी है—कि अपना स्वभाव शीघ्र दीख जाता है । न केवल आत्मस्वभाव ही दिखाई देता है अपितु सम्पूर्ण लोकालोक का स्वरूप दृष्टिगोचर हो जाता है । यहाँ विशेषतः पूर्वसूत्र में कथित चारों तरह का व्याख्यान जानना चाहिए क्योंकि यही व्याख्यान बड़े-बड़े आचार्यों ने माना है । यही **भावार्थ** है ।।१००।।

अतोऽमुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

आगे इसी अर्थ को दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से दृढ़ करते है—

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ ।
जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ।।१०१।।

आत्मा प्रकाशयति आत्मानं परं यथा अम्बरे रविरागः ।
योगिन् अत्र मा भ्रान्तिं कुरु एष वस्तुस्वभावः ।।१०१।।

अप्पु पयासइ आत्मा कर्ता प्रकाशयति । कम् । **अप्पु परु आत्मानं** परं च । यथा कः किं प्रकाशयति । **जिमु अंबरि रविराउ** यथा येन प्रकारेण अम्बरे रविरागः । **जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थुसहाउ** हे योगिन् अत्र भ्रान्तिं मा कार्षीः, एष वस्तुस्वभावः इति । तद्यथा । यथा निर्मेघाकाशे रविरागो रविप्रकाशः स्वं परं च प्रकाशयति तथा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपे कारणसमयसारे स्थित्वा मोहमेघपटले विनष्टे सति परमात्मा छद्मस्थावस्थायां वीतरागभेदभावनाज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येष पश्चादर्हदवस्थारूपकार्यसमयसाररूपेण परिणम्य केवलज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येष आत्म-

वस्तुस्वभाव: संदेहो नास्तीति । अत्र योऽसौ केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूप: कार्य-समयसार: स एवोपादेय इत्यभिप्राय: ।।१०१।।

जिम अंबरि रविराउ अप्पु अप्पु परु पयासइ जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ।।१०१।। जैसे आकाश में सूर्य का प्रकाश अपने को और पर को प्रकाशित करता है, उसी तरह आत्मा अपने को और पर पदार्थों को प्रकाशित करता है । हे योगी ! इस विषय में भ्रांति मत कर, ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है । जैसे निरभ्र आकाश में सूर्य का प्रकाश स्व को भी और पर पदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार वीतरागनिर्विकल्प समाधिरूप कारण समयसार में लीन होकर मोह रूपी मेघ पटल के विनष्ट हो जाने पर यह आत्मा छद्मस्थावस्था में वीतराग भेदभावना ज्ञान से स्वयं को और पर को प्रकाशित करता है, अनन्तर अर्हन्तावस्था रूप कार्य समयसार में परिणत होकर केवलज्ञान से स्व और पर को प्रकाशित करता है, यह आत्मवस्तु का स्वभाव है, इसमें सन्देह नहीं है । सारांश यह है कि जो केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय रूप व्यक्त कार्य समयसार है, वही उपादेय है ।।१०१।।

अथास्मिन्नेवार्थे पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तमाह—

फिर, इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त कहते हैं—

तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ।।१०२।।

तारागण: जले बिम्बित: निर्मले दृश्यते यथा ।
आत्मनि निर्मले बिम्बितं लोकालोकमपि तथा ।।१०२।।

तारायणु जलि बिंबियउ तारागणो जले बिम्बित: प्रतिफलित: । कथंभूते जले । **णिम्मलि दीसइ जेम** निर्मले दृश्यते यथा । दार्ष्टान्तमाह । **अप्पइ णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम** आत्मनि निर्मले मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहिते बिम्बितं लोकालोकमपि तथा दृश्यत इति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वदृष्टान्तसूत्रे व्याख्यातमत्रापि तदेव ज्ञातव्यम् । कस्मात् । अयमपि तस्य दृष्टान्तस्य दृढीकरणार्थमिति सूत्रतात्पर्यार्थ: ।।१०२।।

जेम तारायणु णिम्मलि जलि बिंबियउ दीसइ तेम णिम्मलि अप्पए लोयालोउ वि बिंबियउ ।।१०२।। जैसे तारागण निर्मल जल में बिम्बित हुए दिखाई देते है उसी तरह निर्मल आत्मा में लोकालोक भी प्रतिबिम्बित होते है । मिथ्यात्वरागादिविकल्पजाल से रहित निर्मल आत्मा में सम्पूर्ण लोकालोक प्रतिभासित होते है । पूर्व गाथा में जो विशेष व्याख्यान किया था, वही यहाँ भी जानना । यह कथन भी उसी दृष्टान्त को दृढ करने के लिए है ।।१०२।।

अथात्मा परश्च येनात्मना ज्ञातेन ज्ञायते तमात्मानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन जानीहीति कथयति—

जिस आत्मा के जान लेने पर निज और पर सब पदार्थ जाने जाते हैं, उसी आत्मा को तू स्व-संवेदनज्ञान के बल से जान, ऐसा कहते हैं—

अप्पु वि परु वि वियाणइ जें अप्पें मुणिएण ।
सो णिय-अप्पा जाणि तुहुँ जोइय णाण-बलेण ।।१०३।।

आत्मापि परः अपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन ।
तं निजात्मानं जानीहि त्वं योगिन् ज्ञानबलेन ।।१०३।।

अप्पु वि परु वि वियाणियइ जें अप्पें मुणिएण आत्मापि परोऽपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन **सो णिय अप्पा जाणि तुहुं** तं निजात्मानं जानीहि त्वम् । **जोइय णाणबलेण** हे योगिन्, केन कृत्वा जानीहि । ज्ञानबलेनेति । अयमत्रार्थः । वीतराग-सदानन्दैकस्वभावेन येनात्मना ज्ञातेन स्वात्मा परोऽपि ज्ञायते तमात्मानं वीतरागनिर्वि-कल्पस्वसंवेदनज्ञानभावनासमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादेन जानीहि तन्मयो भूत्वा सम्यग-नुभवेति भावार्थः ।।१०३।।

जें अप्पें मुणिएण अप्पु वि परु वि वियाणइ, सो णिय-अप्पा जोइय तुहुँ णाणबलेण जाणि ।।१०३।। जिस आत्मा को जानने से निज और पर सब पदार्थ जाने जाते हैं, उस अपनी आत्मा को हे योगी तू अपने ज्ञानबल से जान । वीतराग सदानन्द स्वभावी जिस आत्मा को जानने से आत्मा और पर पदार्थ जाने जाते हैं, उस आत्मा को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान की भावना से उत्पन्न परमानन्द सुखरस के आस्वाद से जान अर्थात् तन्मयी होकर अनुभव कर । स्वसंवेदनज्ञान ही सार है, यह भावार्थ है ।।१०३।।

अतः कारणात् ज्ञानं पृच्छति—

अब शिष्य ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न करता है—

णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णे बहुएण ।
जेण णियप्पा जाणियइ सामिय एक्क-खणेण ।।१०४।।

ज्ञानं प्रकाशय परमं मम किं अन्येन बहुना ।
येन निजात्मा ज्ञायते स्वामिन् एकक्षणेन ।।१०४।।

णाणु पयासहि परमु महु ज्ञानं प्रकाशय परमं मम । **किं अण्णे बहुएण** किमन्येन ज्ञानरहितेन बहुना । **जेण णियप्पा जाणियइ** येन ज्ञानेन निजात्मा ज्ञायते, **सामिय एक्कखणेण** हे स्वामिन् नियतकालेनैकक्षणेनेति । तथाहि । **प्रभाकरभट्टः** पृच्छति । किं पृच्छति । हे भगवन् येन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन क्षणमात्रेणैव शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ज्ञायते तदेव ज्ञानं कथय किमन्येन रागादिप्रवर्धकेन विकल्पजालेनेति । अत्र

येनैव ज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिविकल्परहितेन निजशुद्धात्मसंवित्तिरूपेणान्तर्मुहूर्तेनैव परमात्मस्वरूपं ज्ञायते तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥१०४॥

सामिय ! जेण एक्कखणेण णियप्पा जाणियइ, परमु णाणु महु पयासहि अण्णे बहुएण किं ॥१०४॥ हे स्वामिन् ! जिसके द्वारा एक क्षण में निजात्मा जानी जाती है, वह परम ज्ञान मेरे प्रकाशित करो, अन्य बहुत विकल्पों से क्या लाभ ? कुछ भी नहीं। **भावार्थ**–प्रभाकर भट्ट आचार्यदेव से प्रश्न करते हैं कि हे स्वामी ! जिस वीतराग स्वसंवेदनज्ञान से क्षणमात्र में शुद्धबुद्ध स्वभाव अपनी आत्मा जानी जाती है, वह ज्ञान मुझको प्रकाशित करो, दूसरे विकल्प जालों से कुछ फायदा नहीं है क्योंकि ये रागादि की वृद्धि करने वाले हैं। सारांश यह है कि मिथ्यात्व रागादि विकल्पों से रहित तथा निजशुद्ध आत्मानुभवरूप जिस ज्ञान से अन्तर्मुहूर्त में ही परमात्मा का स्वरूप जाना जाता है, वही ज्ञान उपादेय है, यह भावार्थ है ॥१०४॥

अत ऊर्ध्वं सूत्रचतुष्टयेन ज्ञानस्वरूपं प्रकाशयति—

अब आगे चार दोहासूत्रों में ज्ञान का स्वरूप प्रकट करते हैं—

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु ।
जीव-पएसहिँ तित्तिडउ णाणेँ गयण-पवाणु ॥१०५॥

आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वं यः जानाति आत्मानम् ।
जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं ज्ञानेन गगनप्रमाणम् ॥१०५॥

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुं प्रभाकरभट्ट आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वम्। यः किं करोति। **जो जाणइ अप्पाणु** यः कर्ता जानाति। कम्। आत्मानम्। किंविशिष्टम्। **जीवपएसहिं तित्तिडउ** जीवप्रदेशैस्तावन्मात्रं लोकमात्रप्रदेशम्। अथवा पाठान्तरम्। 'जीवपएसहिं देहसमु' तस्यार्थो निश्चयेन लोकमात्रप्रदेशोऽपि व्यवहारेणैव संहारविस्तारधर्मत्वाद्देहमात्रः। पुनरपि कथंभूतम् आत्मानं **णाणें गयणपवाणु** ज्ञानेन कृत्वा व्यवहारेण गगनमात्रं जानीहीति। तद्यथा। निश्चयनयेन मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपञ्चकादभिन्नं व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया रूपावलोकनविषये दृष्टिवल्लोकालोकव्यापकं निश्चयेन लोकमात्रासंख्येयप्रदेशमपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रं तमित्थंभूतमात्मानम् आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्पकल्लोलजालं त्यक्त्वा जानाति यः स पुरुष एव ज्ञानादभिन्नत्वाज् ज्ञान भण्यत इति। अत्रायमेव निश्चयनयेन पञ्चज्ञानाभिन्नमात्मानं जानात्यसौ ध्याता तमेवोपादेयं जानीहीति भावार्थः। तथा चोक्तम्–**"आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एगमेव पदं। सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं लहदि ॥"**[1] ॥१०५॥

---

१. कुन्दकुन्द : समयसार गाथा २०४।

तुहुँ अप्पा णाणु मुणेहि जो अप्पाणु जीव-पएसहिँ तित्तिडउ णाणें गयणपवाणु जाणइ ॥१०५॥ आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभाकर भट्ट ! तुम आत्मा को ही ज्ञान जानो । जो ज्ञानरूप आत्मा अपने को अपने प्रदेशों से लोकप्रमाण और ज्ञान से व्यवहारनय से आकाशप्रमाण जानता है । अथवा यहाँ 'देहसम्' ऐसा पाठ भी है–तब ऐसा अर्थ लेना कि निश्चयनय से लोकप्रमाण है और व्यवहारनय में संकोच-विस्तार स्वभाव के कारण शरीरप्रमाण है । निश्चयनय से मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों से अभिन्न तथा व्यवहारनय से ज्ञान की अपेक्षा रूप देखने में नेत्रों की तरह लोक अलोक में व्यापक है । निश्चय से लोकप्रमाण है, असंख्यातप्रदेशी है तो भी व्यवहार से स्वदेहप्रमाण है । ऐसे आत्मा को जो पुरुष आहार-भय-मैथुन-परिग्रहरूप आदि समस्त विकल्प तरंगों के समूह को छोड़ कर जानता है, वही पुरुष ज्ञान से अभिन्न होने से ज्ञान कहा जाता है । आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं । यहाँ **भावार्थ** यह है कि निश्चयनय से पाँच प्रकार के ज्ञानों में अभिन्न अपने आत्मा को जो ध्याता जानता है तुम उसे ही-उसी आत्मा को उपादेय जानो । आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में कहा भी है—"मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान और केवलज्ञान–ये पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान एक आत्मा के ही स्वरूप है । यह ज्ञान सामान्यनया एक है और परमार्थरूप है, इसे प्राप्त करके यह आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है ।" ॥१०५॥

अथ—

अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ ते वि हवंति ण णाणु ।
ते तुहुँ तिण्णि वि परिहरिवि णियमिँ अप्पु वियाणु ॥१०६॥

आत्मनः ये अपि विभिन्नाः वत्स तेऽपि भवन्ति न ज्ञानम् ।
तान् त्वं त्रीण्यपि परिहृत्य नियमेन आत्मानं विजानीहि ॥१०६॥

अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ आत्मनः सकाशाद्येऽपि भिन्नाः वत्स **ते वि हवंति ण णाणु** तेऽपि भवन्ति न ज्ञानं, तेन कारणेन **तुहुं तिण्णि वि परिहरिवि** तान् कर्मतापन्नान् तत्र **हे प्रभाकरभट्ट** त्रीण्यपि परिहृत्य । पश्चात्किं करु । **णियमिं अप्पु वियाणु** निश्चयेनात्मानं विजानीहीति । तद्यथा । सकलविशदैकज्ञानस्वरूपात् परमात्मपदार्थात् निश्चयनयेन भिन्नं त्रीण्यपि धर्मार्थकामान् त्यक्त्वा वीतरागस्वसंवेदनलक्षणे शुद्धात्मानुभूतिज्ञाने स्थित्वात्मानं जानीहीति भावार्थः ॥१०६॥

वढ ! अप्पहँ जे वि विभिण्ण ते वि णाणु ण हवंति । ते तिण्णि वि परिहरिवि णियमिँ अप्पु तुहुँ वियाणु ॥१०६॥ हे वत्स ! आत्मा से जो भिन्न भाव है वे भी ज्ञान नहीं है, उन धर्म-अर्थ-काम रूप तीनों भावों को छोड़ कर तुम निश्चय से आत्मा को जानो । **भावार्थ**–निश्चयनय से सब तरफ से निर्मल केवलज्ञानस्वरूप परमात्मपदार्थ से भिन्न तीनों ही धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों को छोड़ कर वीतरागस्वसंवेदन रूप शुद्धात्मानुभवरूप ज्ञान में स्थित होकर आत्मा को जानो ॥१०६॥

अप्पा णाणहँ गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण ।
तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुँ अप्पा णाणेँ तेण ॥१०७॥

आत्मा ज्ञानस्य गम्यः परः ज्ञानं विजानाति येन ।
त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं आत्मानं ज्ञानेन तेन ॥१०७॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर आत्मा ज्ञानस्य गम्यो विषयः परः । कोऽर्थः । नियमेन । कस्मात् । **णाणु वियाणइ जेण** ज्ञानं कर्तृ विजानात्यात्मानं येन कारणेन अतः कारणात् **तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुं** त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं **हे प्रभाकरभट्ट, अप्पा णाणें तेण** । कं जानीहि । आत्मानम् । केन । ज्ञानेन तेन कारणेनेति । तथाहि । निजशुद्धात्मा ज्ञानस्यैव गम्यः । कस्मादिति चेत् । मतिज्ञानादिकपञ्चविकल्परहितं यत्परमपदं परमात्मशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणं तद्रूपो योऽसौ परमात्मा तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना दुर्धरानुष्ठानं कुर्वाणा अपि बहवोऽपि न लभन्ते यतः कारणात् । तथा चोक्तम् **समयसारे—"णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहू वि ण लहंति । तं गिण्हसु पदमेदं जइ इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं ॥"**[1] अत्र धर्मार्थकामादिसर्वपरद्रव्येच्छां योऽसौ मुञ्चति स्वशुद्धात्मसुखामृते तृप्तो भवति स एव निःपरिग्रहो भण्यते स एवात्मानं जानातीति भावार्थः । उक्तं च—**"अपरिग्गहो अणिच्छो भणिओ णाणी दु णेच्छदे धम्मं । अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥"**[2] ॥१०७॥

अप्पा पर णाणहं गम्मु, जेण णाणु वियाणइ तेण तुहुं तिण्णि वि मिल्लिवि णाणें अप्पा जाणि ॥१०७॥ आत्मा नियम से ज्ञानगम्य है क्योंकि ज्ञान ही जानता है अतः तुम धर्म-अर्थ-काम इन तीनों ही भावो को छोड़ कर ज्ञान से आत्मा को जानो । **विशेष**—निजशुद्धात्मा ज्ञान के ही गम्य है क्योंकि मतिज्ञानादिक पाँच विकल्पों से रहित जो परमात्मशब्द का अर्थ परम पद है, वही साक्षात् मोक्ष का कारण है, उस रूप जो यह परमात्मा है उसको वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के विना दुर्धर तप करने वाले भी बहुत से जीव नहीं पाते हैं । ऐसा ही कथन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' में किया है—"हे आत्मन् ! यदि तू कर्मो से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो उस निश्चित ज्ञान को ग्रहण कर क्योंकि ज्ञानगुण से रहित बहुत पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करते रह कर भी इस ज्ञानस्वरूप पद को नही प्राप्त होते है ॥२०५॥ यहाँ यह कहा है कि जो धर्म-अर्थ-काम आदि सब परद्रव्यों की इच्छा को छोड़ता है और स्वशुद्धात्म सुखामृत में तृप्त होता है, वही निष्परिग्रह कहा जाता है और वही आत्मा को जानता है । 'समयसार' में कहा भी है—"ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है (पर-पदार्थों को ग्रहण किये हुए नहीं होता) क्योंकि वह इच्छा से रहित है, इसी कारण वह पुण्यकर्म करने की भी इच्छा नही करता इसलिए उसके पुण्य का भी परिग्रह नहीं है । वह मात्र ज्ञायक होकर रहता है ।" ॥१०७॥

अथ—

णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउँ जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणिं णाणमउँ किं पर बंभु लहेहि ॥१०८॥

---

1. कुन्दकुन्द : समयसार २०५ । 2 कुन्दकुन्द · समयसार २०६ ।

ज्ञानिन् ज्ञानी ज्ञानिना ज्ञानिनं यावत् न जानासि ।
तावद् अज्ञानेन ज्ञानमयं किं परं ब्रह्म लभसे ।।१०८।

णाणिय हे ज्ञानिन् **णाणिउ** ज्ञानी निजात्मा **णाणिएण** ज्ञानिना निजात्मना करणभूतेन । कथंभूतो निजात्मा । **णाणिउ** ज्ञानी ज्ञानलक्षण: तमित्थंभूतमात्मानं **जा ण मुणेहि** यावत्कालं न जानासि **ता अण्णाणिं णाणमउं** तावत्कालमज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालेन ज्ञानमयम् । **किं पर बंभु लहेहि** किं परमुत्कृष्टं ब्रह्मस्वभावं लभसे किं तु नैवेति । तद्यथा । यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नम् आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं आत्मन: सकाशात् आत्मनि स्थितं समस्तरागादिविकल्पजालं मुक्त्वा न जानासि तावत्कालं परमब्रह्मशब्दवाच्यं निर्दोषिपरमात्मानं किं लभसे नैवेति भावार्थ: ।।१०८।।

णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउँ जा ण मुणेहि, ता अण्णाणिं णाणमउं पर बंभु किं लहेहि ।।१०८।। हे ज्ञानी ! ज्ञानी निजात्मा अपने ज्ञान से ज्ञानलक्षण वाले अपने आत्मा को जब तक नहीं जानता है, तब तक अज्ञानी होने से ज्ञानमय अपने स्वरूप को कैसे पा सकता है ? अर्थात् कभी नही पा सकता । जब तक यह जीवात्मा (कर्ता) अपने आपको अपने आप से अपनी प्राप्ति के लिए आपसे अपने में स्थित होकर और समस्त रागादिविकल्पजाल को छोड़कर स्वयं को नहीं जान ले, तब तक परमब्रह्म निर्दोष परमात्मा को कैसे पा सकता है ? कभी नहीं पा सकता, यह भावार्थ है ।।१०८।।

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यं परमात्मानं कथयति—

इसप्रकार चार दोहों मे ज्ञान का व्याख्यान करने के वाद आगे चार दोहों में अन्तरस्थल में परलोक शव्द की व्युत्पत्ति कर परलोक शव्द से परमात्मा का ही कथन करते है—

जोइज्जइ तिं बंभु परु जाणिज्जइ तिं सोइ ।
बंभु मुणेविणु जेण लहु गम्मिज्जइ परलोइ ।।१०९।।

दृश्यते तेन ब्रह्मा पर. ज्ञायते तेन स एव ।
ब्रह्म मत्वा येन लघु गम्यते परलोके ।।१०९।।

जोइज्जइ दृश्यते **तिं** तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा । कोऽसौ दृश्यते । **बंभु परु** ब्रह्मशव्दवाच्य: शुद्धात्मा । कथंभूत: । पर. उत्कृष्ट: । अथवा **पर** इति पाठे नियमेन । न केवलं दृश्यते **जाणिज्जइ** ज्ञायते तेन पुरुपेण तेन कारणेन वा **सोइ** स एव शुद्धात्मा । केन कारणेन । **बंभु मुणेविणु जेण लहु** येन पुरुषेण येन कारणेन वा ब्रह्मशब्दवाच्यनिर्दोपिपरमात्मानं मत्वा ज्ञात्वा पश्चात् **गम्मिज्जइ परलोइ** तेनैव पूर्वोक्तेन ब्रह्मस्वरूपे

परिज्ञानपुरुपेण तेनैव कारणेन वा गम्यते । क्व । परलोके परलोकशब्दवाच्ये परमात्मतत्त्वे । किं च । योऽसौ शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण केवलज्ञानदर्शनस्वभाव. परमात्मा स सर्वेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवानां शरीरे पृथक् पृथग्रूपेण तिष्ठति स एव परमब्रह्मा स एव परमविष्णुः स एव परमशिव. इति, व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवानर्हन्नैव मुक्तिगतसिद्धात्मा वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते । तेन नान्यः कोऽपि परिकल्पितः जगद्व्यापी तथैवैको परमब्रह्मा शिवो वास्तीति । अयमत्रार्थः । यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाग्रे तिष्ठति स एव ब्रह्मलोकः स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोऽपीति भावार्थः ॥१०९॥ अथ—

तिं पर बंभु जोइज्जइ, तिं सोइ जाणिज्जइ जेण बंभु मुणेविणु परलोइ लहु गम्मिज्जइ ॥१०९॥ इस कारण से उसी पुरुष से शुद्धात्मा नियम से देखा जाता है, उसी पुरुष से निश्चय से वही शुद्धात्मा जाना जाता है, जो पुरुष जिस कारण अपना स्वरूप जान कर परमात्मतत्त्व में शीघ्र ही प्राप्त होता है। भावार्थ–जो यह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शक्तिरूप से केवलज्ञान-केवलदर्शन स्वभाव है, वही परमात्मा है। वही सूक्ष्म बादर एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर मे जुदा-जुदा रहता है और कर्मो से रहित हो जाने पर सिद्ध कहलाता है। यही आत्मा परमब्रह्म, परमविष्णु, परमशिव शक्तिरूप है और प्रकटरूप मे भगवान् अर्हन्त अथवा मुक्तिगत सिद्धात्मा ही परमब्रह्मा परमविष्णु परमशिव कहे जाते हैं। इनमे भिन्न कोई अन्य परिकल्पित जगद्व्यापी एक परमब्रह्मा, विष्णु या शिव नहीं हैं और जहाँ यह मुक्तात्मा लोक के शिखर भाग में ठहरता है, वही ब्रह्मलोक है, वही विष्णुलोक है, वही शिवलोक है, अन्य कोई नहीं ॥१०९॥

मुणि-वर-विंदहँ हरि-हरहं जो मणि णिवसइ देउ ।
परहँ जि परतरु णाणमउ सो वुच्चइ पर-लोउ ॥११०॥

मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां यः मनसि निवसति देवः ।
परस्माद् अपि परतरः ज्ञानमयः स उच्यते परलोकः ॥११०॥

मुणिवरविंदहं हरिहरहं मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां च **जो मणि णिवसइ देउ** योऽसौ मनसि निवसति देवः आराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । **परहं जि परतरु णाणमउ** परस्मादुत्कृष्टादपि अथवा **परहं** जि बहुवचनं परेभ्योऽपि सकाशादतिशयेन परः परतरः । पुनरपि कथंभूतः । ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः **सो वुच्चइ परलोउ** स एवंगुणविशिष्टः शुद्धात्मा परलोक इत्युच्यते इति । पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दैकस्वभाव आत्मा तस्य लोकोऽवलोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवनमिति परलोकशब्दस्यार्थः, अथवा लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः परश्चासौ लोकश्च परलोकः व्यवहारेण पुनः स्वर्गापवर्गलक्षण पर-

लोको भण्यते। अत्र योऽसौ परलोकशब्दवाच्यः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥११०॥

जो देउ मुणिवरविंदहं हरि-हरहं मणि णिवसइ, सो परहं जि परतरु णाणमउ पर-लोउ वुच्चइ ॥११०॥ जो आत्मदेव मुनीश्वरों के समूह के तथा इन्द्र वा वासुदेव रुद्रों के चित्त में रहता है, वह उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट ज्ञानमयी परलोक कहा जाता है। परं अर्थात् उत्कृष्ट वीतरागचिदानन्द शुद्ध स्वभाव आत्मा, उसका लोक अर्थात् अवलोकन निर्विकल्पसमाधि में अनुभवन, यह परलोक शब्द का अर्थ है। अथवा जिसके परमात्मस्वरूप में या केवलज्ञान में जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक होता है और श्रेष्ठ उत्कृष्ट लोक परलोक है। व्यवहारनय की अपेक्षा स्वर्ग-मोक्ष को परलोक कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ परलोक शब्द से वाच्य जो परमात्मा है, वही उपादेय है ॥११०॥

अथ—

अब ऐसा कहते हैं कि जिसका मन निज आत्मा में वस रहा है, वही ज्ञानी जीव परलोक है—

सो पर वुच्चइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेइ।
जहिं मइ तहिं गइ जीवहं जि णियमें जेण हवेइ ॥१११॥

सः परः उच्यते लोकः परः यस्य मतिः तत्र वसति।
यत्र मतिः तत्र गतिः जीवस्य एव नियमेन येन भवति ॥१११॥

सो पर वुच्चइ लोउ परु स परः नियमेनोच्यते लोको जनः। कथंभूतो भण्यते। परः उत्कृष्टः। स कः। **जसु मइ तित्थु वसेइ** यस्य भव्यजनस्य मतिर्मनश्चित्तं तत्र निजपरमात्मस्वरूपे वसति विषयकषायविकल्पजालत्यागेन स्वसंवेदनसंवित्तिस्वरूपेण स्थिरीभवतीति। यस्य परमात्मतत्त्वे मतिस्तिष्ठति स कस्मात्परो भवतीति चेत् **जहिं मइ तहिं जीवहं जि णियमें जेण हवेइ** येन कारणेन यत्र स्वशुद्धात्मस्वरूपे मतिस्तत्रैव गतिः। कस्यैव। जीव-जीवस्यैव अथवा बहुवचनपक्षे जीवानामेव निश्चयेन भवतीति। अयमत्र भावार्थः। यद्यार्तरौद्राधीनतया स्वशुद्धात्मभावनाच्युतो भूत्वा परभावेन परिणमति तदा दीर्घसंसारी भवति, यदि पुनर्निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मतत्त्वे भावनां करोति तर्हि निर्वाणं प्राप्नोति इति ज्ञात्वा सर्वरागादिविकल्पत्यागेन तत्रैव भावना कर्तव्येति ॥१११॥ अथ—

जसु मइ तित्थु वसेइ सो परु पर लोउ वुच्चइ, जेण जहिं मइ तहिं जीवहं गइ जि णियमें हवेइ ॥१११॥ जिस भव्यजीव की बुद्धि उस निज परमात्मस्वरूप में वस रही है यानी विषय-कषाय-विकल्प-जाल के त्याग से स्वसंवेदन-ज्ञान स्वरूप से स्थिर हो रही है, वह पुरुष निश्चय से उत्कृष्ट जन कहा जाता है क्योंकि जैसी बुद्धि होती है वैसी ही जीव की गति निश्चय से होती है। शुद्धात्मस्वरूप

में जिस जीव की बुद्धि हो उसकी वैसी ही गति होती है अर्थात् उसको निज पद की प्राप्ति होती है। जो आर्तध्यान, रौद्रध्यान की आधीनता में अपने शुद्धात्म की भावना से रहित हुआ रागादिक पर-भावरूप परिणमन करता है, वह दीर्घसंसारी होता है और जो निश्चयरत्नत्रयात्मक परमात्मतत्त्व में भावना करता है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है। ऐसा जान कर सब रागादिविकल्पों का त्याग कर उसी परमात्मतत्त्व की भावना करनी चाहिए ॥१११॥

जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तुहुँ मरणु वि जेण लहेहि।
तेँ परबंभु मुएवि मइँ मा पर-दव्वि करेहि ॥११२॥

यत्र मतिः तत्र गतिः जीव त्वं मरणमपि येन लभसे।
तेन परब्रह्म मुक्त्वा मतिं मा परद्रव्ये कार्षीः ॥११२॥

जहिं मइ तहिं गइ जीव तुहुं मरणु वि जेण लहेवि यत्र मतिस्तत्र गतिः। हे जीव त्वं मरणेन कृत्वा येन कारणेन लभसे **तें परबंभु मुएवि मइं मा परदव्वि करेहि** तेन कारणेन परब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं वीतरागसदानन्दैकसुखामृतरसपरिणतं निजशुद्धात्मतत्त्वं मुक्त्वा मतिं चित्तं परद्रव्ये देहसंगादिषु मा कार्षीरिति तात्पर्यार्थः ॥११२॥ एवं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यस्य परमात्मनो व्याख्यानं गतम्।

जीव ! जहिँ मइ तहिँ गइ जेण तुहुँ मरणु वि लहेहि तेँ परबंभु मुएवि परदव्वि मइँ मा करेहि ॥११२॥ हे जीव ! जहाँ तेरी मति है वही तेरी गति है, उसको जिस कारण से तू मर कर पावेगा, इसलिए तू परब्रह्म को छोड़कर पर-द्रव्य में बुद्धि मत लगा। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभाव, वीतराग, सदाआनन्दरूप, अद्वितीय अतीन्द्रिय सुख रूप, अमृतरसतृप्त ऐसे निज शुद्धात्मतत्त्व को छोड़कर अपने चित्त को परद्रव्य में—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म में या देहादि परिग्रहों में मत लगा, यह भावार्थ है ॥११२॥ इस प्रकार चार दोहों सूत्रों से अन्तरस्थल में परलोक शब्द की व्युत्पत्ति से परलोक शब्द का अर्थ परमात्मा करने वाला व्याख्यान किया।

तदनन्तरं किं तत् परद्रव्यमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

अब, वह परद्रव्य क्या है, ऐसा प्रश्न होने पर प्रत्युत्तर देते हैं—

जं णियदव्वहँ भिण्णु जडु तं पर-दव्वु वियाणि।
पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु जाणि ॥११३॥

यत् निजद्रव्याद् भिन्नं जडं तत् परद्रव्यं जानीहि।
पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पञ्चम जानीहि ॥११३॥

जमित्यादि। पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **जं** यत् **णियदव्वहं** निज-

द्रव्यात् **भिण्णु** भिन्नं पृथग्भूतं **जडु** जडं **तं** तत् **परदव्वु वियाणि** परद्रव्यं जानीहि । तच्च किम् । **पुग्गलु धम्माधम्मु णहु** पुद्गलधर्माधर्मनभोरूपं **कालु वि** कालमपि **पंचमु जाणि** पञ्चमं जानीहीति । अनन्तचतुष्टयस्वरूपान्निजद्रव्याद्‌बाह्यं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपं जीवसंबद्धं शेषं पुद्गलादिपञ्चभेदं यत्सर्वं तद्धेयमिति ॥११३॥

जं णियदव्वहँ भिण्णु जडु तं परदव्वु वियाणि । पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु जाणि ॥११३॥ जो निज आत्मद्रव्य से भिन्न जड़ पदार्थ हैं, उसे परद्रव्य जानो । पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और पाँचवें कालद्रव्य को परद्रव्य जानो । अनन्त चतुष्टय स्वरूप निज आत्मद्रव्य से भिन्न अनादि से जीव से सम्बद्ध भाव कर्म रूप रागादिक, द्रव्यकर्मरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्म और नोकर्मरूप शरीरादिक को तथा पुद्गलादि पाँच भेदों को हेय जानो । आत्मतत्त्व ही उपादेय है ॥११३॥

अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरन्तर्मुहूर्तेनापि कर्मजालं दहतीति ध्यानसामर्थ्यं दर्शयति—

अब, वीतरागनिर्विकल्प समाधि एक अन्तर्मुहूर्त में कर्मजाल को जला डालती है, ध्यान की ऐसी शक्ति है, सो दिखाते हैं—

जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ ।
अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरी डहइ असेसु वि पाउ ॥११४॥

यदि निमिषार्धमपि कोऽपि करोति परमात्मनि अनुरागम् ।
अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति अशेषमपि पापम् ॥११४॥

जइ इत्यादि । **जइ णिविसद्धु वि** यदि निमिषार्धमपि **कु वि करइ** कोऽपि कश्चित् करोति । कि करोति । **परमप्पइ अणुराउ** परमात्मन्यनुरागम् । तदा किं करोति । **अग्गिकणी जिम कट्ठगिरी** अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति तथा **डहइ असेसु वि पाउ** दहत्यशेषं पापमिति । तथाहि—ऋद्धिगौरवरसगौरवकवित्ववादित्वगमकत्ववाग्मित्वचतुर्विधशब्दगौरवस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्पजालत्यागरूपेण महावातेन प्रज्वलिता निजशुद्धात्मतत्त्वध्यानाग्निकणिका स्तोकाग्निकेन्धनराशिमिवान्तर्मुहूर्तेनापि चिरसंचितकर्मराशिं दहतीति । अत्रैवंविधं शुद्धात्मध्यानसामर्थ्यं ज्ञात्वा तदेव निरन्तरं भावनीयमिति भावार्थः ॥११४॥

जइ कु वि णिविसद्धु वि परमप्पइ अणुराउ करइ, जिम अग्गिकणी कट्ठ-गिरी डहइ, असेसु वि पाउ ॥११४॥ जो कोई आधे निमेष मात्र भी परमात्मा में अनुराग करे तो जैसे अग्निकणिका काठ के पहाड़ को जला देती है, उसी तरह सम्पूर्ण पापों को जला डाले । **भावार्थ—**ऋद्धि का गर्व, रसायन का गर्व अर्थात् पारा आदि धातुओं के भस्म करने का मद अथवा नव-रस के जानने का गर्व,

कवित्व का मद, वाद में जीतने का मद, शास्त्र की टीका लिखने का मद, शास्त्र के व्याख्यान का मद, इन चार तरह के शब्द गौरव स्वरूप आदि समस्त विकल्प जालो के त्याग रूप प्रचण्ड पवन से प्रज्वलित, निज शुद्धात्मतत्त्व के ध्यान रूप अग्नि की कणी अन्तर्मुहूर्त में ही चिर-संचित कर्मराशि को जला डालती है जैसे अग्नि की कणी ईन्धन के ढेर को शीघ्र जला देती है। **भावार्थ** यह है कि शुद्धात्मा के ध्यान की ऐसी सामर्थ्य जान कर सदैव उसी ध्यान की भावना करनी चाहिए ।।११४।।

अथ हे जीव चिन्ताजालं मुक्त्वा शुद्धात्मस्वरूपं निरन्तरं पश्येति निरूपयति—

अब, हे जीव ! चिन्ताओं को छोड़ कर शुद्धात्म स्वरूप का निरन्तर अवलोकन कर, ऐसा कहते हैं—

मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिच्चिंतउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परमपए देउ णिरंजणु जोइ ।।११५।।

मुक्त्वा सकलां चिन्तां जीव निश्चिन्तः भूत्वा ।
चित्तं निवेशय परमपदे देवं निरञ्जनं पश्य ।।११५।।

मेल्लिवि इत्यादि । **मेल्लिवि** मुक्त्वा **सयल** समस्तं **अवक्खडी** देशभाषया चिन्ता **जिय** हे जीव **णिच्चिंतउ होइ** निश्चिन्तो भूत्वा । किं कुरु । **चित्तु णिवेसहि** चित्तं निवेशय धारय । क्व । **परमपए** निजपरमात्मपदे । पश्चात् किं कुरु । **देउ णिरंजणु जोइ** देवं निरञ्जनं पश्येति । तद्यथा । हे जीव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्वरूपापध्यानादि समस्तचिन्ताजालं मुक्त्वा निश्चिन्तो भूत्वा चित्तं परमात्मस्वरूपे स्थिर कुरु, तदनन्तरं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माञ्जनरहितं देवं परमाराध्यं निजशुद्धात्मानं ध्यायेति भावार्थः । अपध्यानलक्षणं कथ्यते—[1]**"बन्धवधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ।।"** ।।११५।।

जिय सयल अवक्खडी मेल्लिवि णिच्चिंतउ होइ चित्तु परमपए णिवेसहि, णिरंजणु देउ जोइ ।।११५।। हे जीव ! सम्पूर्ण चिन्ताओ का परित्याग कर निश्चित होकर तू अपने चित्त को परम पद में लगा और निरंजनदेव को देख । हे जीव ! देखे-सुने और भोगे हुए भोगों की वांछा रूप पापध्यानादि समस्त चिन्ताजाल को छोड़ कर निश्चिन्त हो कर अपने चित्त को परमात्म स्वरूप मे स्थिर कर । तदनन्तर भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रूप अञ्जन से रहित निरंजनदेव परमाराध्य निज शुद्धात्मा का ध्यान कर, यह **भावार्थ** है । पापध्यान या अपध्यान का लक्षण कहा है—निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिनशासन में उसे अपध्यान कहते हैं जो द्वेष से पर को मारने का, बाँधने का अथवा छेदने का चिन्तन करे और राग भाव से परस्त्री आदि का चिन्तन करे ।।११५।।

अथ शिवशब्दवाच्ये निजशुद्धात्मनि ध्याते यत्सुखं भवति तत्सूत्रत्रयेण प्रतिपादयति—

---
१. समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ७८ ।

अब, शिव शब्द से कहे गये निज शुद्धात्मा के ध्यान करने पर जो सुख होता है, उस सुख का तीन दोहासूत्रों में वर्णन करते हैं—

जं सिव-दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥११६॥

यत् शिवदर्शने परमसुखं प्राप्नोषि ध्यानं कुर्वन् ।
तत् सुखं भुवनेऽपि अस्ति नैव मुक्त्वा देवं अनन्तम् ॥११६॥

जमित्यादि । पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—जं यत् सिवदंसणि स्वशुद्धात्मदर्शने परमसुहु परमसुखं पावहि प्राप्नोषि हे प्रभाकरभट्ट । किं कुर्वन् सन् । झाणु करंतु ध्यानं कुर्वन् सन् तं सुहु तत्पूर्वोक्तसुखं भुवणि वि भुवनेऽपि अत्थि णवि अस्ति नैव । किं कृत्वा । मेल्लिवि मुक्त्वा । कम् । देउ देवम् । कथंभूतम् । अणंतु अनन्तशब्दवाच्यपरमात्मपदार्थमिति । तथाहि—शिवशब्देनात्र विशुद्धज्ञानस्वभावो निजशुद्धात्मा ज्ञातव्यः तस्य दर्शनमवलोकनमनुभवनं तस्मिन् शिवदर्शनेन परमसुखं निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्लादरूपं लभसे । किं कुर्वन् सन् । वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिं कुर्वन् । इत्थंभूतं सुखं अनन्तशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तं मुक्त्वा त्रिभुवनेऽपि नास्तीति । अयमत्रार्थः । शिवशब्दवाच्यो योऽसौ निजपरमात्मा स एव रागद्वेषमोहपरिहारेण ध्यातः सन्ननाकुलत्वलक्षणं परमसुखं ददाति नान्यः कोऽपि शिवनामेति पुरुषः ॥११६॥ अथ—

जं झाणु करंतु सिव दंसणि परम-सुहु पावहि तं सुहु भुवणि वि अणंतु देउ मेल्लिवि णवि अत्थि ॥११६॥ ध्यान करते हुए, निज शुद्धात्मा के अवलोकन में जो परम सुख हे प्रभाकरभट्ट ! तू पा सकता है, वह सुख तीन लोक में भी परमात्म द्रव्य के सिवाय कहीं नहीं है। शिव शब्द से यहाँ विशुद्ध ज्ञान स्वभाव निज शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए। उसका जो दर्शन, अवलोकन, अनुभवन है, उसमें आत्मदर्शन से निजशुद्धात्मभावना से उत्पन्न वीतराग परम आह्लादरूप परम सुख तू प्राप्त करता है। क्या करते हुए प्राप्त करता है ? वीतरागनिर्विकल्प त्रिगुप्ति समाधि करते हुए। इस प्रकार का सुख जो अनन्त शब्द से वाच्य है वह परमात्म तत्त्व ही है, उसे छोड़ कर तीन लोक में अन्य कोई नहीं है। सारांश यह है कि शिव नाम वाला जो निज परमात्मा है, वही रागद्वेष मोह के त्यागपूर्वक ध्यान किए जाने पर अनाकुल लक्षण वाला परम सुख प्रदान करता है, अन्य कोई शिव नाम का पुरुष नहीं है जो सुख देता हो ॥११६॥

जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिँ कोडि रमंतु ॥११७॥

यत् मुनिः लभते अनन्तसुखं निजात्मानं ध्यायन् ।
तत् सुखं इन्द्रोऽपि नैव लभते देवीनां कोटिं रम्यमाणः ॥११७॥

जमित्यादि । **जं** यत् **मुणि** मुनिस्तपोधनः **लहइ** लभते **अणंतसुहु** अनन्तसुखम् । किं कुर्वन् सन् । **णियअप्पा झायंतु** निजात्मानं ध्यायन् सन् **तं सुहु** तत्पूर्वोक्तं सुखं **इंदु वि णवि लहइ** इन्द्रोऽपि नैव लभते । किं कुर्वन् सन् । **देविहिं कोडि रमंतु** देवीनां कोटिं रमयन् अनुभवन्निति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दसहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तद्देवेन्द्रादयोऽपि न लभन्त इति । तथा चोक्तम्—"**दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना । विमुक्तविषयासंगाः सुखायन्ते तपोधनाः**" ।।११७।।

णिय अप्पा झायंतु मुणि जं अणंत सुहु लहइ, तं सुहु इंदु वि देविहिं कोडि रमंतु णवि लहइ ।।११७।। अपनी आत्मा का ध्यान करते हुए मुनि जिस अनन्तसुख को प्राप्त करते है, उस सुख को करोड़ों देवियों के साथ रमण करता हुआ इन्द्र भी नही पाता है । **भावार्थ**–बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित मुनि निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ वीतराग परमानन्द सहित जो सुख प्राप्त करता है, वह सुख इन्द्रादिक भी नही प्राप्त करते । कहा भी है—"महामोहरूपी अग्नि से जलते हुए इस जगत् में विषयसुखो के संग का परित्याग करने वाले तपस्वी ही सुखी है ।" ।।११७।।

अप्पा-दंसणि जिणवरहँ जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु ।।११८।।

आत्मदर्शने जिनवराणां यत् सुखं भवति अनन्तम् ।
तत् सुख लभते विराग. जीवः जानन् शिवं शान्तम् ।।११८।।

अप्पा इत्यादि । **अप्पादंसणि** निजशुद्धात्मदर्शने **जिणवरहं** छद्मस्थावस्थायां जिनवराणां **जं सुहु होइ अणंतु** यत्सुख भवत्यनन्तं **तं सुहु** तत्पूर्वोक्तसुखं **लहइ** लभते । कोऽसौ । **विराउ जिउ** वीतरागभावनापरिणतो जीवः किं कुर्वन् सन् । **जाणंतउ** जानन्ननुभवन् सन् । कम् । **सिउ** शिवशब्दवाच्य निजशुद्धात्मस्वभावम् । कथंभूतम् । **संतु** शान्तं रागादिविभावरहितमिति । अयमत्र भावार्थः । दीक्षाकाले शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मानुभवने यत्सुखं भवति जिनवराणां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो जीवस्तत्सुखं लभत इति ।।११८।।

अप्पा दंसणि जिणवरहँ जं अणंतु सुहु होइ तं सुहु विराउ जिउ सिउ संतु जाणंतउ लहइ ।।११८।। निज शुद्धात्मा के दर्शन में (मुनि अवस्था में) जिनवरो के जो अनन्त सुख होता है, वह सुख विरक्त जीव (मुनि) निज शुद्धात्म स्वभाव को तथा रागादि विभावरहित शान्तभाव को जानते हुए प्राप्त करता है । **भावार्थ**–दीक्षा के समय जिनवरदेव निज शुद्धात्मा का अनुभव करते हुए जो निर्विकल्प सुख प्राप्त करते है, वही सुख वीतराग निर्विकल्प समाधि में रत जीव (विरक्त मुनि) प्राप्त करते है ।।११८।।

अथ कामक्रोधादिपरिहारेण शिवशब्दवाच्यः परमात्मा दृश्यत इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयन्ति—

अब, काम-क्रोधादि के परिहार से शिवशब्द से वाच्य परमात्मा दृष्टिगत होता है, ऐसा अभिप्राय मन में रख कर यह सूत्र कहते हैं—

जोइय णिय-मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु ।
अंबरि णिम्मलि घण-रहिए भाणु जि जेम फुरंतु ।।११६।।

योगिन् निजमनसि निर्मले परं दृश्यते शिवः शान्तः ।
अम्बरे निर्मले घनरहिते भानुः इव यथा स्फुरन् ।।११६।।

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **णियमणि** निजमनसि । कथंभूते । **णिम्मलए** निर्मले **पर** नियमेन **दीसइ** दृश्यते । कोऽसौ । कर्मतापन्नः **सिउ** शिवशब्द-वाच्यो निजपरमात्मा । कथंभूतः । **संतु** शान्तः रागादिरहितः । दृष्टान्तमाह । अम्बरे आकाशे । कथंभूते । **णिम्मलि** निर्मले । पुनरपि कथंभूते । **घणरहिए** घनरहिते । क इव । **भाणु जि** भानुरिव यथा । किं कुर्वन् । **फुरंतु** स्फुरन् प्रकाशमान इति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यथा घनघटाटोपविघटने सति निर्मलाकाशे दिनकरः प्रकाशते तथा शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतानां कामक्रोधादिविकल्परूपघनानां विनाशे सति निर्मल-चित्ताकाशे केवलज्ञानाद्यनन्तगुणकरकलितः निजशुद्धात्मादित्यः प्रकाशं करोतीति ।।११६।।

जोइय ! णिम्मलए णिय मणि सिउ संतु पर दीसइ । जेम घणरहिए णिम्मलि अंबरि भाणु जि फुरंतु ।।११६।। हे योगी ! निर्मल अपने मन मे निज परमात्मा रागादि रहित, नियम से उसी प्रकार दिखाई देता है जिस प्रकार बादलों से रहित निर्मल स्वच्छ आकाश में सूर्य प्रकाशमान दिखाई देता है । जैसे बादलों के घटाटोप के विघटित होने पर निर्मल आकाश में दिनकर प्रकाशित होता है वैसे ही शुद्धात्मा की अनुभूति के विपरीत काम-क्रोधादि विकल्प रूप मेघों के नष्ट हो जाने पर निर्मल चित्त रूपी आकाश में केवलज्ञानादि अनन्त गुण रूपी किरणों से सुशोभित निज शुद्धात्मा रूपी सूर्य प्रकाशित होता है ।।११६।।

अथ यथा मलिने दर्पणे रूपं न दृश्यते तथा रागादिमलिनचित्ते शुद्धात्मस्वरूपं न दृश्यत इति निरूपयति—

अब कहते हैं कि जैसे मलिन दर्पण में प्रतिबिम्ब नही दिखाई देता, उसी प्रकार रागादि से मलिन चित्त मे शुद्धात्मस्वरूप नहीं दिखाई देता—

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ।।१२०।।

रागेन रञ्जिते हृदये देव न दृश्यते शान्तः ।
दर्पणे मलिने बिम्ब यथा एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥१२०॥

रागं इत्यादि । राएं रंगिए हियवडए रागेन रञ्जिते हृदये **देउ ण दीसइ** देवो न दृश्यते । किंविशिष्टः संतु शान्तो रागादिरहितः । दृष्टान्तमाह । **दप्पणि मइलए** दर्पणे मलिने **बिंबु जिम** बिम्ब यथा **एहउ** एतत् जानीहि **हे प्रभाकरभट्ट णिभंतु** निर्भ्रान्तं यथा भवतीति । अयमत्राभिप्रायः । यथा मेघपटलप्रच्छादितो विद्यमानोऽपि सहस्रकरो न दृश्यते तथा केवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकोऽपि कामक्रोधादिविकल्पमेघप्रच्छादितः सन् देहमध्ये शक्तिरूपेण विद्यमानोऽपि निजशुद्धात्मा दिनकरो न दृश्यते इति ॥१२०॥

राएं रंगिए हियवडए संतु देउ ण दीसइ जिम मइलए दप्पणि बिंबु, एहउ णिभंतु जाणि ॥१२०॥ राग से रंजित हृदय में शान्त-रागादिरहित देव नहीं दिखाई देता, जैसे कि मैले दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता । हे प्रभाकरभट्ट ! यह बात तू सन्देहरहित जान । **अभिप्राय** यह है कि जैसे मेघसमूह से आच्छादित होने के कारण आकाश मे विद्यमान भी सूर्य नही दिखाई देता वैसे हो केवलज्ञान रूपी किरणों से लोकालोक का प्रकाशक होते हुए भी, देह मे शक्तिरूप से विद्यमान भी निज शुद्धात्म रूप सूर्य काम-क्रोधादि विकल्प मेघों से ढका होने पर दिखाई नहीं देता ॥१२०॥

अथानन्तरं विषयासक्तानां परमात्मा न दृश्यत इति दर्शयति—

अब कहते हैं कि विषयासक्तों को परमात्मा दिखाई नहीं देता—

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि ।
एक्कहिँ केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥१२१॥

यस्य हरिणाक्षी हृदये तस्य नैव ब्रह्म विचारय ।
एकस्मिन् कथं समायातौ वत्स द्वौ खड्गौ प्रत्याकारे (?) ॥१२१॥

जसु इत्यादि । **जसु** यस्य पुरुषस्य **हरिणच्छी** हरिणाक्षी स्त्री **हियवडए** हृदये वसतीति क्रियाध्याहारः, **तसु** तस्य **णवि** नैवास्ति । कोऽसौ । **बंभु** ब्रह्मशब्दवाच्यो निज-परमात्मा **वियारि** एवं विचारय त्वं **हे प्रभाकरभट्ट** । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह । **एक्कहिं केम** एकस्मिन् कथं **समंति** सम्यग्मिमाते सम्यगवकाशं कथं लभेते **वढ** वत **बे खंडा** द्वौ खड्गौ असी । क्वाधिकरणभूते । **पडियारी** प्रतिकारे (?) कोशशब्दवाच्ये इति । तथाहि । वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिसंजातानाकुलत्वलक्षणपरमानन्दसुखामृतप्रतिबन्धकैराकुल-त्वोत्पादकैः स्त्रीरूपावलोकनचिन्तादिसमुत्पन्नहावभावविभ्रमविलासविकल्पजालैर्मूर्च्छिते वासिते रञ्जिते परिणते चित्ते त्वेकस्मिन् प्रतिहारे (?) खड्गद्वयवत्परमब्रह्मशब्दवाच्य-

निजशुद्धात्मा कथमवकाशं लभते न कथमपीति भावार्थः। हावभावविभ्रमविलासलक्षणं कथ्यते। **"हावो मुखविकारः स्याद्भावश्चित्तोत्थ उच्यते। विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रू युगान्तयोः।"** ॥१२१॥

जसु हियवडए हरिणच्छी तसु बंभु णवि, वढ वियारि; एक्कहिँ पडियारि केम वे खंडा **समंति ॥१२१॥** जिसके हृदय में मृगनयनी (स्त्री) वस रही है, उसके अपना शुद्धात्मा नहीं है अर्थात् उसे शुद्धात्मा का दर्शन नही होता, हे वत्स प्रभाकरभट्ट ! तू विचार कर कि एक म्यान में दो तलवारें कैसे समा सकती हैं ? भावार्थ–वीतराग निर्विकल्प परम समाधि से उत्पन्न अनाकुलता रूप परम आनन्द अतीन्द्रिय सुखरूप अमृत है, उसको रोकने वाले तथा आकुलता पैदा करने वाले जो स्त्री रूप के देखने की अभिलाषादि से उत्पन्न हुए हाव-भाव-विभ्रम-विलासरूप विकल्प समूह हैं उनसे मूर्छित, रंजित, परिणत चित्त में ब्रह्म (निज शुद्धात्मा) का रहना कैसे हो सकता है; जैसे कि एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं। कदापि नहीं रह सकतीं। हाव-भाव-विभ्रम-विलास का लक्षण कहते हैं—"हाव मुख के विकार हैं, भाव चित्त के विकार हैं और विलास-विभ्रम नेत्रों और भौंहों से उत्पन्न विकार जानने चाहिए।" ॥१२१॥

अथ रागादिरहिते निजमनसि परमात्मा निवसतीति दर्शयति—

अब कहते हैं कि रागादि रहित निज मन में परमात्मा निवास करता है --

णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥१२२॥

निजमनसि निर्मले ज्ञानिनां निवसति देवः अनादिः।
हंसः सरोवरे लीनः यथा मम ईदृशः प्रतिभाति ॥१२२॥

णियमणि इत्यादि। **णियमणि** निजमनसि। किंविशिष्टे। **णिम्मलि** निर्मले रागादिमलरहिते। केषां मनसि। **णाणियहं** ज्ञानिनां **णिवसइ** निवसति। कोऽसौ। **देउ** देवः आराध्यः किंविशिष्टः। **अणाइ** अनादिः। क इव कुत्र। **हंसा सरवरि लीणु जिम** हंसः सरोवरे लीनो यथा **हे प्रभाकरभट्ट** महु एहउ **पडिहाइ** ममैवं प्रतिभातीति। तथाहि। पूर्वसूत्रकथितेन चित्ताकुलोत्पादकेन स्त्रीरूपावलोकनसेवनचिन्तादिसमुत्पन्नेन रागादिकल्लोलमालाजालेन रहिते निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानसहजसमुत्पन्नवीतराग-परमसुखसुधारसस्वरूपेण निर्मलनीरेण पूर्णे वीतरागस्वसंवेदनजनितमानससरोवरे परमात्मा लीनस्तिष्ठति। कथंभूतः। निर्मलगुणसादृश्येन हंस इव हंसपक्षी इव। कुत्र प्रसिद्धः। सरोवरे। हंस इवेत्यभिप्रायो भगवतां श्रीयोगीन्द्रदेवानाम् ॥१२२॥

णाणियहँ णिम्मलि णियमणि अणाइ देउ णिवसइ। जिम सरवरि लीणु हंसा, महु एहउ पडिहाइ ॥१२२॥ ज्ञानियों के रागादि मल रहित निज मन मे अनादि देव-आराध्य शुद्धात्मा निवास

कर रहा है। जैसे सरोवर मे लीन हुआ हंस रहता है। ऐसा मुझे मालूम पडता है। **भावार्थ**-पूर्व दोहे में कथित, चित्त की आकुलता को उपजाने वाले स्त्रीरूप के दर्शन सेवन चिन्तन आदि से समुत्पन्न रागादि तरंगों के समूह से रहित, निजशुद्धात्मद्रव्य का सम्यक् श्रद्धान, स्वाभाविक ज्ञान, उससे उत्पन्न वीतरागपरमसुख रूप अमृत रस रूपी निर्मल नीर से परिपूर्ण ज्ञानियो के वीतराग स्वानुभव जनित मानसरोवर में परमात्मा रूपी हंस निरन्तर रहता है। निर्मल गुणों की समानता के कारण वह आत्मदेव हंस के समान है। हस मानसरोवर में रहते हैं वैसे ही ब्रह्म का निवास-स्थान ज्ञानियो का निर्मल चित्त है ॥१२२॥

उक्तं च--

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति ॥१२३॥

देवः न देवकुले नैव शिलायां नैव लेप्ये नैव चित्रे ।
अक्षयः निरञ्जनः ज्ञानमयः शिवः संस्थितः समचित्ते ॥१२३॥

देउ इत्यादि । **देउ** देवः परमाराध्यः **ण** नास्ति कस्मिन् कस्मिन् नास्ति । **देउले** देवकुले देवतागृहे **णवि सिलए** नैव शिलाप्रतिमायां, **णवि लिप्पइ** नैव लेपप्रतिमायां, **णवि चित्ति** नैव चित्रप्रतिमायाम् । तर्हि क्व तिष्ठति । निश्चयेन **अखउ** अक्षयः **णिरंजणु** कर्माञ्जनरहितः । पुनरपि किंविशिष्टः । **णाणमउ** ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः **सिउ** शिवशब्द वाच्यो निजपरमात्मा । एवंगुणविशिष्टः परमात्मा देव इति । **संठिउ** संस्थितः **समचित्ति** समभावे समभावपरिणतमनसि इति । तद्यथा । यद्यपि व्यवहारेण धर्मवर्तनानिमित्तं स्थापनारूपेण पूर्वोक्तगुणलक्षणो देवो देवगृहादौ तिष्ठति तथापि निश्चयेन शत्रुमित्रसुखदुःखजीवितमरणादिसमतारूपं वीतरागसहजानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकसमचित्ते समशब्दवाच्यः परमात्मा तिष्ठतीति भावार्थः ॥ तथा चोक्तं समचित्तपरिणतश्रमणलक्षणम्—"**समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो । समलोहकंचणो वि य जीवियमरणे समो समणो ॥**" ॥१२३॥ इत्येकत्रिंशत्सूत्रैश्चूलिकास्थलं गतम् ।

देउ देउले ण, सिलए णवि, लिप्पइ णवि, चित्ति णवि, अखउ, णिरंजणु, णाणमउ सिउ समचित्ति संठिउ ॥१२३॥ आत्मदेव देवालय (मन्दिर) मे नहीं है, पाषाण की प्रतिमा मे भी नही है, लेप में भी नही है और चित्र मे भी नही है। वह देव अविनाशी है, निरजन है, ज्ञानमय है, ऐसा निज परमात्मा समभाव मे तिष्ठता है अर्थात् समभाव को परिणत हुए जीवों मे विराज रहा है, अन्यत्र नही। **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनय से धर्मप्रवृत्ति के लिए पूर्वोक्तगुणलक्षण देव स्थापना रूप से देवालय मे विराजते हैं तथापि निश्चय नय से शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, जीवित-मरणादि जिसमें समान हैं तथा वीतराग सहजानन्दरूप परमात्म तत्त्व की सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप लीनता

जिसमें है—ऐसे ज्ञानी के समचित्त में परमात्मा तिष्ठता है। अन्यत्र भी समचित्त को परिणत हुए श्रमण का लक्षण ऐसा कहा है—[1]"जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, सुख दुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा समान है, मिट्टी और सोना समान है, तथा जीवन और मरण भी समान है, वह श्रमण है।" ॥१२३॥ इस प्रकार इकतीस दोहों का चूलिकास्थल कहा।

अथ स्थलसंख्यावाह्यं प्रक्षेपकद्वयं कथ्यते—

अब, स्थलसंख्या से अलग दो प्रक्षेपक दोहे कहते हैं—

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स।
वीहि वि समरसि हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स ॥१२३*२॥

मन: मिलितं परमेश्वरस्य परमेश्वर: अपि मनस:।
द्वयोरपि समरसीभूतयो: पूजां समारोपयामि कस्य ॥१२३*२॥

मणु इत्यादि। **मणु** मनो विकल्परूपं **मिलियउ** मिलितं तन्मयं जातम्। कस्य संवन्धित्वेन। **परमेसरहं** परमेश्वरस्य **परमेसरु वि मणस्स** परमेश्वरोऽपि मन: संवन्धित्वेन लीनो जात: **वीहि वि समरसिहूवाहं** एवं द्वयोरपि समरसीभूतयो: **पुज्ज** पूजां **चडावउं** समारोपयामि। **कस्स** कस्य निश्चयनयेन न कस्यापीति। अयमत्र भावार्थ:। यद्यपि व्यवहारनयेन गृहस्थावस्थायां विषयकपायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं धर्मवर्धनार्थं च पूजाभिषेकदानादिव्यवहारोऽस्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां तत्काले वहिरङ्गव्यापाराभावात् स्वयमेव नास्तीति ॥१२३*२॥

मणु परमेसरहँ मिलियउ, परमेसरु वि मणस्स। वीहि वि समरसि हूवाहँ कस्स पुज्ज चडावउँ ॥१२३*२॥ विकल्परूप मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर भी मन से मिल गया तो दोनों ही को समरस (परस्पर एकमेक) हो जाने पर मैं अब किसकी पूजा करूँ यानी निश्चयनय से किसी को पूजना नही रहा। **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहारनय से गृहस्थावस्था में विषय-कपाय रूप दुर्ध्यान को हटाने के लिए और धर्म को वढ़ाने के लिए पूजा-अभिषेक दानादि का व्यवहार है तो भी वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में रत योगीश्वरों को उस समय में वाह्य व्यापार का अभाव होने से स्वयं ही द्रव्यपूजा का प्रसंग उपस्थित नही होता ॥१२३*२॥

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय-कसायहिँ जंतु।
मोक्खहँ कारणु एत्तडउ अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥१२३*३॥

येन निरञ्जने मन: धृतं विपयकपायेपु गच्छत्।
मोक्षस्य कारणं एतावदेव अन्य: न तन्त्रं न मन्त्र: ॥१२३*३॥

---

१. कुन्दकुन्द प्रवचनसार गाथा २४१।

जेण इत्यादि । येन येन पुरुषेण कर्तृभूतेन **णिरंजणि** कर्माञ्जनरहिते परमात्मनि **मणु** मनः **धरिउ** धृतम् । कि कुर्वत् सत् । **विसयकसायहिं जंतु** विषयकषायेषु गच्छत् सत् । विसयकसायहि तृतीयान्तं पद सप्तम्यन्तं कथं जातमिति चेत् । परिहारमाह । प्राकृते क्वचित्कारक-व्यभिचारो भवति लिङ्गव्यभिचारश्च । इदं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । **मोक्खहं कारणु** मोक्षस्य कारणं **एत्तडउ** एतावदेव । विषयकषायरतचित्तस्य व्यावर्तनेन स्वात्मनि स्थापनं **अण्णु ण** अन्यत् किमपि न मोक्षकारणम् । अन्यत् किम् । **तन्तु** तन्त्रं शास्त्रमौषधं वा **मंतु** मन्त्राक्षरं चेति । तथाहि । शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिकूलेषु विपयकपायेषु गच्छत् सत् मनो वीतरागनिर्विकल्पस्वसवेदनज्ञानवलेन व्यावर्त्य निज-शुद्धात्मद्रव्ये स्थापयति यः स एव मोक्षं लभते नान्यो मन्त्रतन्त्रादिबलिष्ठोऽपीति भावार्थः ।।१२३*३।।

जेण विसयकसायहिँ जंतु मणु णिरंजणि धरिउ, एत्तडउ मोक्खहँ कारणु अण्णु तंतु ण मंतु ण ।।१२३*३।। जिसने विपयकपायों मे जाते हुए मन को कर्माजन से रहित भगवान में रखा, ये ही मोक्ष के कारण हैं, दूसरा कोई भी तंत्र नही है और न मंत्र है। विपयकपायादि परपदार्थो से मन को रोक कर परमात्मा मे मन को लगाना ही मोक्ष का कारण है। **भावार्थ**—जो कोई जीव शुद्धात्मतत्त्व की भावना से प्रतिकूल विपय-कपायो में जाते हुए मन को वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन-ज्ञान के वल से पीछे हटा कर निज शुद्धात्मद्रव्य में स्थापित करता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है, दूसरा कोई मंत्र-तंत्रादि मे वलिष्ठ होने पर भी मोक्ष नही पाता ।।१२३*३।।

एवं **परमात्मप्रकाशवृत्तौ** प्रक्षेपकत्रयं विहाय त्र्यधिकविंशत्युत्तरशतदोहकसूत्रैस्त्रिविधात्मप्रति-पादकनामा **प्रथममहाधिकारः** समाप्त ।। १ ।।

इस प्रकार परमात्मप्रकाश की टीका में तीन प्रक्षिप्त दोहो को छोडकर एक सौ तेईस दोहा-सूत्रो में वहिरात्मा-अन्तरात्मा और परमात्मारूप त्रिविध आत्मा का प्रतिपादक प्रथम महाधिकार पूर्ण हुआ ।।१।।

।। इति प्रथम महाधिकार ।।



द्वितीय–महाधिकारः

अत ऊर्ध्वं स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयप्रमितैर्दोहकसूत्रैर्मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यते । तत्रादौ सूत्रदशकपर्यन्तं मोक्षमुख्यतया व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

अब आगे प्रकरणसंख्या से बाह्य प्रक्षेपक दोहों के अतिरिक्त दो सौ चौदह दोहा सूत्रों में मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्ग के प्रतिपादन की मुख्यता से दूसरा महाधिकार प्रारम्भ करते हैं। पहले दस दोहों तक मोक्ष की मुख्यता से व्याख्यान करते है—

सिरिगुरु अक्खहि मोक्खु महु मोक्खहँ कारणु तत्थु ।
मोक्खहँ केरउ अण्णु फलु जें जाणउँ परमत्थु ।।१।।

श्रीगुरो आख्याहि मोक्षं मम मोक्षस्य कारणं तथ्यम् ।
मोक्षस्य संबन्धि अन्यत् फलं येन जानामि परमार्थम् ।।१।।

सिरिगुरु इत्यादि । **सिरिगुरु** हे श्रीगुरो **योगीन्दुदेव** **अक्खहि** कथय **मोक्खु** मोक्षं **महु** मम, न केवलं मोक्षं **मोक्खहं कारणु** मोक्षस्य कारणम् । कथंभूतम् । **तत्थु** तथ्यम् **मोक्खहं केरउ** मोक्षस्य संबन्धि **अण्णु** अन्यत् । किम् । **फलु** फलम् । एतत्त्रयेन ज्ञातेन किं भवति । **जें जाणउं** येन त्रयस्य व्याख्यानेन जानाम्यहं कर्ता । कम् । **परमत्थु** परमार्थमिति । तद्यथा । **प्रभाकरभट्टः श्रीयोगीन्दुदेवान्** विज्ञाप्य मोक्षं मोक्षफलं मोक्षकारणमिति त्रयं पृच्छतीति भावार्थः ।।१।।

सिरिगुरु महु मोक्खु तत्थु मोक्खहँ कारणु अण्णु मोक्खहँ केरउ फलु अक्खहि जें परमत्थु जाणउँ ।।१।। हे श्रीगुरो ! मुझे मोक्ष, सत्यार्थ मोक्ष का कारण और मोक्ष का फल कहो जिससे मैं परमार्थ को जान सकूँ । **भावार्थः**—प्रभाकरभट्ट श्री योगीन्दुदेव से मोक्ष, मोक्ष का कारण और मोक्ष का फल इन तीनों के सम्बन्ध मे पूछते हैं ।।१।।

अथ तदेव त्रयं क्रमेण भगवान् कथयति—

अब उन तीनो को क्रम से भगवान् कहते है—

जोइय मोक्खु वि मोक्ख-फलु पुच्छिउ मोक्खहँ हेउ ।
सो जिण-भासिउ णिसुणि तुहुँ जेण वियाणहि भेउ ।।२।।

योगिन् मोक्षोऽपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः ।
तत् जिनभाषितं निशृणु त्वं येन विजानासि भेदम् ।।२।।

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **मोक्खु वि** मोक्षोऽपि **मोक्खफलु** मोक्षफलं **पुच्छिउ** पृष्टं त्वया कर्तृभूतेन । पुनरपि क: पृष्ट: । **मोक्खहं हेउ** मोक्षस्य हेतु: कारणम् । तत्त्रयं **जिणभासिउ** जिनभाषित **णिसुणि** निश्चयेन शृणु समाकर्णय **जेण वियाणहि भेउ** विजानासि भेद त्रयाणां सम्बन्धिनमिति । अयमत्र तात्पर्यार्थ: । **श्रीयोगीन्दुदेवाः** कथयन्ति **हे प्रभाकरभट्ट** शुद्धात्मोपलम्भलक्षणं मोक्षं केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपं मोक्षफल भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च क्रमेण प्रतिपादयाम्यहं त्वं शृण्विति ।।२।।

जोइय मोक्खु वि मोक्खफलु मोक्खहँ हेउ पुच्छिउ सो जिणभासिउ तुहुँ णिसुणि जेण भेउ वियाणहि ।।२।। हे योगी ! तूने मोक्ष और मोक्ष का फल तथा मोक्ष का कारण पूछा है । उसे जैसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है, वैसा सुन जिससे तू अच्छी तरह भेद जान सके । श्री योगीन्दुदेव अपने शिष्य से कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट ! शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप मोक्ष, केवलज्ञानादि अनन्त-चतुष्टय के प्रकटपने रूप मोक्षफल, तथा भेदाभेद (निश्चय व्यवहार) रत्नत्रयरूप मोक्ष का मार्ग— इन तीनों के सम्बन्ध में मैं जिनाज्ञा प्रमाण कहता हूँ—सो तू सुन, उससे तुझे सब भेद ज्ञात हो जायेगा ।।२।।

अथ धर्मार्थकाममोक्षाणां मध्ये सुखकारणत्वान्मोक्ष एवोत्तम इति अभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

अब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें से सुख का कारण होने से मोक्ष ही सबसे उत्तम है, ऐसा अभिप्राय मन मे धारण कर यह दोहा कहते हैं—

धम्मह अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु ।
उत्तमु पभणहिँ णाणि जिय अण्णेँ जेण ण सोक्खु ।।३।।

धर्मस्य अर्थस्य कामस्यापि एतेषां सकलानां मोक्षम् ।
उत्तम प्रभणन्ति ज्ञानिन: जीव अन्येन येन न सौख्यम् ।।३।।

धम्महं इत्यादि । **धम्महं** धर्मस्य धर्माद्वा **अत्थहं** अर्थस्य अर्थाद्वा **कामहं वि** कामस्यापि कामाद्वा **एयहं सयलहं** एतेषां सकलानां संबन्धित्वेन एतेभ्यो वा सकाशात् **मोक्खु** मोक्ष **उत्तमु पभणहिं** उत्तम विशिष्टं प्रभणन्ति । के कथयन्ति । **णाणि** ज्ञानिन: । **जिय** हे जीव । कस्मादुत्तम प्रभणन्ति मोक्षम् । **अण्णइं** अन्येन धर्मार्थकामादिना **जेण** येन कारणेन **ण सोक्खु** नास्ति परमसुखम् इति । तद्यथा—धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते अर्थशब्देन तु पुण्यफलभूतार्थो राज्यादिविभूतिविशेष:, कामशब्देन तु तस्यैव राज्यस्य मुख्यफलभूत: स्त्रीवस्त्रगन्ध-माल्यादिसंभोग: । एतेभ्यस्त्रिभ्य: सकाशान्मोक्षमुत्तमं

कथयन्ति । के ते । वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानिनः । कस्मात् । आकुलत्वोत्पादकेन वीतरागपरमानन्दसुखामृतरसास्वादविपरीतेन धर्मार्थकामादिना मोक्षादन्येन येन कारणेन सुखं नास्तीति भावार्थः ॥३॥

जिय ! धम्मह अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु उत्तमु णाणि पभणहिँ जेण अण्णे सोक्खु ण ॥३॥ हे जीव ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सब पुरुषार्थों में ज्ञानी पुरुष मोक्ष को उत्तम कहते हैं क्योंकि अन्य धर्म अर्थ कामादि मे परम सुख नही है । **विशेषार्थ**–धर्म शब्द मे यहाँ पुण्य का कथन है, अर्थ शब्द से पुण्य का फल राज्यादिविभूति विशेष जानना और काम शब्द से उस राज्य का मुख्य फल स्त्री, वस्त्र, गन्धमाल्यादि वस्तु रूप भोग जानना । इन तीनों से परमसुख नही है । इसीलिए वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानी मोक्ष को इनसे उत्तम कहते हैं । क्योंकि मोक्ष से भिन्न धर्म-अर्थ-काम आकुलता के उत्पादक है और वीतराग परमानन्द सुखामृत के रसास्वाद से विपरीत हैं, इसलिए सुख के करने वाले नही हैं, ऐसा जानना ॥३॥

अथ धर्मार्थकामेभ्यो यद्युत्तमो न भवति मोक्षस्तर्हि तत्त्रयं मुक्त्वा परलोकशब्दवाच्यं मोक्षं किमिति जिना गच्छन्तीति प्रकटयन्ति––

आगे, यदि मोक्ष धर्म, अर्थ और काम इन तीनो मे उत्तम नही होता तो इन तीनों को छोड़कर जिनेश्वरदेव मोक्ष क्यों जाते ? यह कहते हैं –

जइ जिय उत्तमु होइ णवि एयहँ सयलहँ सोइ ।
तो किं तिण्णि वि परिहरवि जिण वच्चहिँ पर-लोइ ॥४॥

यदि जीव उत्तमो भवति नैव एतेभ्यः सकलेभ्यः स एव ।
ततः किं त्रीण्यपि परिहृत्य जिनाः व्रजन्ति परलोके ॥४॥

जइ इत्यादि । **जइ** यदि चेत् **जिय** हे जीव **उत्तमु होइ णवि** उत्तमो भवति नैव । केभ्यः । **एयहं सयलहं** एतेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो धर्मादिभ्यः । कतिसंख्योपेतेभ्यः । सकलेभ्यः **सो वि** स एव पूर्वोक्तो मोक्षः **तो** ततः कारणात् **किं** किमर्थं **तिण्णि वि परिहरवि** त्रीण्यपि परिहृत्य त्यक्त्वा **जिण** जिनाः कर्तारः **वच्चहिं** व्रजन्ति गच्छन्ति । कुत्र गच्छन्ति । **परलोइ** परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने न तु कायमोक्षे चेति । तथाहि–परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थः कथ्यते । परः उत्कृष्टो मिथ्यात्वरागादिरहितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितः परमात्मा परशब्देनोच्यते तस्यैवंगुणविशिष्टस्य परमात्मनो लोको लोकनमवलोकनं वीतरागपरमानन्दसमरसीभावानुभवनं लोक इति परलोकशब्दस्यार्थः । अथवा पूर्वोक्तलक्षणः परमात्मा परशब्देनोच्यते । निश्चयेन परमशिवशब्दवाच्यो मुक्तात्मा शिव इत्युच्यते तस्य लोकः शिवलोक इति । अथवा परमब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा परमब्रह्म इति तस्य लोको ब्रह्मलोक इति । अथवा परम विष्णुशब्दवाच्यो

मुक्तात्मा विष्णुरिति तस्य लोको विष्णुलोक इति परलोकशब्देन मोक्षो भण्यते परश्चासौ लोकश्च परलोक इति। परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थो ज्ञातव्यः न चान्यः कोऽपि परकल्पितः शिवलोकादिरस्तीति। अत्र स एव परलोकशब्दवाच्यः परमात्मोपादेय इति तात्पर्यम् ॥४॥

जिय जइ एयहँ सयलहँ सोइ उत्तमु णवि होइ तो जिण तिण्णि वि परिहरवि परलोइ किं वच्चहिँ ॥४॥ हे जीव ! जो इन सबमें—धर्म अर्थ काम से—मोक्ष उत्तम ही नहीं होता तो श्री जिनवरदेव इन तीनों को छोड़कर मोक्ष क्यों जाते ? **भावार्थ**-पर अर्थात् उत्कृष्ट मिथ्यात्व रागादि रहित, केवलज्ञानादि अनन्त गुण सहित परमात्मा वह पर है, उस परमात्मा का लोक अर्थात् अवलोकन वीतराग परमानन्द समरसीभाव का अनुभव वह परलोक कहा जाता है। अथवा परमात्मा को परमशिव कहते हैं, उसका जो अवलोकन वह शिवलोक है, अथवा परमात्मा का ही नाम परमब्रह्म है, उसका लोक है, वह ब्रह्मलोक है। अथवा उसी का नाम परमविष्णु है, उसका लोक अर्थात् स्थान वह विष्णुलोक है, ये सब मोक्ष के नाम हैं यानी जितने परमात्मा के नाम हैं उनके आगे 'लोक' लगाने से मोक्ष के नाम हो जाते हैं, दूसरा कोई कल्पित शिवलोक, ब्रह्मलोक या विष्णुलोक नहीं है। सारांश यह है कि परलोकशब्द से वाच्य परमात्मा ही उपादेय है, अन्य कोई नहीं ॥४॥

अथ तमेव मोक्षं सुखदायकं दृष्टान्तद्वारेण द्रढयति—

अब, वह मोक्ष सुखदायक है, इस बात को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं—

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ।
तो किं इच्छहिँ बंधणहिँ बद्धा पसुय वि सोइ ॥५॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमो मोक्षो न भवति।
ततः किं इच्छन्ति बन्धनैः बद्धा पशवोऽपि तमेव ॥५॥

उत्तमु इत्यादि। **उत्तमु** उत्तमं **सुक्खु** सुखं **ण देइ जइ** न ददाति यदि चेत् **उत्तमु मुक्खु ण होइ** उत्तमो मोक्षो न भवति **तो** तस्मात्कारणात् **किं** किमर्थं **इच्छहिँ** इच्छन्ति **बंधणहिँ** बन्धनैः **बद्धा** निबद्धाः। **पसुय वि** पशवोऽपि। किमिच्छन्ति। **सोइ** तमेव मोक्षमिति। अयमत्र भावार्थः। सुखकारणत्वाद्धेतोः बन्धनबद्धाः पशवोऽपि मोक्षमिच्छन्ति तेन कारणेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूतस्योपादेयरूपस्यानन्तसुखस्य कारणत्वादिति ज्ञानिनो विशेषेण मोक्षमिच्छन्ति ॥५॥

जइ मुक्खु उत्तमु सुक्खु ण देइ, उत्तमु ण होइ। तो बंधणहिँ बद्धा पसुय वि सोइ किं इच्छहिँ ॥५॥ जो मोक्ष उत्तम सुख को देने वाला न होवे तो उत्तम नहीं होवे और यदि मोक्ष उत्तम ही न हो तो फिर बन्धनों में बद्ध पशु भी उस मोक्ष की ही इच्छा क्यों करे ? सुख का कारण होने से बन्धन में बँधे पशु भी छूटना (मोक्ष-मुक्ति) चाहते हैं अतः केवलज्ञानादि अनन्तगुणों से तन्मयी

उपादेयरूप अनन्त सुख का कारण होने से ज्ञानी पुरुष विशेषरूप से मोक्ष की ही इच्छा करते हैं, यह भावार्थ है ।।५।।

अथ यदि तस्य मोक्षस्याधिकगुणगणो न भवति तर्हि लोको निजमस्तकस्योपरि तं किमर्थं धरतीति निरूपयति—

अब कहते हैं कि यदि मोक्ष में अधिक गुणों का समूह नहीं होता तो मोक्ष को लोक अपने मस्तक पर क्यों धारण करता ?

अणु जइ जगहँ वि अहिययरु गुण-गणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउ वि किं धरइ णिय-सिर-उप्परि सोइ ।।६।।

अन्यद् यदि जगतोऽपि अधिकतरः गुणगणः तस्य न भवति ।
ततः त्रिलोकोऽपि किं धरति निजशिर उपरि तमेव ।।६।।

अणु इत्यादि । **अणु** पुनः **जइ** यदि चेत् **जगहँ वि** जगतोऽपि सकाशात् **अहिययरु** अतिशयेनाधिकः अधिकतरः । कोऽसौ । **गुणगणु** गुणगणः **तासु** तस्य मोक्षस्य **ण होइ** न भवति । **तो** ततः कारणात् **तइलोउ वि** त्रिलोकोऽपि कर्ता । **किं धरइ** किमर्थं धरति । कस्मिन् । **णियसिरउप्परि** निजशिरसि उपरि । **किं धरइ** किं धरति । **सोइ** तमेव मोक्षमिति । तद्यथा । यदि तस्य मोक्षस्य पूर्वोक्तः सम्यक्त्वादिगुणगणो न भवति तर्हि लोकः कर्ता निजमस्तकस्योपरि तत्किं धरतीति । अत्रानेन गुणगणस्थापनेन किं कृतं भवति, बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराभिधानानां नवानां गुणानामभावं मोक्षं मन्यन्ते ये वृद्धवैशेषिकास्ते निषिद्धाः । ये च प्रदीपनिर्वाणवज्जीवाभावं मोक्षं मन्यन्ते सौगतास्ते च निरस्ताः । यच्चोक्तं **सांख्यैः** सुप्तावस्थावत् सुखज्ञानरहितो मोक्षस्तदपि निरस्तम् । लोकाग्रेतिष्ठतीति वचनेन तु **मण्डिकसंज्ञा नैयायिकमतान्तर्गता** यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति वदन्ति तेऽपि निरस्ता इति । जैनमते पुनरिन्द्रियजनितज्ञानसुखस्याभावे न चातीन्द्रियज्ञानसुखस्येति कर्मजनितेन्द्रियादिदशप्राणसहितस्याशुद्धजीवस्याभावेन न पुनः शुद्धजीवस्येति भावार्थः ।।६।।

अणु जइ जगहँ वि अहिययरु गुणगणु तासु ण होइ तो तइलोउ वि णिय सिर उप्परि सोइ किं धरइ ? ।।६।। यदि मोक्ष में सबलोक से अधिक गुणों का समूह नहीं होता तो तीनों लोक भी उसे अपने मस्तक के ऊपर क्यों धारण करते ? **विशेषार्थ**–मोक्ष लोक के शिखर पर विराजित है क्योंकि उसमें बहुत गुण हैं । कोई किसी को अपने सिर पर धारण करता है तो अपने से अधिक गुणी जान कर ही धारण करता है । यदि मोक्ष में क्षायिक सम्यक्त्व, केवलदर्शनादि अनन्त गुण न होते तो मोक्ष सब के सिर पर नहीं होता, मोक्ष से ऊपर अन्य कोई स्थान नहीं है । मोक्ष के आगे अनन्त अलोक है और वह भी सिद्धों के ज्ञान में भासित है । यहाँ मोक्ष में अनन्त गुणों की स्थापना

करने में मिथ्यादृष्टियों का खण्डन किया। कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते हैं कि बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन नौ गुणों के अभाव रूप मोक्ष है, उनका निषेध किया। क्योंकि इन्द्रियजन्य बुद्धि का तो अभाव है परन्तु केवलज्ञान का अभाव नहीं है; इन्द्रियजनित सुखों का अभाव है किन्तु अतीन्द्रिय सुख की पूर्णता है, दु:ख-इच्छा-द्वेष प्रयत्न इन विभावरूप गुणों का तो अभाव ही है, केवलरूप परिणमन है, व्यवहार धर्म का अभाव ही है और वस्तु का स्वभावरूप धर्म वहाँ है, अधर्म का तो अभाव ठीक ही है और पर-द्रव्य रूप संस्कार सर्वथा नहीं है, स्वभाव संस्कार ही है। जो मूढ इन गुणों का अभाव मानते हैं, वे व्यर्थ कहते हैं, मोक्ष तो अनन्त गुणरूप है। इस तरह निर्गुणवादियों का निषेध किया। बौद्धमती जीव के अभाव को मोक्ष कहते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जैसे दीपक का बुझना, उसी तरह जीव का अभाव वही मोक्ष है। ऐसे बौद्ध मत को भी निरस्त किया क्योंकि यदि जीव का ही अभाव हो गया तो फिर मोक्ष किसे हुआ? जीव का शुद्ध होना मोक्ष है, अभाव कहना अनुचित है। सांख्यमती मानते हैं कि जो सुप्तावस्था है, वही मोक्ष है, जिस जगह न सुख है, न ज्ञान है, उनकी इस मान्यता का भी निरसन किया। मण्डिक संज्ञा वाले नैयायिक मत के अन्तर्गत यह माना जाता है कि जीव जहाँ से मुक्त हुआ वहीं पर ठहरना है, ऊपर गमन नहीं करना, ऐसे नैयायिक के कथन का 'लोकशिखर पर तिष्ठना है' ऐसा कह कर निषेध किया। जैनमत में तो इन्द्रियजनित ज्ञान (मति श्रुत अवधि मन:पर्यय) और इन्द्रिय-जनित सुख (स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द) का अभाव माना है न कि अतीन्द्रियज्ञान (केवलज्ञान) और अतीन्द्रिय सुख का। शुद्ध मुक्त जीव के कर्मजनित इन्द्रियादि दस प्राणों (पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय, आयु, श्वासोच्छ्वास) का भी अभाव है, ज्ञानादि निज प्राणों का अभाव नहीं है। जीव की अशुद्धता का अभाव है, शुद्धपने का अभाव नहीं; यह निश्चय से जानना ॥६॥

अथोत्तमं सुखं न ददाति यदि मोक्षस्तर्हि सिद्धा: कथं निरन्तरं सेवन्ते तमिति कथयति—

अब कहते हैं कि यदि मोक्ष उत्तम सुख नहीं प्रदान करे तो सिद्ध उसका निरन्तर सेवन क्यों करें?

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ।
तो किं सयलु वि कालु जिय सिद्ध वि सेवहिँ सोइ ॥७॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तम: मोक्षो न भवति।
तत: किं सकलमपि कालं जीव सिद्धा अपि सेवन्ते तमेव ॥७॥

उत्तमु इत्यादि। **उत्तमु सुक्खु** उत्तमं सुखं **ण देइ** न ददाति **जइ** यदि चेत्। **उत्तमु** उत्तमो **मुक्खु** मोक्ष: **ण होइ** न भवति। **तो** तत: कारणात्, **किं** किमर्थं, **सयलु वि कालु** सकलमपि कालम्। **जिय** हे जीव। **सिद्ध वि** सिद्धा अपि **सेवहिं** सेवन्ते **सोइ** तमेव मोक्षमिति। तथाहि। यद्यतीन्द्रियपरमाह्लादरूपमविनश्वरं सुखं न ददाति मोक्षस्तर्हि कथमुत्तमो भवति उत्तमत्वाभावे च केवलज्ञानादिगुणसहिता: सिद्धा भगवन्त: किमर्थं निरन्तरं सेवन्ते च चेत्। तस्मादेव ज्ञायते तत्सुखमुत्तमं ददातीति। उक्तं च सिद्धसुखम्—

"आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं, वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् । अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥" अत्रेदमेव निरन्तरमभिलपणीयमिति भावार्थः ॥७॥

जइ उत्तमु मुक्खु ण देइ, मुक्खु उत्तमु ण होइ । तो जिय सिद्ध वि सयलु वि कालु सोइ किं सेवहिँ ॥७॥ यदि मोक्ष उत्तम सुख नहीं देवे तो फिर वह उत्तम भी नहीं हो सकता । यदि मोक्ष में उत्तम सुख-परमानन्द नहीं होता तो हे जीव ! सिद्ध परमेष्ठी भी सदा काल उस मोक्ष का ही सेवन क्यों करते ? भावार्थ—मोक्ष अखण्ड अविनाशी शाश्वत सुख देता है । मोक्ष परम आह्लादरूप है, अविनश्वर है, मन और इन्द्रियों से रहित है, इसीलिए उसे सदा काल सिद्ध सेवते हैं, केवलज्ञानादि गुण सहित सिद्ध परमेष्ठी निरन्तर वही निवास करते हैं; इसी से ज्ञात होता है कि मोक्ष उत्तम सुख का दाता है । सिद्धों का सुख अन्यत्र भी इस प्रकार कहा है—"सिद्धों का सुख अपनी उपादान शक्ति से उत्पन्न हुआ है, पर की सहायता से नहीं, स्वयं ही अतिशय रूप है, सब बाधाओं से रहित है, विस्तीर्ण है, वृद्धि-ह्रास से रहित है, विषयविकार से रहित है, भेदभाव से रहित है, निर्द्वन्द्व है, अन्यद्रव्य की उसे अपेक्षा नहीं है, निरुपम है, अनन्त है, शाश्वत है, सर्वकाल उत्कृष्ट है और अनन्त श्रेष्ठता लिए हुए है, ऐसा परमसुख सिद्धों के है, अन्य किसी के नहीं ।" (पूज्यपाद-सिद्ध-भक्ति-७) अभिप्राय यह है कि मोक्षसुख ही सदा अभिलाषा करने योग्य है, अन्य सब हेय है ॥७॥

अथ सर्वेषां परमपुरुषाणां मोक्ष एव ध्येय इति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि सभी महान् पुरुषों के मोक्ष ही ध्यातव्य है—

हरि-हर-बंभु वि जिणवर वि मुणि-वर-विंद वि भव्व ।
परम-णिरंजणि मणु धरिवि मुक्खु जि झायहिँ सव्व ॥८॥

हरिहरब्रह्माणोऽपि जिनवरा अपि मुनिवरवृन्दान्यपि भव्याः ।
परमनिरञ्जने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायन्ति सर्वे ॥८॥

हरिहर इत्यादि । **हरिहरबंभु वि** हरिहरब्रह्माणोऽपि **जिणवर वि** जिनवरा अपि **मुणिवरविंद वि** मुनिवरवृन्दान्यपि **भव्व** शेषभव्या अपि । एते सर्वे किं कुर्वन्ति । **परम-णिरंजणि** परमनिरञ्जनाभिधाने निजपरमात्मस्वरूपे । **मणु** मनः **धरिवि** विषयकषायेषु गच्छत् सद् व्यावृत्य धृत्वा पश्चात् **मुक्खु जि** मोक्षमेव **झायहिं** ध्यायन्ति **सव्व** सर्वेऽपि इति । तद्यथा । हरिहरादयः सर्वेऽपि प्रसिद्धपुरुषाः ख्यातिपूजालाभादिसमस्तविकल्पजालेन शून्ये, शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजानन्दैकसुखरसानुभवेन पूर्णकलशवत् भरितावस्थे निरञ्जनशब्दाभिधेयपरमात्मध्याने स्थित्वा मोक्षमेव ध्यायन्ति । अयमत्र भावार्थः । यद्यपि

व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तत्प्रतिविम्वानि तन्मन्त्राक्षराणि तदाराधकपुरुषाश्च ध्येया भवन्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिकाले निजशुद्धात्मैव ध्येय इति ।।८।।

हरि-हर-बंभु वि, जिणवर वि, मुणिवर विंद वि भव्व परम-णिरंजणि मणु धरिवि सव्व मुक्खु जि झायहिं ।।८।। हरि-हर-ब्रह्मा, श्री जिनेन्द्रदेव, मुनीश्वरों के समूह तथा अन्य भी भव्यजीव परम निरंजन में मन रख कर सभी मोक्ष को ही ध्याते है। विषयकषायों में जाते हुए मन को लौटा कर अपने स्वरूप मे स्थिर करते हैं। **विशेषार्थ**–हरिहरादिक सभी प्रसिद्ध पुरुष ख्याति-पूजा-लाभादि समस्त विकल्पसमूहों से रहित, अपने शुद्ध ज्ञान अखण्ड स्वभाव जो निज आत्मद्रव्य है उसका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप जो अभेद रत्नत्रयमय समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द अतीन्द्रिय सुखरस, उसके अनुभव से पूर्ण कलश की तरह भरे हुए निरन्तर निराकार निजस्वरूप परमात्मा के ध्यान में स्थिर होकर मुक्त होते हैं। **भावार्थ**–यह है कि यद्यपि व्यवहारनय से सविकल्प अवस्था में वीतरागसर्वज्ञस्वरूप उनके बिम्ब अथवा वीतराग के नाममंत्र के अक्षर अथवा वीतराग के सेवक महामुनि ध्यावने योग्य हैं तथापि वीतराग निर्विकल्प त्रिगुप्तिरूप परमसमाधि के काल में निजशुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई भी पदार्थ उस काल मे ध्यातव्य नही है ।।८।।

अथ भुवनत्रयेऽपि मोक्षं मुक्त्वा अन्यत्परमसुखकारणं नास्तीति निश्चिनोति—

अब निश्चय करते है कि तीनो लोकों में मोक्ष को छोड़कर अन्य कोई भी परम सुख का कारण नही है—

तिहुयणि जीवहँ अत्थि णवि सोक्खहँ कारणु कोइ ।
मुक्खु मुएविणु एक्कु पर तेणवि चिंतहि सोइ ।।९।।

त्रिभुवने जीवाना अस्ति नैव सुखस्य कारणं किमपि ।
मोक्षं मुक्त्वा एकं परं तेनैव चिन्तय तमेव ।।९।।

तिहुयणि इत्यादि । **तिहुयणि** त्रिभुवने **जीवहं** जीवानां **अत्थि णवि** अस्ति नैव । किं नास्ति । **सोक्खहं कारणु** सुखस्य कारणम् । **कोइ** किमपि वस्तु । किं कृत्वा । **मुक्खु मुएविणु एक्कु** मोक्षं मुक्त्वैकं **पर** नियमेन **तेणवि** तेनैव कारणेन **चिंतहि** चिंतय **सोइ** तमेव मोक्षमिति । तथाहि । त्रिभुवनेऽपि मोक्षं मुक्त्वा निरन्तरातिशय सुखकारणमन्यत्पञ्चेन्द्रियविषयानुभवरूपं किमपि नास्ति तेन कारणेन हे **प्रभाकरभट्ट** वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिके स्थित्वा निजशुद्धात्मस्वभावं ध्याय त्वमिति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** हे भगवन्नतीन्द्रियमोक्षसुखं निरन्तरं वर्ण्यते भवद्भिस्तच्च न ज्ञायते जनैः । भगवानाह हे **प्रभाकरभट्ट** कोऽपि पुरुषो निर्व्याकुलचित्तः प्रस्तावे पञ्चेन्द्रियभोगसेवा-रहितस्तिष्ठति स केनापि देवदत्तेन पृष्टः सुखेन स्थितो भवान् । तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमात्मोत्थम् । कस्मादिति चेत् । तत्काले स्त्रीसेवादिस्पर्शविषयो नास्ति भोजना-

दिजिह्वेन्द्रियविषयो नास्ति विशिष्टरूपगन्धमाल्यादिघ्राणेन्द्रियविषयों नास्ति दिव्यस्त्रीरूपावलोकनादिलोचनविषयो नास्ति श्रवणरमणीयगीतवाद्यादिशब्दविषयोऽपि नास्तीति तस्मात् ज्ञायते तत्सुखमात्मोत्थमिति । किं च । एकदेशविषयव्यापाररहितानां तदेकदेशेनात्मोत्थसुखमुपलभ्यते वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरतानां पुनर्निरवशेषपञ्चेन्द्रियविषयमानसविकल्पजालनिरोधे सति विशेषेणोपलभ्यते । इदं तावत् स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यं सिद्धात्मनां च सुखं पुनरनुमानगम्यम् । तथाहि । मुक्तात्मनां शरीरेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि सुखमस्तीति साध्यम् । कस्माद्धेतोः इदानीं पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां पञ्चेन्द्रियविषय–व्यापाराभावेऽपि स्वात्मोत्थवीतरागपरमानन्दसुखोपलब्धिरिति । अत्रेत्थंभूतं सुखमेवोपादेयमिति भावार्थः । तथागमे चोक्तमात्मोत्थमतीन्द्रियसुखम्—"अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं । अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ।।" ।।९।।

तिहुयणि जीवहँ मुक्खु मुएविणु कोइ सोक्खहँ कारणु णवि जत्थि । तेणवि पर एक्कु सोइ चिंतहि ।।९।। तीनो लोको में जीवों के मोक्ष को छोडकर अन्य कोई भी वस्तु सुख का कारण नही है, सुख का कारण एक मोक्ष ही है, इस कारण तू नियम से एक मोक्ष का ही चिन्तन कर । **विशेषार्थ**–तीनो लोकों मे मोक्ष के सिवाय निरन्तर अतिशय सुख का कारणभूत दूसरा कोई पचेन्द्रियविषयानुभवरूप कुछ भी नही है अत: हे प्रभाकर भट्ट ! वीतरागनिर्विकल्प परम सामायिक मे स्थित होकर तू निज शुद्धात्मस्वभाव का ही ध्यान कर । इस पर प्रभाकरभट्ट कहते हैं—हे भगवन् ! आपने निरन्तर अतीन्द्रिय मोक्षसुख का ही कथन किया, सो ये सांसारिक जन उस सुख को जानते ही नही है, इन्द्रियसुख को ही सुख मानते हैं । तव गुरु कहते है—हे प्रभाकरभट्ट ! कोई एक पुरुष निराकुल चित्त है, पचेन्द्रियों के भोगों का सेवन न करते हुए अकेला बैठा है, उसे देवदत्त ने पूछा कि आप सुखी हैं ? तव उसने कहा कि हाँ, सुखी हूँ । उस समय विषयसेवनादि सुख तो है ही नही, फिर उसने यह क्यो कहा कि हाँ सुखी हूँ । अत: यह ज्ञात होता है कि वह सुख आत्मोत्थ है, व्याकुलता रहित का है । कैसे ? उस समय भोजनादि जिह्वा इन्द्रिय का विषय भी नहीं है, स्त्रीसेवनादि स्पर्श का विषय भी नही है, गंधमाल्यादिक घ्राणेन्द्रिय का विषय भी नहीं है, दिव्य स्त्रियों का रूप अवलोकनादि नेत्र का विषय भी नही है और कानों का मनोज्ञ गीत वादित्रादि शब्द विषय भी नही है, अत: ज्ञात होता है कि सुख आत्मा में ही है; ऐसा तू निश्चय कर । जो एकदेश (आंशिक) विषयव्यापार से रहित है, उनके एकदेश आत्मोत्थ सुख है तो वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानियो के समस्त पचेन्द्रियो के विषय और मन के विकल्प समूहो की रुकावट होने पर विशेषता मे निराकुल सुख उत्पन्न होता है । ये दो वाते प्रत्यक्ष ही दृष्टिगत होती है—जो पुरुष नीरोग और चिन्ता रहित है, उसके विषयसामग्री के विना ही सुख भासता है और जो महामुनि शुद्धोपयोग अवस्था में ध्यानारूढ है, उनके अनाकुलता प्रकट ही दिखाई दे रही है, वे इन्द्रादिक देवों से भी अधिक सुखी हैं । अत: जव ससारावस्था मे ही सुख का मूल निराकुलता दिखाई देती है तो फिर सिद्धों के सुख की तो वात ही क्या है ! यद्यपि वे सिद्ध दृष्टिगम्य नही है तो भी अनुमान से ऐसा जाना जाता है कि सिद्धो के भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म नही है, विषयों की प्रवृत्ति नही है कोई भी विकल्प जाल नही

है, केवल अतीन्द्रिय आत्मीक सुख ही है, वही सुख उपादेय है। आगम में आत्मोत्थ अतीन्द्रिय सुख के सम्बन्ध में कहा है—"शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए (शुद्धोपयोग के फल को प्राप्त हुए) आत्माओं का (अरहन्त सिद्धों का) सुख अतिशय, आत्मा से उत्पन्न, विषयों से रहित, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है।" कुन्दकुन्द: प्रवचनसार १/१३ ॥९॥

अथ यस्मिन् मोक्षे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखमस्ति तस्य मोक्षस्य स्वरूपं कथयति——

अब, जिस मोक्ष मे पूर्वोक्त अतीन्द्रिय सुख है, उस मोक्ष का स्वरूप कहते हैं—

जीवहँ सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु ।
कम्म-कलंक-विमुक्काहँ णाणिय बोल्लहिँ साहू ॥१०॥

जीवाना त पर मोक्ष मन्यस्व य· परमात्मलाभः ।
कर्मकलङ्कविमुक्ताना ज्ञानिन· ब्रुवन्ति साधव· ॥१०॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां **सो** तं **परं मोक्खु** मोक्षं **मुणि** मन्यस्व जानीहि हे **प्रभाकरभट्ट** । तं कम् । **जो परमप्पयलाहु** यः परमात्मलाभः । इत्थंभूतो मोक्षः केषां भवति । **कम्मकलंकविमुक्काहं** ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मकलङ्कविमुक्तानाम् । इत्थंभूतं मोक्षं के ब्रुवन्ति । **णाणिय बोल्लहिं** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो ब्रुवन्ति । ते के । **साहू** साधवः इति । तथाहि । केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारभूतस्य हि परमात्मलाभो मोक्षो भवतीति । स च केषाम् । पुत्रकलत्रममत्वस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्परहितध्यानेन भावकर्मद्रव्यकर्मकलङ्करहितानां भव्यानां भवतीति ज्ञानिनः कथयन्ति । अत्रायमेव मोक्षः पूर्वोक्तस्यानन्तसुखस्योपादेयभूतस्य कारणत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥१०॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये सूत्रदशकेन मोक्षस्वरूपनिरूपणस्थलं समाप्तम् ।

कम्मकलंकविमुक्काहँ जीवहँ जो परमप्पय लाहु सो पर मोक्खु मुणि, णाणिय साहू बोल्लहिँ ॥१०॥ हे प्रभाकरभट्ट ! ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मकलक से विमुक्त जीवो को जो परमात्म की प्राप्ति है, उसी को तू नियम से मोक्ष जान, ऐसा ज्ञानी साधु कहते हैं। **विशेषार्थ**—केवलज्ञानादि अनन्तगुण प्रकटरूप जो कार्य समयसार है अर्थात् शुद्धपरमात्मा है, उसका लाभ मोक्ष है। वह मोक्ष किनके होता है ? पुत्र-कलत्रादि पर-वस्तुओ के ममत्वरूप सब विकल्पो से रहित ध्यान से—भावकर्म और द्रव्यकर्मो से रहित भव्य जीवो के वह मोक्ष होता है, ऐसा ज्ञानी कहते है। यहाँ पूर्वोक्त अनन्त सुख का कारण होने से यह मोक्ष ही उपादेय है ॥१०॥ इस प्रकार मोक्ष, मोक्षमार्ग और मोक्षफल के प्रतिपादक दूसरे महाधिकार मे दस दोहो में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन पूर्ण हुआ।

अथ तस्यैव मोक्षस्यानन्तचतुष्टयस्वरूपं फल दर्शयति——

अब, उसी मोक्ष के अनन्तचतुष्टय रूप फल का वर्णन करते है—

दंसणु णाणु अणंत-सुहु समउ ण तुट्टइ जासु।
सो पर सासउ मोक्ख-फलु विज्जउ अत्थि ण तासु ॥११॥

दर्शनं ज्ञानं अनन्तसुखं समयं न त्रुट्यति यस्य।
तत् परं शाश्वतं मोक्षफलं द्वितीयं अस्ति न तस्य ॥११॥

दंसणु इत्यादि। **दंसणु** केवलदर्शनं **णाणु** केवलज्ञानं **अणंतसुहु** अनन्तसुखम् एतदुपलक्षणमनन्तवीर्याद्यनन्तगुणाः **समउ ण तुट्टइ** एतद्गुणकदम्बकमेकसमयमपि यावन्न त्रुट्यति न नश्यति **जासु** यस्य मोक्षपर्यायस्याभेदेन तदाधारजीवस्य वा **सो पर** तदेव केवलज्ञानादिस्वरूपं **सासउ मोक्खफलु** शाश्वतं मोक्षफलं भवति। **विज्जउ अत्थि ण तासु** तस्यानन्तज्ञानादिमोक्षफलस्यान्यद् द्वितीयमधिकं किमपि नास्तीति। अयमत्र भावार्थः। अनन्तज्ञानादिमोक्षफलं ज्ञात्वा समस्तरागादित्यागेन तदर्थमेव निरन्तरं शुद्धात्मभावना कर्तव्येति ॥११॥ एवं द्वितीयमहाधिकारे मोक्षफलकथनरूपेण स्वतन्त्रसूत्रमेकं गतम्।

जासु दंसणु णाणु अणंत सुहु समउ ण तुट्टइ, तासु सो पर सासउ मोक्खफलु अत्थि विज्जउ ण ॥११॥ जिस मोक्षपर्याय के धारक शुद्धात्मा के केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य इन अनन्त चतुष्टय को आदि देकर अनन्त गुणों का समूह एक समय मात्र भी नष्ट नहीं होता अर्थात् जिसमें हमेशा अनन्त गुण विद्यमान रहते हैं, उस शुद्धात्मा के वही निश्चय से सदा रहने वाला मोक्ष का फल है, इसके सिवाय दूसरा कोई इससे अधिक फल नहीं है। **भावार्थ—**मोक्ष का फल अनन्तज्ञानादि जान कर समस्त रागादिक का त्याग करके उसी के लिए निरन्तर शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये ॥११॥ इस प्रकार द्वितीयमहाधिकार में मोक्षफल के कथन की मुख्यता से एक स्वतन्त्र दोहासूत्र कहा।

अथानन्तरमेकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गव्याख्यानस्थलं कथ्यते तद्यथा—

अब, उन्नीस दोहासूत्रों तक निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करते हैं—

जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु।
ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छएँ एहउ वुत्तु ॥१२॥

जीवानां मोक्षस्य हेतुः वरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्।
तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मानं मन्यस्व निश्चयेन एव उक्तम् ॥१२॥

जीवहं इत्यादि। **जीवहं** जीवानां अथवा एकवचनपक्षे 'जीवहो' जीवस्य **मोक्खहं हेउ** मोक्षस्य हेतुः कारणं व्यवहारनयेन भवतीति क्रियाध्याहारः। कथंभूतम्। **वरु** वरमुत्कृष्टम्। किं तत्। **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयम्। **ते पुणु** तानि

पुनः **तिण्णि वि** त्रीण्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि **अप्पु** आत्मानमभेदनयेन **मुणि** मन्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट **णिच्छएं** निश्चयनयेन **एहउ वुत्तु** एवमुक्तं भणितं तिष्ठतीति । इदमत्र तात्पर्यम् । भेदरत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गः साधको भवति अभेदरत्नत्रयात्मकः पुनर्निश्चयमोक्षमार्गः साध्यो भवति, एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधकभावो ज्ञातव्यः सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् इति । तथा चोक्तम्–"सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे । ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥" ॥१२॥

जीवहं मोक्खहं हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु । ते पुणु तिण्णि वि णिच्छएं अप्पु मुणि, एहउ वुत्तु ॥१२॥ जीवों के मोक्ष का कारण उत्कृष्ट दर्शन ज्ञान और चारित्र है । फिर उन तीनों को निश्चयनय से आत्मा के ही जानो । ऐसा श्री वीतराग देव ने कहा है। भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्ष-मार्ग साधक है और अभेदरत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है । इस प्रकार निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग का साध्य-साधकभाव सुवर्ण और सुवर्णपाषाणवत् जानना । कहा भी है—"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनों के समुदाय) को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमयी निज आत्मा को निश्चयनय से मोक्ष का कारण जानो ।" बृ. द्रव्यसंग्रह ३/३९ ॥१२॥

अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि निश्चयरत्नत्रयरूप परिणत निज शुद्धात्मा ही मोक्ष का मार्ग है—

पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि ।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहं कारणु सो जि ॥१३॥

पश्यति जानाति अनुचरति आत्मना आत्मानं य एव ।
दर्शनं ज्ञानं चारित्रं जीव मोक्षस्य कारणं स एव ॥१३॥

पेच्छइ इत्यादि । **पेच्छइ** पश्यति **जाणइ** जानाति **अणुचरइ** अनुचरति । केन कृत्वा । **अप्पइं** आत्मना करणभूतेन । कं कर्मतापन्नम् । **अप्पउ** निजात्मानम् । **जो जि** य एव कर्ता **दंसणु णाणु चरित्तु** दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भवतीति क्रियाध्याहारः । कोऽसौ भवति । **जिउ** जीवः य एवाभेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भवतीति **मोक्खहं कारणु** निश्चयेन मोक्षस्य कारणं एक एव **सो जि** स एव निश्चयरत्नत्रयपरिणतो जीव इति । तथाहि । यः कर्ता निजात्मानं मोक्षस्य कारणभूतेन पश्यति निर्विकल्परूपेणा-वलोकयति । अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानापेक्षया चलमलिनावगाढपरिहारेण शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपेण निश्चिनोति न केवलं निश्चिनोति वीतरागस्वसंवेदनलक्षणाभेदज्ञानेन

जानाति परिच्छिनत्ति । न केवलं परिच्छिनत्ति । अनुचरति रागादिसमस्तविकल्पत्यागेन तत्रैव निजस्वरूपे स्थिरीभवतीति स निश्चयरत्नत्रयपरिणतः पुरुष एव निश्चयमोक्षमार्गो भवतीति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । तत्त्वार्थश्रद्धानरुचिरूप सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्गो भवति नास्ति दोषः, पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति इत्येवं यदुक्तं तत्सत्तावलोकदर्शनं कथं मोक्षमार्गो भवति यदि भवति चेत्तर्हि तत्सत्तावलोकदर्शनमभव्यानामपि विद्यते तेषामपि मोक्षो भवति स चागमविरोधः इति । परिहारमाह । तेषां निर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनं बहिर्विषये विद्यते न चाभ्यन्तरशुद्धात्मतत्त्वविषये । कस्मादिति चेत् । तेषामभव्यानां मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनमेव नास्ति चारित्रमोहोदयात् पुनर्वीतरागचारित्ररूपं निर्विकल्पशुद्धात्मसत्तावलोकनमपि न संभवतीति भावार्थः । निश्चयेनाभेदरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीत्यस्मिन्नर्थे संवादगाथामाह––"रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि । तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥" ॥१३॥

जो जि अप्पिं अप्पउ पेच्छइ जाणइ अणुचरइ, सो जि दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहँ कारणु ॥१३॥ जो अपने से आपको देखता है, जानता है, आचरण करता है, वही विवेकी दर्शन ज्ञान चारित्र रूप परिणत हुआ जीव मोक्ष का कारण है। **विशेषार्थ**–जो सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को मोक्ष के कारण रूप में निर्विकल्प भाव से देखता है अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान की अपेक्षा चल, मलिन और अवगाढ दोषों का परिहार कर शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार रुचिरूप निश्चय करता है; न केवल निश्चय करता है अपितु वीतराग स्वसंवेदनलक्षण ज्ञान से जानता है, और न केवल जानता है अपितु रागादि समस्त विकल्पों का त्याग कर अपने स्वरूप में स्थिर होता है, इस प्रकार निश्चयरत्नत्रयरूप परिणत वह पुरुष ही निश्चय मोक्षमार्ग है। गुरु के मुख से यह सुनकर प्रभाकरभट्ट **प्रश्न** करते हैं कि तत्त्वार्थश्रद्धान रुचिरूप सम्यग्दर्शन मोक्ष का मार्ग होता है, इसमें तो कोई दोष नही परन्तु आपने जो यह कहा कि निर्विकल्परूप से देखता है यानी सत्तावलोकन देखने रूप दर्शन कैसे मोक्षमार्ग हो सकता है और यदि होता है तो फिर देखना तो अभव्यों के भी होता है, उनको भी मोक्ष हो जावेगा परन्तु आगम का यहाँ विरोध है। आगम में तो उल्लेख है कि अभव्य को मोक्ष नही होता। गुरुदेव **उत्तर** देते है कि अभव्यों के देखने रूप जो दर्शन है, वह बाह्यपदार्थो का है, अन्तरग शुद्धात्मतत्त्व का दर्शन तो अभव्यो के नही होता क्योंकि उन अभव्यों के मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम, क्षय नही है तथा शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन भी उनके नही है और चारित्रमोह के उदय से वीतराग चारित्ररूप निर्विकल्प शुद्धात्म का सत्तावलोकन भी उनके सम्भव नही है। **तात्पर्य** यह है कि निश्चयापेक्षा अभेद रत्नत्रय को परिणत हुआ निजशुद्धात्मा ही मोक्ष का मार्ग है। इसी अर्थ में **बृहद्द्रव्यसंग्रह** मे भी यह गाथा (४०) कही है—"आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नही रहता, इस कारण रत्नत्रयमयी आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है" ॥१३॥

अथ भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गं दर्शयति––

अब भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करते है—

जं बोल्लइ ववहारु-णउ दंसणु णाणु चरित्तु ।
तं परियाणहि जीव तुहुँ जें परु होहि पवित्तु ।।१४।।

यद् ब्रूते व्यवहारनयः दर्शनं ज्ञान चारित्रम् ।
तत् परिजानीहि जीव त्वं येन परः भवसि पवित्रः ।।१४।।

जं इत्यादि । जं यत् बोल्लइ ब्रूते । कोऽसौ कर्ता । ववहारणउ व्यवहारनयः । यत् किं ब्रूते । दंसणु णाणु चरित्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं तं पूर्वोक्तं भेदरत्नत्रयस्वरूपं परियाणहि परि समन्तात् जानीहि । जीव तुहुं हे जीव त्वं कर्ता । जें येन भेदरत्नत्रयपरिज्ञानेन परु होहि परः उत्कृष्टो भवसि त्वम् । पुनरपि किंविशिष्टस्त्वम् । पवित्तु पवित्रः सर्वजनपूज्य इति । तद्यथा । हे जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि । त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि । परंपरया पवित्रः परमात्मा भविष्यसि इति । व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा । वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपो निश्चयमार्गः । अथवा साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः । अत्राह शिष्यः । निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति । अत्र परिहारमाह । भूतनैगमनयेन परंपरया भवतीति । अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानन्तज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः ।। सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गविषये संवादगाथामाह—"जं पुण सगयं तच्च सवियप्पं होइ तह य अवियप्पं । सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं ।" ।।१४।। एवं पूर्वोक्तैकोनविंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रत्रयं गतम् । इदानीं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्यवहारमोक्षमार्गप्रथमावयवभूतव्यवहारसम्यक्त्वं मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयति । तद्यथा—

जीव ! ववहारु णउ जं दंसणु णाणु चरित्तु बोल्लइ तं तुहुँ परियाणहि जें परु पवित्तु होहि ।।१४।। हे जीव ! व्यवहारनय जो दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों को मोक्षमार्ग कहता है, उस व्यवहार रत्नत्रय को तू जान जिससे कि तू उत्कृष्ट और पवित्र (सर्वजनपूज्य) हो सके । **विशेषार्थ**—हे जीव ! तू व्यवहार मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयलक्षण वाले निश्चय मोक्षमार्ग का साधक जान ! ऐसा जानने से तू कैसा होगा ? इनके जानने से तू परम्परा से पवित्र परमात्मा हो जाएगा । व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं—वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय इनका श्रद्धान, इनके स्वरूप का ज्ञान और व्रतादि अनुष्ठानरूप आचरण व्यवहार मोक्षमार्ग है और निजशुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और स्वरूप का आचरण यह निश्चय मोक्षमार्ग है । अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग साधक है और

निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है। यह सुनकर शिष्य पुनः शङ्का करता है—हे प्रभो ! निश्चयमोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग नहीं है, यदि विकल्प दशा हो तो वह निर्विकल्पपने की साधक कैसे होती है ? अब इसका समाधान करते हैं कि भूतनैगमनय की अपेक्षा सविकल्पदशा निर्विकल्पदशा की परम्परा से साधक होती है। अर्थात् परम्परा में व्यवहार रत्नत्रय को मोक्ष का कारण कहा है। सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से निश्चयमोक्षमार्ग भी दो प्रकार का है—मैं अनन्तज्ञानरूप हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ, ऐसा चिन्तन सविकल्प निश्चयमोक्षमार्ग है, उसे साधक कहते हैं और जहाँ पर कुछ चिन्तन नहीं है, कुछ बोलना नहीं है और कुछ चेष्टा नहीं है, वह निर्विकल्पसमाधिरूप साध्य है। सविकल्प और निर्विकल्प निश्चयमोक्षमार्ग के विषय में संवाद गाथा इस प्रकार है—"जो स्वतत्त्व है, वह सविकल्प तथा अविकल्प होता है। सविकल्प स्वतत्त्व आस्रव सहित है और निर्विकल्पतत्त्व आस्रव रहित है।" तत्त्वसार-५ ॥१४॥ इस प्रकार पूर्वोक्त उन्नीस दोहों वाले महास्थल में निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने वाले तीन दोहासूत्र कहे। अब १४ दोहों पर्यन्त व्यवहार मोक्षमार्ग के प्रथम अंग व्यवहार सम्यक्त्व का मुख्यता से प्रतिपादन करते हैं—

दव्वइँ जाणइ जहठियइँ तह जगि मण्णइ जो जि।
अप्पहँ केरउ भावडउ अविचलु दंसणु सो जि ॥१५॥

द्रव्याणि जानाति यथास्थितानि तथा जगति मन्यते य एव।
आत्मनः सम्बन्धी भावः अविचलः दर्शनं स एव ॥१५॥

दव्वइं इत्यादि। **दव्वइं** द्रव्याणि **जाणइ** जानाति। कथंभूतानि। **जहठियइं** यथास्थितानि वीतरागस्वसंवेदनलक्षणस्य निश्चयसम्यग्ज्ञानस्य परंपरया कारणभूतेन परमागमज्ञानेन परिच्छिनत्तीति। न केवलं परिच्छिनत्ति **तह** तथैव **जगि** इह जगति **मण्णइ** मन्यते निजात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति रुचिरूपं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्य परंपरया कारणभूतेन—"मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः-पञ्चविंशतिः"[1] इति श्लोककथितपञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलत्यागेन श्रद्दधातीति। एवं द्रव्याणि जानाति श्रद्दधाति। कोऽसौ। **अप्पहं केरउ भावडउ** आत्मनः संबन्धिभावः परिणामः। किंविशिष्टो भावः। **अविचलु** अविचलोऽपि चलमलिनावगाढदोषरहितः **दंसणु** दर्शनं सम्यक्त्वं भवतीति। क एव। **सो जि** स एव पूर्वोक्तो जीवभाव इति। अयमत्र भावार्थः। इदमेव सम्यक्त्वं चिन्तामणिरिदमेव कल्पवृक्ष इदमेव कामधेनुरिति मत्वा भोगाकांक्षास्वरूपादिसमस्तविकल्पजालं वर्जनीयमिति। तथा चोक्तम्—"हस्ते चिन्तामणिर्यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः। कामधेनुर्धनं यस्य तस्य का प्रार्थना परा॥" ॥१५॥

---

१ सोमदेव यशस्तिलकचम्पू पृ. ३२४

जो जि दव्वइँ जहठियइँ जाणइ तह जगि मण्णइ। सो जि अप्पहँ केरउ अविचलु भावडउ दंसणु ॥१५॥ जो द्रव्यो को जैसा उनका स्वरूप है, वैसा जाने, और उसी तरह इस जगत् में निर्दोष श्रद्धान करे, वही आत्मा का अविचल (चल, मलिन, अवगाढ, दोपरहित) निश्चलभाव है, यही आत्मभाव सम्यग्दर्शन है। भावार्थ–जगत् के छह द्रव्यों को अच्छी तरह जान कर श्रद्धान करे, जिसमें सन्देह नहीं वह सम्यग्दर्शन है, यह सम्यग्दर्शन आत्मा का निज स्वभाव है। वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन निश्चयसम्यग्ज्ञान का परम्परा कारणभूत परमागम का ज्ञान है, उसे अच्छी तरह जानो, और मन मे यह निश्चय करो कि इन सब द्रव्यो में निज आत्मद्रव्य ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप जो निश्चय सम्यक्त्व है, उसका परम्परा कारण व्यवहारसम्यक्त्व है– वह व्यवहार सम्यक्त्व तीनमूढ़ता, आठमद, छह अनायतन और आठ शंकादि दोष रूप पच्चीस दोषो से रहित है। इन दोषो को छोड़कर तत्त्वो की श्रद्धा करना वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया है। जहाँ अस्थिर बुद्धि नहीं है, परिणामों की मलिनता नही है और शिथिलता नहीं है, वह सम्यक्त्व है। यही पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन जीव का निजभाव है। यही सम्यग्दर्शन चिन्तामणि है, कल्पवृक्ष है और कामधेनु है, ऐसा मानकर भोगों की वाछा रूप समस्त विकल्पजाल को छोड़ना चाहिए। कहा भी है—"जिसके हाथ में चिन्तामणि है, घन में कामधेनु है और घर मे कल्पवृक्ष है, उसको किसी अन्य प्रकार की प्रार्थना की क्या आवश्यकता है?" ॥१५॥

अथ यैः पड्द्रव्यैः सम्यक्त्वविपयभूतैस्त्रिभुवनं भृतं तिष्ठति तानीदृक् जानीहीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिद कथयति—

अब, सम्यक्त्व के विपयभूत जिन छह द्रव्यो से ये तीनों लोक भरे हुए है, उनको यथार्थ जानो, ऐसा अभिप्राय मन मे रखकर यह गाथासूत्र कहते हैं—

दव्वइँ जाणहि ताइँ छह तिहुयणु भरियउ जेहिँ।
आइ-विणास-विवज्जियहिँ णाणिहि पभणियएहिँ ॥१६॥

द्रव्याणि जानीहि तानि पट् त्रिभुवनं भृतं यैः।
आदिविनाशविवर्जितैः ज्ञानिभिः प्रभणितैः ॥१६॥

दव्वइं इत्यादि। **दव्वइं** द्रव्याणि **जाणहि** त्वं हे प्रभाकरभट्ट **ताइं** तानि परमागमप्रसिद्धानि। कतिसंख्योपेतानि **छह** षडेव। यैः द्रव्यैः किं कृतम्। **तिहुयणु भरियउ** त्रिभुवनं भृतम्। **जेहिं** यैः कर्तृभूतैः। पुनरपि किंविशिष्टैः। **आइविणासविवज्जियहिं** द्रव्यार्थिकनयेनादिविनाशविवर्जितैः पुनरपि कथंभूतैः। **णाणिहि पभणियएहिं** ज्ञानिभिः प्रभणितैः कथितैश्चेति। अयमत्राभिप्रायः। एतैः पड्भिर्द्रव्यैर्निष्पन्नोऽयं लोको न चान्यः कोऽपि लोकस्य हर्ता कर्ता रक्षको वास्तीति। किं च। पड्द्रव्याणि व्यवहारसम्यक्त्वविपयभूतानि भवन्ति तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मानुभूति रूपस्य वीतरागसम्यक्त्वस्य नित्यानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव विपयो भवतीति ॥१६॥

ताइँ छह दव्वइँ जाणहि जेहिँ तिहुयणु भरियउ। णाणिहि आइ-विणास-विवज्जियहिँ पभणियएहिँ ॥१६॥ हे प्रभाकरभट्ट ! तू उन छहों द्रव्यों को जान जिनसे ये तीनो लोक भरे हैं। ज्ञानियों ने द्रव्यार्थिकनय से इन्हें आदि-अन्त से रहित कहा है। भावार्थ—यह लोक छह द्रव्यों से भरा है, अनादिनिधन है, इस लोक का आदि अन्त नही है तथा इसका कर्ता, हर्ता व रक्षक कोई नही है। यद्यपि ये छह द्रव्य व्यवहारसम्यक्त्व के कारण है तो भी शुद्धनिश्चयनय से शुद्धात्मानुभूति रूप वीतरागसम्यक्त्व का कारण नित्य आनन्द स्वभाव निजशुद्धात्मा ही है ॥१६॥

अथ तेषामेव षड्द्रव्याणां संज्ञां चेतनाचेतनविभागं च कथयति—

अब, उन छह द्रव्यों के नाम तथा उनके चेतन-अचेतन विभाग का कथन करते हैं—

जीउ सचेयणु दव्वु मुणि पंच अचेयण अण्ण।
पोग्गलु धम्माधम्मु णहु कालें सहिया भिण्ण ॥१७॥

जीवः सचेतनं द्रव्य मन्यस्व पञ्च अचेतनानि अन्यानि।
पुद्गलः धर्माधर्मौ नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥१७॥

जीउ इत्यादि। **जीउ सचेयणु दव्वु** चिदानन्दैकस्वभावो जीवश्चेतनाद्रव्यं भवति। **मुणि** मन्यस्व जानीहि तम्। **पंच अचेयणु** पञ्चाचेतनानि **अण्ण** जीवादन्यानि। तानि कानि। **पोग्गलु धम्माधम्मु णहु** पुद्गलधर्माधर्मनभांसि कथंभूतानि तानि **कालें सहिया** कालद्रव्येण सहितानि। पुनरपि कथंभूतानि। **भिण्ण** स्वकीयस्वकीयलक्षणेन परस्परं भिन्नानि इति। तथाहि। द्विधा सम्यक्त्व भण्यते सरागवीतरागभेदेन। सरागसम्यक्त्वलक्षणं कथ्यते। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति। वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति। अत्राह **प्रभाकरभट्टः**। निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः, इदानीं पुनः वीतरागचारित्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत्। निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकरपरमदेवभरतसगररामपाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः, अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारमाह। तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूप निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किंतु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभङ्गो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तवरूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं

कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया-साधकत्वादिति । वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः ।।१७।।

जीउ सचेयणु दव्वु मुणि अण्ण पोग्गलु धम्माधम्मु णहु कालें सहिया पंच अचेयण भिण्ण ।।१७।। जीव चेतनद्रव्य है, ऐसा मानो और अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सहित जो पाँच द्रव्य हैं वे अचेतन हैं और जीव से भिन्न हैं तथा ये सब अपने-अपने लक्षणों से आपस मे भी भिन्न हैं। **भावार्थ**–सराग और वीतराग के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का है। सरागसम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार है—प्रशम (शान्तपना), संवेग (धर्मरुचि तथा जगत् से अरुचि), अनुकम्पा (दया भाव) और आस्तिक्य (देवगुरुधर्म और षड् द्रव्यों की श्रद्धा) लक्षण वाला सरागसम्यक्त्व है। यही व्यवहार सम्यक्त्व भी है। इसके विषयभूत छह द्रव्य हैं। वीतरागसम्यक्त्व निजशुद्धात्मानुभूति रूप वीतरागचारित्र से अविनाभूततन्मयी है, यही निश्चय सम्यक्त्व है। यहाँ प्रभाकर भट्ट **प्रश्न** करता है—हे गुरुदेव ! निजशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का कथन पहले आपने अनेक बार किया, फिर अब वीतरागचारित्र से तन्मयी निश्चय सम्यक्त्व है, ऐसा व्याख्यान करते हैं, सो यह तो पूर्वापर विरोध है। क्योंकि निजशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व तो गृहस्थावस्था में तीर्थंकर परमदेव, भरत, सगर, राम, पाण्डवादिक के भी रहता है, परन्तु उनके वीतरागचारित्र तो नहीं है–यह परस्पर विरोध है। यदि उनके वीतरागचारित्र माना जावे तो गृहस्थपना क्यो कहा ? गुरुदेव इसका **उत्तर** देते हैं—उनके 'शुद्धात्मा उपादेय है' ऐसी भावना रूप निश्चयसम्यक्त्व तो है, परन्तु चारित्रमोह के उदय से स्थिरता नहीं है, व्रत प्रतिज्ञाभंग होता है, इस कारण से वे असंयत कहे जाते हैं। शुद्धात्मा की भावना से रहित हुए भरत, सगर आदि निर्दोष परमात्मा अरहन्त सिद्धों के गुणस्तवन, वस्तुस्तवनरूप स्तोत्रादि करते हैं और उनके चारित्रपुराणादिक सुनते हैं तथा उनको आज्ञा के आराधक जो महान् पुरुष आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं, उनको भक्तिपूर्वक आहारदानादि करते है, पूजा करते है। विषयकषायरूप खोटे ध्यान को रोकने के लिए तथा संसार की स्थिति का नाश करने के लिए ऐसी शुभ क्रिया करते है, इसलिए शुभराग के सम्बन्ध से सम्यग्दृष्टि होते है और इनके सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व भी कहा जा सकता है क्योंकि वीतरागचारित्र से तन्मयी निश्चय सम्यक्त्व के परम्पराय साधकपना है। यथार्थ में विचार किया जावे तो गृहस्थावस्था में इनके सरागसम्यक्त्व ही है, और जो सरागसम्यक्त्व है, वह व्यवहार सम्यक्त्व ही है ।।१७।।

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेन जीवादिषड्द्रव्याणां क्रमेण प्रत्येकं लक्षणं कथ्यते—

आगे चार दोहो में जीवादि छह द्रव्यो में से क्रम से प्रत्येक का लक्षण कहते हैं--

मुत्ति-विहूणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ ।।१८।।

मूर्तिविहीन. ज्ञानमय. परमानन्दस्वभावः ।
नियमेन योगिन् आत्मान मन्यस्व नित्य निरञ्जनं भावम् ।।१८।।

मुत्तिविहूरगउ इत्यादि । **मुत्तिविहूणउ** अमूर्तः शुद्धात्मनो विलक्षणया स्पर्शरसगन्ध-वर्णवत्या मूर्त्या विहीनत्वात् मूर्तिविहीनः । **णाणमउ** क्रमकरणव्यवधानरहितेन लोकालोकप्रकाशकेन केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः । **परमाणंदसहाउ** वीतरागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन समरसीभावपरिणतस्वरूपत्वात् परमानन्दस्वभावः । **णियमि** शुद्धनिश्चयेन । **जोइय** हे योगिन् । **अप्पु** तमित्थंभूतमात्मानं **मुणि** मन्यस्व जानीहि त्वम् । पुनरपि किंविशिष्टं जानीहि । **णिच्चु** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वान्नित्यम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । **णिरंजणु** मिथ्यात्वरागादिरूपाञ्जनरहितत्वान्निरञ्जनम् । पुनश्च कथंभूतमात्मानं जानीहि । **भाउ** भावं विशिष्टपदार्थम् इति । अत्रैवंगुणविशिष्टः शुद्धात्मैवोपादेय अन्यद्धेयमिति तात्पर्यार्थः ॥१८॥ अथ—

जोइय ! णियमि अप्पु मुणि—मुत्ति विहूणउ, णाणमउ, परमाणंद-सहाउ, णिच्चु णिरंजणु भाउ ॥१८॥ हे योगी ! निश्चय से तू आत्मा को ऐसा जान—आत्मा अमूर्तिक है, शुद्धात्मा से भिन्न जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण वाली मूर्ति है, उससे रहित है । क्रम, करण (इन्द्रिय) और व्यवधान रहित लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान से परिपूर्ण होने के कारण ज्ञानमय है, वीतराग परमानन्द रूप, अतीन्द्रिय सुख स्वरूप अमृत रस के आस्वाद से समरसी भाव को परिणत होने से परमानन्द स्वभाव वाला है; शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव वाला है, तथा मिथ्यात्व रागादिरूप अंजन से रहित होने के कारण निरंजन है तथा विशिष्ट है, अन्य सब पदार्थों से श्रेष्ठ है । इन गुणों से मण्डित शुद्धात्मा ही उपादेय है, और सब हेय हैं, यह तात्पर्यार्थ है ॥१८॥

पुग्गलु छव्विहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु वियाणि ।
धम्माधम्मु वि गयठियहँ कारणु पभणहिँ णाणि ॥१६॥

पुद्गलः षड्विधः मूर्तः वत्स इतराणि अमूर्तानि विजानीहि ।
धर्माधर्ममपि गतिस्थित्योः कारणं प्रभणन्ति ज्ञानिनः ॥१६॥

पुग्गलु इत्यादि । **पुग्गलु** पुद्गलद्रव्यं **छव्विहु** षड्विधम् । तथा चोक्तम्— "पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपाउग्गा । कम्मातीदा एवं छब्भेया पुग्गला होंति ॥" एव तत्कथं भवति **मुत्तु** स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरिति वचनान्मूर्तम् । **वढ** वत्स पुत्र । **इयर** इतराणि पुद्गलात् शेषद्रव्याणि **अमुत्तु** स्पर्शाद्यभावादमूर्तानि **वियाणि** विजानीहि त्वम् । **धम्माधम्मु वि** धर्माधर्मद्वयमपि **गइठियहं** गतिस्थित्योः **कारणु** कारणं निमित्तं **पभणहिं** प्रभणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति । **णाणि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः इति । अत्र द्रष्टव्यम् । यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूपेण पुद्गलद्रव्य मुक्तिगमनकाले सहकारिकारणं भवति तथापि धर्मद्रव्यं च गतिसहकारिकारणं भवति, अधर्मद्रव्यं च लोकाग्रे स्थितस्य स्थितिसहकारिकारणं भवति । यद्यपि

मुक्तात्मप्रदेशमध्ये परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः सकाशाद्भिन्नस्वरूपेण मुक्तौ तिष्ठन्ति । तथात्र संसारे चेतनाकारणानि हेयानीति भावार्थः ।।१९।। अथ—

वढ पुग्गलु छव्विहु मुत्तु इयर अमुत्तु वियाणि, धम्माधम्मु वि गयठियहँ कारणु णाणि पभणहिँ ।।१९।। हे वत्स ! पुद्गल द्रव्य छह प्रकार का है और मूर्तिक है, अन्य सब द्रव्य अमूर्त है, तुम ऐसा जानो । धर्म और अधर्म द्रव्यो को क्रमश गति-स्थिति का सहायक कारण केवली श्रुतकेवली कहते हैं । **भावार्थ**–पुद्गल द्रव्य के छह भेद 'पुढवी जलं' इत्यादि गाथा से कहते हैं—इसका अर्थ यह है कि १. बादरबादर, २. बादर, ३ बादरसूक्ष्म, ४. सूक्ष्मबादर, ५. सूक्ष्म, ६. सूक्ष्मसूक्ष्म ये छह भेद पुद्गल के है । काष्ठपाषाणादिक स्कन्ध जो छेदन होने पर स्वयं नही जुड सकते, **बादरबादर** हैं । दूध, घी, तेल, जल, रस आदि जो छेदन होने पर स्वय जुड जाते है, **बादर है** । छाया, धूप, अन्धकार, चादनी आदि स्थूल होने पर भी जिनका छेदन-भेदन अथवा हस्तादि द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता, **बादरसूक्ष्म** है । स्पर्श, रस, गन्ध, शव्द जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं, **सूक्ष्मबादर** हैं । कर्मवर्गणादि जिन्हे सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियो से ज्ञात नही होते, वे **सूक्ष्म** है । कर्मवर्गणा से नीचे के द्व्यणुक स्कन्ध तक के स्कन्ध जो अत्यन्त सूक्ष्म है, वे **सूक्ष्मसूक्ष्म** है । इन छहों तरह के पुद्गलों को तू अपने स्वरूप से भिन्न समझ । यह पुद्गल द्रव्य स्पर्श रस गन्ध वर्ण को धारण करता है अतः मूर्तिक है । धर्म-अधर्म गति तथा स्थिति के कारण है, ऐसा वीतरागदेव ने कहा है । यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूप पुद्गल द्रव्य मोक्षगमनकाल में सहकारी कारण होता है, तथापि धर्मद्रव्य गति मे सहकारी कारण होता है और अधर्मद्रव्य सिद्धलोक मे स्थिति का सहकारी कारण है । लोकशिखर पर आकाश के प्रदेश अवकाश में सहायक होते हैं । यद्यपि मुक्तात्माओ के प्रदेश परस्पर एक जगह हैं तो भी विशुद्ध ज्ञानदर्शन भाव भगवान सिद्धक्षेत्र मे भिन्न-भिन्न स्थित हैं । पुद्गलादि पाँचो द्रव्य जीव को यद्यपि निमित्त कारण कहे गए है, तो भी उपादान कारण नही हैं ।।१९।।

दव्वइँ सयलइँ वरि ठियइँ णियमेँ जासु वसंति ।
तं णहु दव्वु वियाणि तुहुं जिणवर एउ भणंति ।।२०।।

द्रव्याणि सकलानि उदरे स्थितानि नियमेन यस्य वसन्ति ।
तत् नभः द्रव्य विजानीहि त्व जिनवरा एतद् भणन्ति ।।२०।।

दव्वइं द्रव्याणि । कतिसख्योपेतानि । **सयलइं** समस्तानि **उवरि** उदरे **ठियइं** स्थितानि **णियमें** निश्चयेन **जासु** यस्य **वसंति** आधाराधेयभावेन तिष्ठन्ति **तं** तत् **णहु दव्वु** नभ आकाशद्रव्यं **वियाणि** विजानीहि **तुहुं** त्वं हे **प्रभाकरभट्ट जिणवर** जिनवराः वीतरागसर्वज्ञाः **एउ भणंति** एतद्भणन्ति कथयन्तीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठत्याकाशं तथापि साक्षादुपादेयभूतादनन्तसुखस्वरूपात्परमात्मनः सकाशादत्यन्तभिन्नत्वाद्धेयमिति ।।२०।। अथ—

जासु वरि सयलइँ दव्वइँ ठियइँ णियमें वसंति तं तुहुं णहु दव्वु वियाणि एउ जिणवर भणंति ॥२०॥ जिसके उदर में यानी जिसमें सब द्रव्य स्थित हुए निश्चय से आधार-आधेयरूप होकर रहते हैं, उसको तू आकाशद्रव्य जान । ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं । लोकाकाश आधार है, अन्य सब द्रव्य आधेय हैं । **भावार्थ**—यद्यपि ये सब द्रव्य आकाश में परस्पर एकक्षेत्रावगाह रूप से स्थित हैं, तो भी साक्षात् उपादेयभूत अनन्तसुख स्वरूप परमात्मा से अत्यन्त भिन्न होने के कारण हेय ही हैं ॥२०॥

कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुँ वट्टण-लक्खणु एउ ।
रयणहँ रासि विभिण्ण जिम तसु अणुयहँ तह भेउ ॥२१॥

कालं मन्यस्व द्रव्यं त्वं वर्तनालक्षणं एतत् ।
रत्नानां राशि: विभिन्न: यथा तस्य अणूनां तथा भेद: ॥२१॥

कालु इत्यादि । **कालु** कालं **मुणिज्जहि** मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि । **दव्वु** कालसंज्ञं द्रव्यम् । कथंभूतम् । **वट्टणलक्खणु** वर्तनालक्षणं स्वयमेव परिणममाणानां द्रव्याणां वहिरङ्गसहकारिकारणम् । किंवदिति चेत् । कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलावदिति । **एउ** एतत् प्रत्यक्षीभूतं तस्य कालद्रव्यस्यासंख्येयप्रमितस्य परस्परभेदविषये दृष्टान्तमाह । **रयणहं रासि** रत्नानां राशि: । कथंभूत: । **विभिण्ण** विभिन्न: विशेषेण स्वरूपव्यवधानेन भिन्न: **तसु** तस्य कालद्रव्यस्य **अणुयहं** अणूनां कालाणूनां **तह** तथा **भेउ** भेद: इति । अत्राह शिष्य: । समय एव निश्चयकाल:, अन्यन्निश्चयकालसंज्ञं कालद्रव्यं नास्ति । अत्र परिहारमाह । समयस्तावत्पर्याय: । कस्मात् । विनश्वरत्वात् । तथा चोक्तं समयस्य विनश्वरत्वम्—**"समओ उप्पण्णद्धंसी"** इति । स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति । कस्य द्रव्यस्य भवतीति विचार्यते यदि पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायो भवति तर्हि पुद्गलपरमाणुपिण्डनिष्पन्नघटादयो यथा मूर्ता भवन्ति तथा अणोरण्वन्तरव्यतिक्रमणाज्जात: समय:, चक्षु:संपुटविघटनाज्जातो निमिष:, जलभाजनहस्तादिव्यापाराज्जाता घटिका, आदित्यविम्वदर्शनाज्जातो दिवस:, इत्यादि कालपर्याया मूर्ता दृष्टिविषया: प्राप्नुवन्ति । कस्मात् । पुद्गलद्रव्योपादानकारणजातत्वाद् घटादिवत् इति । तथा चोक्तम् । उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति मृत्पिण्डाद्युपादानकारणजनितघटादिवदेव न च तथा समयनिमिषघटिकादिवसादिकालपर्याया मूर्ता दृश्यन्ते । यै: पुन: पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमननयनपुटविघटनजलभाजनहस्तादिव्यापारदिनकरविम्वगमनादिभि: पुद्गलपर्यायभूतै: क्रियाविशेषै: समयादिकालपर्याया: परिच्छिद्यन्ते, ते चाणुव्यतिक्रमणादय: तेषामेव समयादिकालपर्यायाणां व्यक्तिनिमित्तत्वेन वहिरङ्गसहकारिकारणभूता एव ज्ञातव्या न चोपादानकारणभूता घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादिवत् । तस्माद् ज्ञायते तत्कालद्रव्यममूर्तमविनश्वरमस्तीति तस्य तत्पर्याया: समयनिमिषादय इति । अत्रेदं तु कालद्रव्यं सर्व-

प्रकारोपादेयभूतात् शुद्धबुद्धैकस्वभावाज्जीवद्रव्याद्भिन्नत्वाद्धेयमिति तात्पर्यार्थः ॥२१॥

तुहुँ एउ वट्टण लक्खणु कालु दव्वु मुणिज्जहि । जिम रयणहँ रासि विभिण्ण तह तसु अणुयहँ भेउ ॥२१॥ हे शिष्य ! तू इस प्रत्यक्षरूप वर्तनालक्षण वाले को कालद्रव्य जान अर्थात् अपने आप परिणमते हुए द्रव्यों को कुम्हार के चक्र की नीचे की शिला की तरह जो बहिरंग सहकारी कारण है, यह कालद्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण है । जैसे रत्नो की राशि भिन्न-भिन्न है, सब रत्न अलग-अलग रहते है उसी तरह उस काल के अणुओ का भेद है, एक कालाणु से दूसरा कालाणु नही मिलता । यह सुनकर शिष्य प्रश्न करता है कि समय ही निश्चयकाल है । अन्य निश्चय कालसंज्ञा वाला काल-द्रव्य नही है । इसका समाधान करते हैं - समय उस कालद्रव्य की पर्याय है क्योंकि समय विनाशशील है । **पंचास्तिकाय** मे समय की नश्वरता के सम्बन्ध में कहा है **'समओ उप्पण्णद्धंसी'** अर्थात् समय उत्पन्न होता है और नष्ट होता है । पर्याय द्रव्य के विना हो नही सकती । समय किस द्रव्य की पर्याय है । इस पर विचार करना चाहिए । यदि पुद्गल द्रव्य की पर्याय मानी जावे तो पुद्गल परमाणुओ से उत्पन्न हुए घटादि जैसे मूर्त होते है वैसे समय भी मूर्त होना चाहिए, परन्तु समय अमूर्त है इसलिए पुद्गल की पर्याय तो नही है । पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जाता है, सो **समय** पर्याय काल की है, चक्षुओं के मिलने तथा विघटने से **निमिष** होता है । जलपात्र तथा हस्तादिक के व्यापार से **घटिका** होती है, सूर्यविम्व के उदय से **दिन** होता है, इत्यादि काल की जो पर्याये है, क्या वे मूर्त हैं और देखने में आती हैं, कैसे ? पुद्गल द्रव्य उपादान कारण से उत्पन्न हुए घटादि के समान । कहा भी है - उपादान कारण के सदृश कार्य होता है, जैसे मूर्त मिट्टी के ढेले से उत्पन्न घडे वगैरह मूर्तिक होते है वैसे समय-निमिष-घटिका-दिवस आदि काल पर्याये मूर्त नही दिखाई देती । अतः अमूर्तद्रव्य जो काल है, ये उसकी पर्याये है । कालद्रव्य अणुरूप अमूर्तिक अविनश्वर है और समयादिक पर्याय अमूर्तिक है परन्तु विनश्वर है । अविनश्वरपना द्रव्य में ही है, पर्याय में नही है, यह निश्चय से जानना इसलिए समयादिक को कालद्रव्य की पर्याय ही कहना चाहिए, पुद्गल की नही । पुद्गल पर्याय मूर्तिक है, यह कालद्रव्य सर्व प्रकार से उपादेयभूत शुद्ध वुद्ध केवलस्वभाव जीवद्रव्य से भिन्न होने से हेय है, यह **तात्पर्यार्थ** है ॥२१॥

अथजीवपुद्गलकालद्रव्याणि मुक्त्वा शेषधर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणीति निरूपयति-

अब कहते हैं कि जीव, पुद्गल और काल द्रव्य को छोड़कर शेष तीन धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं—

जीउ वि पुग्गलु कालु जिय ए मेल्लेविणु दव्व ।
इयर अखंड वियाणि तुहुँ अप्प-पएसहिं सव्व ॥२२॥

जीवोऽपि पुद्गल कालः जीव एतानि मुक्त्वा द्रव्याणि ।
इतराणि अखण्डानि विजानीहि त्वं आत्मप्रदेशैः सर्वाणि ॥२२॥

जीउ वि इत्यादि । **जीउ वि** जीवोऽपि **पुग्गलु** पुद्गलः **कालु** कालः **जिय** हे जीव **ए मेल्लेविणु** एतानि मुक्त्वा **दव्व** द्रव्याणि **इयर** इतराणि धर्माधर्माकाशानि **अखंड**

अखण्डद्रव्याणि **वियाणि** विजानीहि **तुहुं** त्वं हे **प्रभाकरभट्ट**। कैः कृत्वाखण्डानि विजानीहि । **अप्पपएसहि** आत्मप्रदेशैः । कतिसंख्योपेतानि । **सव्व** सर्वाणि इति । तथाहि । जीवद्रव्याणि पृथक् पृथक् जीवद्रव्यगणनेनानन्तसंख्यानि पुद्गलद्रव्याणि तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि भवन्ति । धर्माधर्माकाशानि पुनरेकद्रव्याण्येवेति । अत्र जीवद्रव्यमेवोपादेयं तत्रापि यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शक्त्यपेक्षया सर्वे जीवा उपादेयास्तथापि व्यक्त्यपेक्षया पञ्च परमेष्ठिन एव, तेष्वपि मध्ये विशेषेणार्हत्सिद्धा एव तयोरपि मध्ये सिद्धा एव, परमार्थेन तु मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इत्युपादेयपरंपरा ज्ञातव्येति भावार्थः ॥२२॥

जिय तुहुं जीउ वि पुग्गलु कालु ए दव्व मेल्लेविणु इतराणि सव्व अप्पपएसहि अखंड वियाणि ॥२२॥ हे जीव ! तू जीव, पुद्गल और काल इन तीन द्रव्यों को छोड़ कर दूसरे सब द्रव्यों को धर्म, अधर्म और आकाश को अपने प्रदेशों से अखण्डित जान । जीव द्रव्य पृथक्-पृथक् जीवों की गणना से अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उससे भी अनन्त गुणे हैं, कालद्रव्याणु असंख्यात हैं, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य लोकव्यापी हैं और एक-एक हैं, ये दोनों द्रव्य असंख्यातप्रदेशी हैं । आकाशद्रव्य अलोक की अपेक्षा अनन्तप्रदेशी है तथा लोक की अपेक्षा असंख्यातप्रदेशी है । ये सब द्रव्य अपने-अपने प्रदेशों से युक्त हैं, एक के प्रदेश किसी दूसरे के प्रदेशों से नहीं मिलते । इन सब द्रव्यों में जीव द्रव्य ही उपादेय है । यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से शक्ति की अपेक्षा सभी जीव उपादेय हैं तो भी व्यक्ति की अपेक्षा पंचपरमेष्ठी ही उपादेय हैं । उनमें भी अरहन्त सिद्ध ही विशेष उपादेय हैं, उन दोनों में भी सिद्ध ही विशेषोपादेय हैं और निश्चयनय से मिथ्यात्वरागादि विभाव परिणाम के अभाव में स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है, यह उपादेय परम्परा जाननी चाहिए, यह भावार्थ है ॥२२॥

अथ जीवपुद्गलौ सक्रियौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि निःक्रियाणीति प्रतिपादयति-

आगे प्रतिपादित करते हैं कि जीव और पुद्गल ये दोनों सक्रिय हैं और धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल ये चारों निष्क्रिय हैं—

दव्व चयारि वि इयर जिय गमणागमण-विहीण ।
जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि पभणहिं णाण-पवीण ॥२३॥

द्रव्याणि चत्वारि अपि इतराणि जीव गमनागमनविहीनानि ।
जीवमपि पुद्गलं परिहृत्य प्रभणन्ति ज्ञानप्रवीणाः ॥२३॥

दव्व इत्यादि । **दव्व** द्रव्याणि । कतिसंख्योपेतानि एव । **चयारि वि** चत्वार्येव **इयर** जीवपुद्गलाभ्यामितराणि **जिय** हे जीव । कथंभूतान्येतानि । **गमणागमण-विहीण** गमनागमनविहीनानि निःक्रियाणि चलनक्रियाविहीनानि । किं कृत्वा । **जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि** जीवपुद्गलौ परिहृत्य **पभणहिं** एवं प्रभणन्ति कथयन्ति । के ते ।

णाण-पवीण भेदाभेदरत्नत्रयाराधका विवेकिन इत्यर्थः । तथाहि । जीवानां ससारावस्थायां गते सहकारिकारणभूताः कर्मनोकर्मपुद्गला. कर्मनोकर्माभावात्सिद्धानां निःक्रियत्वं भवति पुद्गलस्कन्धानां तु कालाणुरूपं कालद्रव्यं गतेर्बहिरङ्गनिमित्तं भवति । अनेन किमुक्तं भवति । अविभागिव्यवहारकालसमयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणु घटोत्पत्तौ कुम्भकारवद्बहिरङ्गनिमित्तेन व्यञ्जको व्यक्तिकारको भवति । कालद्रव्यं तु मृत्पिण्डवदुपादानकारणं भवति । तस्य तु पुद्गलपरमाणोर्मन्दगमनकाले यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारिकारणमस्ति तथापि कालाणुरूपं निश्चयकालद्रव्यं च सहकारिकारणं भवति । सहकारिकारणानि तु बहून्यपि भवन्ति मत्स्यानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जलवत्, घटोत्पत्तौ कुम्भकारबहिरङ्गनिमित्तेऽपि चक्रचीवरादिवत्, जीवानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं, पुद्गलानां तु कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणम् । कुत्र भणितमास्ते इति चेत् । **पञ्चास्तिकायप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः** सक्रियनिःक्रियव्याख्यानकाले भणितमस्ति—**"जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा । पुग्गलकरणा जीवा खंदा खलु कालकरणेहिं ।।"** पुद्गलस्कन्धानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जलवत् द्रव्यकालो गतेः सहकारिकारणं भवतीत्यर्थः । अत्र निश्चयनयेन निःक्रियसिद्धस्वरूपसमानं निजशुद्धात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं निश्चयनयेन निःक्रियजीवलक्षणम्—**"यावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते तावद् द्वैतस्य गोचराः । अद्वये निष्कले प्राप्ते निःक्रियस्य कुतः क्रिया ।।"** ।।२३।।

जिय ! जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि इयर चयारि वि दव्व गमणागमणविहीण, णाण-पवीण पभणहिं ।।२३।। हे जीव ! जीव और पुद्गल इन दोनों को छोड कर दूसरे धर्मादि चारों ही द्रव्य हलनचलनादि क्रियारहित हैं, जीव पुद्गल क्रियाशील हैं, ऐसा ज्ञानियो में चतुर भेदाभेदरत्नत्रय के धारक कहते हैं । **भावार्थ**—संसारावस्था में जीवों के एक गति से दूसरी गति में जाने मे कर्म-नोकर्म जाति के पुद्गल सहायी हैं, कर्म-नोकर्म के अभाव से सिद्धों के निष्क्रियपना है, पुद्गल स्कन्धों के गमन मे बहिरग निमित्त कारण कालाणु रूप कालद्रव्य है । इसमे क्या अभिप्राय निकला ? यही कि निश्चय काल की पर्याय समयरूप व्यवहार काल की उत्पत्ति में मन्द गतिरूप परिणत हुआ अविभागी पुद्गल परमाणु कारण होता है । समयरूप व्यवहारकाल का उपादान कारण निश्चय काल द्रव्य है, उसी की एक समयादि व्यवहारकाल का मूल कारण निश्चय कालाणु रूप काल द्रव्य है, उसी की एक समयादिक पर्याय हैं । पुद्गल परमाणु की मन्दगति बहिरंग निमित्त कारण है, उपादान कारण नही हैं, पुद्गल परमाणु आकाश के प्रदेश मे मन्दगति से गमन करता है, यदि तेज गति से चले तो एक समय में चौदह राजू जाता है । जैसे घटपर्याय की उत्पत्ति मे मूल कारण तो मृत्तिका पिण्ड है और बहिरग निमित्त कुम्भकार है; वैसे ही समयपर्याय की उत्पत्ति में मूल कारण तो कालाणुरूप निश्चयकाल है और बहिरग निमित्त कारण पुद्गल परमाणु है । पुद्गल परमाणु की मन्दगतिरूप गमनसमय मे यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारी है तो भी कालाणु रूप निश्चयकाल को परमाणु की मन्दगति का सहायक जानना । परमाणु के निमित्त से तो काल की समयपर्याय प्रकट होती है और काल

की सहायता से परमाणु मन्द गति करता है। प्रश्न–गति का सहकारी तो धर्म है, काल को कैसे कहा? उत्तर–उपादान कारण तो एक ही होता है जबकि सहकारी कारण बहुत से होते हैं। निज द्रव्य ही अपनी गुण-पर्यायों का मूल कारण है, निमित्तकारण तो बहुत होते हैं। जैसे धर्मद्रव्य तो गति में सहायक है ही परन्तु मछलियों को गति में सहायक जल है तथा घट की उत्पत्ति में बहिरंग निमित्त कारण कुम्भकार है तो भी दण्ड, चक्र, चीवरादिक भी अवश्य कारण है। जीवों के गमन में सहायक धर्मद्रव्य विद्यमान है तो भी कर्म-नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण है, इसी तरह पुद्गल को कालद्रव्य की गति मे सहकारी कारण जानना। प्रश्न–धर्मद्रव्य को सब जगह गति का सहायक कहा गया है और कालद्रव्य को वर्तना में सहायक कहा गया है। गति में सहायक कहाँ कहा है? उत्तर–ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में क्रियावन्त और अक्रियावन्त के व्याख्यान में कहा है–"जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावन्त हैं और शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। जीव को दूसरी गति में गमन का कारण कर्म है, वह पुद्गल है और पुद्गल स्कन्धों के गमन में कारण काल है।" जैसे धर्मद्रव्य के रहने पर भी मछली को गमन में सहायक जल है, उसी तरह पुद्गल को धर्मद्रव्य के होने पर भी द्रव्यकाल गमन में सहकारी कारण है। यहाँ निश्चयनय से गमनादि क्रिया से रहित निष्क्रिय सिद्ध-स्वरूप के समान निष्क्रिय निर्द्वन्द्व निजशुद्धात्मा ही उपादेय है - यह भावार्थ हुआ। निश्चयनय की अपेक्षा निष्क्रिय जीव का लक्षण अन्यत्र भी ऐसा कहा है–"जब तक इस जीव के हलन-चलनादि क्रिया है, गति से गत्यन्तर है, तभी तक दूसरे द्रव्य का सम्बन्ध है, जब दूसरे का सम्बन्ध मिटा, अद्वैत हुआ तब शरीर से रहित निष्क्रिय है। निष्क्रिय के क्रिया कहाँ से हो सकती है" अर्थात् संसारी जीव के कर्मों का सम्बन्ध रहने के कारण गमनागमन है, सिद्ध भगवान कर्मरहित निष्क्रिय है, उनके कभी गमनागमन रूप क्रिया सम्भव नहीं है ॥२३॥

अथ पञ्चास्तिकायसूचनार्थं कालद्रव्यमप्रदेशं विहाय कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशाः भवन्तीति कथयति—

अब पंचास्तिकाय की सूचना के लिए अप्रदेशी कालद्रव्य को छोड़कर किस द्रव्य के कितने प्रदेश हैं, सो कहते हैं—

धम्माधम्मु वि एक्कु जिउ ए जि असंख-पदेस।
गयणु अणंत-पएसु मुणि बहु-विह पुग्गल-देस ॥२४॥

धर्माधर्मौ अपि एकः जीवः एतानि एव असंख्यप्रदेशानि।
गगन अनन्तप्रदेशं मन्यस्व बहुविधाः पुद्गलदेशाः ॥२४॥

धम्माधम्मु वि इत्यादि। **धम्माधम्मु वि** धर्माधर्मद्वितयमेव **एक्कु जिउ** एको विवक्षितो जीवः। **ए जि** एतान्येव त्रीणि द्रव्याणि **असंखपदेस** असंख्येयप्रदेशानि भवन्ति। **गयणु** गगनं **अणंतपएसु** अनन्तप्रदेशं **मुणि** मन्यस्व जानीहि। **बहुविह** बहुविधा-भवन्ति। के ते। **पुग्गलदेस** पुद्गलप्रदेशाः। अत्र पुद्गलद्रव्यप्रदेशविवक्षया प्रदेश-शब्देन परमाणवो ग्राह्याः न च क्षेत्रप्रदेशा इति। कस्मात्। पुद्गलस्यानन्तक्षेत्रप्रदेशा-

भावादिति । अथवा पाठान्तरम् । 'पुग्गलु तिविहु पएसु' । पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानन्तरूपेण त्रिविधाः प्रदेशाः परमाणवो भवन्तीति । अत्र निश्चयेन द्रव्यकर्माभावादमूर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपभावकर्मसंकल्पविकल्पाभावात् शुद्धालोकाकाशप्रमाणेनासंख्येयाः प्रदेशा यस्य शुद्धात्मनः स शुद्धात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपरिणतिकाले साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥२४॥

धम्माधम्मु वि एक्कु जिउ, ए जि असंखपदेस, गयणु अणंतपएसु पुग्गलदेस बहुविह मुणि ॥२४॥ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव ये तीनों असंख्यातप्रदेशी है, आकाश अनन्तप्रदेशी है, पुद्गल के प्रदेश बहुत प्रकार के जानो । परमाणु एकप्रदेशी है, स्कन्ध संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी तथा अनन्तप्रदेशी भी होते है । भावार्थ–यहाँ पुद्गल द्रव्य की प्रदेश विवक्षा मे प्रदेश शब्द से परमाणु ग्रहण करना चाहिए, न कि क्षेत्रप्रदेश । क्यों ? क्योंकि पुद्गल का प्रचार लोक में ही है, अलोकाँकाश मे नहीं, इसलिए अनन्त क्षेत्र में प्रदेशों का अभाव होने से क्षेत्रप्रदेश नही जानने । जैसे-जैसे परमाणु मिल जाते है, वैसे-वैसे प्रदेशों की वृद्धि जाननी । इसी दोहे के कथन में पाठान्तर 'पुग्गलु तिविहु पएसु' ऐसा है इसका अर्थ यह है कि पुद्गल के सख्यात, असख्यात, अनन्तप्रदेश परमाणुओं के मेल मे जानने चाहिए अर्थात् एक परमाणु एकप्रदेश, वहुत परमाणु वहुप्रदेश । निश्चय नय से द्रव्यकर्म के अभाव से यह जीव अमूर्त है और मिथ्यात्व रागादिरूप भावकर्म संकल्प-विकल्प के अभाव मे शुद्ध है, लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशवाला है, ऐसा जो निज शुद्धात्मा है,वही वीतराग निर्विकल्प समाधिदशा में साक्षात् उपादेय है ॥२४॥

अथ लोके यद्यपि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति द्रव्याणि तथापि निश्चयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण कृत्वा स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति दर्शयति—

अब लोक में यद्यपि व्यवहार नय से ये सब द्रव्य एकक्षेत्रावगाही है तथापि निश्चयनय से कोई द्रव्य किसी मे नही मिलता और कोई भी अपने-अपने स्वरूप को नही छोडता—सो वताते है—

लोयागासु धरेवि जिय कहियइँ दव्वइँ जाइँ ।
एक्कहिँ मिलियइँ इत्थु जगि सगुणहिँ णिवसहिँ ताइँ ॥२५॥

लोकाकाशं धृत्वा जीव कथितानि द्रव्याणि यानि ।
एकत्वे मिलितानि अत्र जगति स्वगुणेषु निवसन्ति तानि ॥२५॥

लोयागासु इत्यादि । **लोयागासु** लोकाकाशं कर्मतापन्नं **धरेवि** धृत्वा मर्यादीकृत्य **जिय** हे जीव अथवा लोकाकाशमाधारीकृत्वा ठियाइं आधेयरूपेण स्थितानि । कानि स्थितानि । **कहियइं दव्वइं जाइं** कथितानि जीवादिद्रव्याणि यानि । पुनः कथंभूतानि । **एक्कहिमिलियइं** एकत्वे मिलितानि । **इत्थु जगि** अत्र जगति **सगुणहिं णिवसहिं** निश्चयनयेन स्वकीयगुणेषु निवसन्ति 'सगुणहिं' तृतीयान्तं करणपदं स्वगुणेष्वधिकरणं कथं जातमिति । ननु कथितं पूर्वं प्राकृते कारकव्यभिचारो लिङ्गव्यभिचारश्च क्वचिद्भव-

तीति । कानि निवसन्ति । ताइं पूर्वोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याणीति । तद्यथा । यद्यप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेणाधाराधेयभावेनैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण स्वकीयस्वकीयसामान्यविशेषशुद्धगुणान्न त्यजन्तीति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । हे भगवन् लोकस्तावदसंख्यातप्रदेशः परमागमे भणितः तिष्ठति तत्रासंख्यातप्रदेशलोके प्रत्येकं प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशान्यनन्तजीवद्रव्याणि, तत्र चैकैके जीवद्रव्ये कर्मनोकर्मरूपेणानन्तानि पुद्गलपरमाणुद्रव्याणि च तिष्ठन्ति तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि शेषपुद्गलद्रव्याणि तिष्ठन्ति तानि सर्वाण्यसंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभन्ते इति पूर्वपक्षः । भगवान् परिहारमाह । अवगाहनशक्तियोगाद्विति । तथाहि । यथैकस्मिन् गूढनागरसगद्याणके शतसहस्रलक्षसुवर्णसंख्याप्रमितान्यवकाशं लभन्ते, अथवा यथैकस्मिन् प्रदीपप्रकाशे वहवोऽपि प्रदीपप्रकाशा अवकाशं लभन्ते, अथवा यथैकस्मिन् भस्मघटे जलघटः सम्यगवकाशं लभते, अथवा यथैकस्मिन् भूमिगृहे वहवोऽपि पटहजयघण्टादिशब्दाः सम्यगवकाशं लभन्ते, तथैकस्मिन् लोके विशिष्टावगाहनशक्तियोगात् पूर्वोक्तानन्तसंख्या जीवपुद्गला अवकाशं लभन्ते नास्ति विरोधः इति । तथा चोक्तं जीवानामवगाहनशक्तिस्वरूपं परमागमे—"**एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥**" पुनस्तथोक्तं पुद्गलानामवगाहनशक्तिस्वरूपम्—"**ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो । सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥**" । अयमत्र भावार्थः । यद्यप्येकावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धनिश्चयेन जीवाः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपं न त्यजन्ति पुद्गलाश्च वर्णादिस्वरूपं न त्यजन्ति शेषद्रव्याणि च स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्ति ॥२५॥

जिय ! इत्थु जगि जाइं दव्वइं कहियइं ताइं लोयागासु धरेवि एक्कहिं मिलियइं सगुणहिं णिवसहिं ॥२५॥ हे जीव ! इस संसार में जितने द्रव्य कहे गये हैं, वे सब लोकाकाश में स्थित है, लोकाकाश आधार है और ये सब आधेय है। ये सब द्रव्य एक ही क्षेत्र में मिले हुए रहते हैं– एकक्षेत्रावगाही है, तो भी निश्चय नय से अपने-अपने गुणों में ही निवास करते हैं, एक दूसरे से मिलते नहीं हैं । **भावार्थ**–यद्यपि उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा आधार-आधेय भाव से एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित है तथापि शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से पर द्रव्य से मिलने रूप संकरदोष से रहित हैं और अपने-अपने सामान्य गुण तथा विशेष गुणो को नहीं छोड़ते हैं । यहाँ प्रभाकरभट्ट ने **प्रश्न** किया कि हे भगवन् ! परमागम में लोक को असख्यातप्रदेशी कहा गया है, उस असख्यातप्रदेशी लोक में अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि एक-एक जीव के असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं और एक-एक जीव में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु कर्म-नोकर्म रूप से लग रहे हैं, इसके सिवाय अनन्तगुणे अन्य पुद्गल भी रहते हैं, सो ये सब द्रव्य असंख्यातप्रदेशी लोक में कैसे रह सकते हैं ? इसका **उत्तर** देते हैं – क्योंकि आकाश में अवकाश देने की शक्ति है, अतः रह सकते हैं । जैसे एक गूढ़ नागरस गुटिका में शतसहस्रलक्ष सुवर्ण संख्या आ जाती है, अथवा एक दीपक के प्रकाश में वहुत

दीपकों का प्रकाश जगह पाता है, अथवा जैसे राख के एक घड़े में जल का एक घड़ा अच्छी तरह अवकाश पाता है, अथवा एक भूमिघर में ढोल घण्टा आदि बहुत बाजों का शब्द अच्छी तरह समा जाता है, उसी तरह एक लोकाकाश मे विशिष्ट अवगाहन शक्ति के योग से अनन्तजीव और अनन्तानन्त पुद्गल अवकाश पाते है, इसमें विरोध नही है। जीवों की अवगाहन शक्ति का स्वरूप परमागम में इस प्रकार कहा है—"द्रव्य की अपेक्षा सिद्धराशि से और सम्पूर्ण अतीतकाल के समयों से अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीर मे रहते हैं।" (गो. सा. जीवकाण्ड १९५) पुद्गलों की अवगाहनशक्ति का स्वरूप इस प्रकार है—"सब प्रकार सब जगह यह लोक पुद्गलकायों से अवगाढ गाढ़ भरा है। ये पुद्गलकाय अनन्त है, अनेक भेद वाले है, कोई सूक्ष्म है, कोई बादर हैं।" (पंचास्तिकाय ६४)। भावार्थ यह है कि यद्यपि सब द्रव्य एकक्षेत्रावगाह रूप से रहते है तो भी शुद्ध निश्चय नय से जीव केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप अपने स्वभाव को नही छोड़ते हैं, पुद्गल द्रव्य अपने वर्णादि स्वरूप को नही छोड़ता है और धर्मादि अन्य द्रव्य भी अपने-अपने स्वरूप को नही छोड़ते है ॥२५॥

अथ जीवस्य व्यवहारेण शेषपञ्चद्रव्यकृतमुपकारं कथयति, तस्यैव जीवस्य निश्चयेन तान्येव दुःखकारणानि च कथयति—

अब कहते है कि व्यवहारनय मे अन्य पांच द्रव्य जीव का उपकार करते है और निश्चय नय की अपेक्षा वे ही जीव के दुःख के कारण हैं—

एयइँ दव्वइँ देहियहँ णिय-णिय-कज्जु जणंति।
चउ-गइ-दुक्ख सहंत जिय तेँ संसारु भमंति ॥२६॥

एतानि द्रव्याणि देहिनां निजनिजकार्यं जनयन्ति।
चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः तेन संसारं भ्रमन्ति ॥२६॥

एयइं इत्यादि। **एयइं** एतानि **दव्वइं** जीवादन्यद्रव्याणि **देहियहं** देहिनां संसारिजीवानाम्। किं कुर्वन्ति। **णियणियकज्जु जणंति** निजनिजकार्यं जनयन्ति येन कारणेन निजनिजकार्यं जनयन्ति। **चउगइदुक्ख सहंत जिय** चतुर्गतिदुःखं सहमानाः सन्तो जीवाः **तें संसारु भमंति** तेन कारणेन संसारं भ्रमन्तीति। तथा च। पुद्गलस्तावज्जीवस्य स्वसंवित्तिविलक्षणविभावपरिणामरतस्य व्यवहारेण शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्तिं करोति, धर्मद्रव्यं चोपचरितासद्भूतव्यवहारेण गतिसहकारित्वं करोति, तथैवाधर्मद्रव्यं स्थितिसहकारित्वं करोति, तेनैव व्यवहारनयेन आकाशद्रव्यमवकाशदानं ददाति, तथैव कालद्रव्यं च शुभाशुभपरिणामसहकारित्वं करोति। एवं पञ्चद्रव्याणामुपकारं लब्ध्वा जीवो निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाच्युतः सन् चतुर्गतिदुःखं सहत इति भावार्थः ॥२६॥

एयइँ दव्वइँ देहियहँ णिय-णिय-कज्जु जणंति, तें चउ-गइ-दुक्ख सहंत जिय संसारु भमंति ॥२६॥ ये द्रव्य जीवो के अपने-अपने कार्य को उत्पन्न करते है, इस कारण चारों गतियों के दुःख

सहते हुए जीव संसार में भटकते है। अन्य जीवद्रव्य का क्या उपकार करते हैं ? पुद्गल तो आत्मज्ञान से विपरीत विभाव परिणामों में लीन हुए जीव के व्यवहारनय से शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास उत्पन्न करता है। धर्मद्रव्य उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा गतिसहायी है। अधर्मद्रव्य स्थितिसहायी है, आकाशद्रव्य अवकाश प्रदान करता है और काल द्रव्य शुभाशुभ परिणामों का सहायी है। इस प्रकार इन पाँच द्रव्यों का उपकार पाकर जीव निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की भावना से च्युत होकर चारों गतियों के दुःख सहता है, यह भावार्थ है ॥२६॥

अथैवं पञ्चद्रव्याणां स्वरूपं निश्चयेन दुःखकारणं ज्ञात्वा हे जीव निजशुद्धात्मोपलम्भलक्षणे मोक्षमार्गे स्थीयत इति निरूपयति—

अब कहते है कि इन पाँच द्रव्यों का साहाय्य निश्चय मे दुःख का कारण है, ऐसा जान कर हे जीव ! शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप मोक्षमार्ग मे स्थित हो—

दुक्खहँ कारणु मुणिवि जिय दव्वहँ एहु सहाउ ।
होयवि मोक्खहँ मग्गि लहु गम्मिज्जइ पर-लोउ ॥२७॥

दुःखस्य कारणं मत्वा जीवद्रव्याणां एतत्सहायम् ।
भूत्वा मोक्षस्य मार्गे लघु गम्यते परलोकः ॥२७॥

दुक्खहँ कारणु दुःखस्य कारणं **मुणिवि** मत्वा ज्ञात्वा **जिय** हे जीव । किं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा **दव्वहँ एहु सहाउ** द्रव्याणामिम शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्त्यादिलक्षणं पूर्वोक्तस्वभावम् । एवं पुद्गलादिपञ्चद्रव्यस्वभावं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा । किं क्रियते । **होयवि** भूत्वा । क्व **मोक्खहँ मग्गि** मोक्षस्य मार्गे **लहु** लघु शीघ्रं पश्चात् **गम्मिज्जइ** गम्यते । कः कर्मतापन्नः । **परलोउ** परलोको मोक्ष इति । तथाहि । वीतरागसदानन्दैकस्वाभाविकसुखविपरीतस्याकुलत्वोत्पादकस्य दुःखस्य कारणानि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि ज्ञात्वा हे जीव भेदाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षस्य मार्गे स्थित्वा परः परमात्मा तस्यावलोकनमनुभवनं परमसमरसीभावेन परिणमनं परलोको मोक्षस्तत्र गम्यत इति भावार्थः ॥२७॥

जिय ! दव्वहँ एहु सहाउ दुक्खहँ कारणु मुणिवि मोक्खहँ मग्गि होयवि लहु पर-लोउ गम्मिज्जइ ॥२७॥ हे जीव ! द्रव्यों के इस सहाय को दुःख का कारण जान कर मोक्षमार्ग में लग कर शीघ्र ही उत्कृष्ट लोकरूप मोक्ष में जाना चाहिए। **भावार्थ**–पूर्वोक्त पुद्गलादि द्रव्यों के उपकार शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि ये सब दुःख के कारण है क्योंकि वीतराग सदानन्द रूप स्वभाव से उत्पन्न जो अतीन्द्रिय सुख, उससे विपरीत आकुलता के उपजाने वाले है, ऐसा जान कर हे जीव ! तू भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कर, परमात्मा का अनुभव परमसमरसीभाव से परिणमनरूप मोक्ष, उसमे गमन कर ॥२७॥

अथेदं व्यवहारेण मया भणितं जीवद्रव्यादिश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनमिदानीं सम्यग्ज्ञानं चारित्रं च हे **प्रभाकरभट्ट** शृणु त्वमिति मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति–

अब तक व्यवहारनय से मैंने जीवद्रव्यादि के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कहा है, अब हे प्रभाकरभट्ट ! तू सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय में सुन, ऐसा मन मे रख कर यह दोहा सूत्र कहते हैं—

णियमें कहियउ एहु मइँ ववहारेण वि दिट्ठि।
एवहिँ णाणु चरित्तु सुणि जें पावहि परमेट्ठि ।।२८।।

नियमेन कथिता एपा मया व्यवहारेणापि दृष्टिः।
इदानी ज्ञानं चारित्रं शृणु येन प्राप्नोपि परमेष्ठिनम् ।।२८।।

णियमें नियमेन निश्चयेन **कहियउ** कथिता **एहु मइं** एषा कर्मतापन्ना मया। केनैव। **ववहारेण वि** व्यवहारनयेनैव। एषा का। **दिट्ठि** दृष्टिः। दृष्टिः कोऽर्थः, सम्यक्त्वम्। **एवहि** इदानी **णाणु चरित्तु सुणि** हे **प्रभाकरभट्ट** क्रमेण ज्ञानचारित्रद्वयं शृणु। येन श्रुतेन किं भवति। **जें पावहि** येन सम्यग्ज्ञानचारित्रद्वयेन प्राप्नोषि। किं प्राप्नोपि। **परमेट्ठि** परमेष्ठिपदं मुक्तिपदमिति। अतो व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानां द्रव्याणां चूलिकारूपेण व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा। "**परिणाम जीव मुत्तं संपदेसं एय खित्त किरिया य। णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदं इदरम्हि य पवेसो।**" परिणाम इत्यादि। 'परिणाम' परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपरिणामाभ्यां शेषचत्वारि द्रव्याणि जीवपुद्गलवद्विभावव्यञ्जनपर्यायाभावात् मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनि इति। 'जीव' शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः, व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि। 'मुत्तं' अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणो स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते तद्भावान्मूर्तः पुद्गलः। जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनामूर्तम्। धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्तानि।

'सपदेसं' लोकमात्रप्रमितासंख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम्। 'एय' द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति। 'खेत्त' सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकं शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि। 'किरिया य' क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती

क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि । 'णिच्च' धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि तथापि मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्यायाभावात् नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन च जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षया चानित्ये । 'कारण' पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्ति इति कारणानि भवन्ति, जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम् ।

'कत्ता' शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बन्धमोक्षद्रव्यभावरूपः पुण्यपापघटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः सन् पुण्यपापबन्धयोः कर्ता तत्फलभोक्ता च भवति विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तत्परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्ता तत्फलभोक्ता च । शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति । पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम् । वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव । 'सव्वगदं' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते धर्माधर्मौ च लोकव्याप्त्यपेक्षया जीवद्रव्यं तु पुनरेकैकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विहायासर्वगतं नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवतीति । पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवतीति । कालद्रव्यं पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति । 'इदरम्हि य पवेसो' यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यानुप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति । तथा चोक्तम्— **"अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स । मेलंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति ॥"** इदमत्र तात्पर्यम् । व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतेषु षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणस्वभावं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयम् ॥२८॥ एवमेकोनविंशतिसूत्रप्रमितस्थले निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकत्वेन पूर्वसूत्रत्रयं गतम् । इदं पुनरन्तरं स्थलं चतुर्दशसूत्रप्रमितं षड्द्रव्यध्येयभूतव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन समाप्तमिति ।

मइँ ववहारेण वि एहु दिट्ठि णियमें कहियउ, एवहिं णाणु चरित्तु सुणि जें परमेट्ठि पावहि ॥२८॥ हे प्रभाकरभट्ट ! मैंने व्यवहारनय से तुझे सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा, अब तू ज्ञान और

चारित्र के सम्वन्ध में सुन, जिनको धारण करने से सिद्ध परमेष्ठी का पद प्राप्त करेगा। **भावार्थ**–यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व के कारणभूत द्रव्यों का चूलिकारूप व्याख्यान करते हैं—"परिणाम जीवमुत्तं" गाथा का अर्थ है—इन छह द्रव्यों में विभाव परिणमन करने वाले जीव और पुद्गल दो ही हैं, अन्य चार द्रव्य अपने स्वभावरूप तो परिणमते हैं लेकिन जीव पुद्गल की तरह विभाव व्यंजन पर्याय के अभाव से विभावपरिणमन नही है, इसलिए मुख्यता से परिणामी दो द्रव्य ही है। शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव जो शुद्ध चैतन्य प्राण उनसे जीता है, जीवेगा, पहले जी रहा था और व्यवहारनय से इन्द्रिय, वल, आयु, श्वासोच्छ्वासरूप द्रव्य प्राणों से जी रहा है, जीवेगा, पहले जी रहा था, इसलिए जीव को ही जीव कहा गया है, अन्य पुद्गलादि पाँच द्रव्य अजीव हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्ति सहित मूर्तिक एक पुद्गलद्रव्य ही है, अन्य पाँच द्रव्य अमूर्त्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारो तो अमूर्त्त हैं ही, जीवद्रव्य अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा मूर्त्त भी कहा जाता है क्योंकि शरीर धारण कर रहा है, तो भी शुद्ध निश्चयनय से अमूर्त्त ही है।

लोकप्रमाण असख्यातप्रदेशी जीवद्रव्य को आदि लेकर पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय हैं, वे सप्रदेशी हैं और कालद्रव्य वहुप्रदेश स्वभावकायपना न होने से अप्रदेशी है। धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य एक-एक है और जीव, पुद्गल, काल ये तीनों अनेक है। जीव तो अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त है, काल असंख्यात है, सव द्रव्यो को अवकाश देने मे समर्थ एक आकाश ही है, इसलिए आकाश क्षेत्र कहा गया है, वाकी पाँच द्रव्य अक्षेत्री हैं, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन करना, यह हलन-चलनवती क्रिया कही गई है, यह क्रिया जीव और पुद्गल दोनो के ही है और धर्म-अधर्म-आकाश-काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय है। जीवों में भी संसारी जीव ही हलन-चलन वाले है, इसलिए क्रियावन्त है और सिद्ध परमेष्ठी निष्क्रिय हैं, उनके हलन-चलन क्रिया नही है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सभी द्रव्य नित्य हैं, अर्थपर्याय जो षट्गुणी हानिवृद्धिरूप स्वभावपर्याय है, उसकी अपेक्षा सभी अनित्य है, तो भी विभावव्यञ्जनपर्याय जीव और पुद्गल इन दो की ही है अतः इनको ही अनित्य कहा है, अन्य चार द्रव्य विभाव के अभाव से नित्य ही हैं। इस कारण यह निश्चय से जानना कि चार नित्य है, दो अनित्य है तथा द्रव्य से सभी नित्य हैं, कोई भी द्रव्य नाशवान् नही है। जीव को पाँचो ही द्रव्य सहायक है, पुद्गल तो शरीरादिक का कारण है, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य गति-स्थिति मे सहायक है, आकाश द्रव्य अवकाश में सहायक है और काल वर्तना का सहायी है। ये पाँचों द्रव्य जीव के सहायक हैं, जीव उनको सहायक नही है। यद्यपि जीवद्रव्य अन्य जीवो को गुरु शिष्यादिरूप परस्पर उपकार करता है तो भी पुद्गलादि पाँचो द्रव्यो का सहायी नही है और ये पाँचों उसके सहायक है।

शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा यह जीव यद्यपि वन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप का कर्त्ता नही है तो भी अशुद्धनिश्चय नय से शुभ-अशुभ उपयोगो से परिणत हुआ पुण्य-पाप के वन्ध का कर्ता होता है और उनके फल का भोक्ता होता है तथा विशुद्ध ज्ञानदर्शनरूप निज शुद्धात्म द्रव्य के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप शुद्धोपयोग से परिणत हुआ मोक्ष का भी कर्त्ता होता है और अनन्त सुख का भोक्ता होता है। इसलिए जीव को कर्त्ता भी कहा जाता है और भोक्ता भी कहा जाता है। शुभ-अशुभ-शुद्ध परिणमन ही सव जगह कर्तापना है और पुद्गलादि पाँच द्रव्यो को अपने-अपने परिणाम रूप जो परिणमन वही कर्तापना है, पुण्य-पापादिक का कर्तापना नहीं है। सर्वगतपना लोकालोकव्यापकता की अपेक्षा आकाश ही मे है, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य ये दोनों

लोकाकाशव्यापी है, अलोक मे नही हैं और जीवद्रव्य मे एक जीव की अपेक्षा केवलीसमुद्घात मे लोकपूरण अवस्था मे लोक मे सर्वगतपना है तथा नाना जीव की अपेक्षा सर्वगतपना नही है। पुद्गल द्रव्य लोकप्रमाण महास्कन्ध की अपेक्षा सर्वगत है, अन्य पुद्गल की अपेक्षा सर्वगत नही है। कालद्रव्य एक कालाणु की अपेक्षा तो एक प्रदेशगत है, सर्वगत नही है और नाना कालाणुओ की अपेक्षा लोकाकाश के सब प्रदेशो मे कालाणु है, इसलिए सब कालाणुओ की अपेक्षा सर्वगत कह सकते है। इस नयविवक्षा से सर्वगतपने का कथन किया। मुख्यवृत्ति से विचार किया जावे तो सर्वगतपना आकाश मे ही है। अथवा ज्ञान की अपेक्षा जीव मे भी है। जीव का केवलज्ञान लोकालोकव्यापक है, इसलिए उसे सर्वगत कहा। ये सब द्रव्य यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा एकक्षेत्रावगाही रहते हैं तो भी निश्चय नय की अपेक्षा अपने-अपने स्वभाव को नही छोडते। **श्री पचास्तिकाय** मे कहा भी है— "यद्यपि ये छहो द्रव्य परस्पर प्रवेश करते हुए देखे जाते है तो भी कोई किसी मे प्रवेश नही करता, यद्यपि अन्य को अन्य अवकाश देता है तो भी अपना-अपना अवकाश आपमे ही है, पर मे नही है। यद्यपि ये द्रव्य हमेशा से मिल रहे हैं तो भी अपने स्वभाव को नही छोडते। **तात्पर्य** यह है कि व्यवहार सम्यक्त्व के कारण छह द्रव्यो मे वीतराग चिदानन्द अनन्तगुणरूप जो शुद्धात्मा है, वह शुभ-अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार से रहित हुआ ध्यान करने योग्य है ॥२८॥

इस प्रकार उन्नीस दोहो प्रमाण स्थल मे निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के प्रतिपादन की मुख्यता से तीन दोहे कहे। फिर चौदह दोहो तक व्यवहार सम्यक्त्व का कथन किया जिसमे छह द्रव्यो का श्रद्धान मुख्य है।

अथ सशयविपर्ययानध्यवसायरहित सम्यग्ज्ञान प्रकटयति—

अब सशय, विपर्यय, अनध्यवसायरहित सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहते है —

जं जह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जो जि।
अप्पहं केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सो जि ॥२६॥

यद् यथा स्थित द्रव्य जीव तत् तथा जानाति य एव।
आत्मन सबन्धी भाव ज्ञान मन्यस्व स एव ॥२६॥

ज इत्यादि। **जं** यत् **जह** यथा **थक्कउ** स्थित **दव्वु** द्रव्य **जिय** हे जीव **तं** तत् **तह** तथा **जाणइ** जानाति **जो जि** य एव। य एव क। **अप्पहं केरउ भावडउ** आत्मन सबन्धी भाव परिणाम **णाणु मुणिज्जहि** ज्ञान मन्यस्व जानीहि **सो जि** स एव पूर्वोक्त आत्मपरिणाम इति। तथा च यद् द्रव्य यथा स्थित सत्तालक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण वा गुणपर्यायलक्षण वा सप्तभङ्ग्यात्मक वा तत् तथा जानाति य आत्मसबन्धी स्वपरपरिच्छेदको भाव परिणामस्तत् सम्यग्ज्ञान भवति। अयमत्र भावार्थ। व्यवहारेण सविकल्पावस्थाया तत्त्वविचारकाले स्वपरपरिच्छेदक ज्ञान भण्यते। निश्चयनयेन पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले बहिरुपयोगो यद्यप्यनीहितवृत्त्या निरस्तस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद्गौणत्वमितिकृत्वा स्वसवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते ॥२६॥

जिय ! जं जह थक्कउ तं तह जो जि जाणइ सो जि अप्पहं केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि ॥२९॥ हे जीव ! जो ये द्रव्य जिस तरह (अनादिकाल से) विद्यमान है, जैसा इनका स्वरूप है, उनको वैसा ही संशयादि रहित जो जानता है, वही आत्मा का निजस्वरूप सम्यग्ज्ञान है, ऐसा मानो। जो द्रव्य है, वह सत्ता लक्षण वाला है, उत्पादव्यय ध्रौव्य रूप है, सभी द्रव्य गुणपर्याय को धारण करते है, गुणपर्याय के विना कोई नही है। सभी द्रव्य सप्तभङ्गी स्वरूप हैं, ऐसा द्रव्यो का स्वरूप जो निःसन्देह जाने, आप और पर को पहचाने, ऐसा जो आत्मा का भाव—वह सम्यग्ज्ञान है। **भावार्थ** यह है कि व्यवहार नय से सविकल्प अवस्था में तत्त्व के विचार के समय स्व और पर का जानपना ज्ञान कहा है और निश्चय नय से वीतराग निर्विकल्प समाधि समय पदार्थो का ज्ञान-पना मुख्य नही लिया, केवल स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। व्यवहारसम्यग्ज्ञान तो परम्परा से मोक्ष का कारण है और निश्चय सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण है ॥२९॥

अथ स्वपरद्रव्यं ज्ञात्वा रागादिरूपपरद्रव्यविषयसंकल्पविकल्पत्यागेन स्वस्वरूपे अवस्थानं ज्ञानिनां चारित्रमिति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि स्व-पर द्रव्य को जान कर रागादिरूप जो परद्रव्य में संकल्प-विकल्प है, उनके त्याग मे जो निजस्वरूप में निश्चलता होती है, वही ज्ञानी जीवो के सम्यक्चारित्र है—

जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ ॥३०॥

ज्ञात्वा मत्वा आत्मान परं यः परभावं त्यजति ।
स निजः शुद्धः भावः ज्ञानिनां चरणं भवति ॥३०॥

जाणवि इत्यादि । **जाणवि** सम्यग्ज्ञानेन ज्ञात्वा न केवलं ज्ञात्वा **मण्णवि** तत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणपरिणामेन मत्वा श्रद्धाय । कम् । **अप्पु परु** आत्मान च परं च **जो** यः कर्ता **परभाउ** परभावं **चएइ** त्यजति **सो** स पूर्वोक्तः **णिउ** निजः **सुद्धउ भावडउ** शुद्धो भावो **णाणिहिं चरणु हवेइ** ज्ञानिनां पुरुषाणां चरणं भवतीति । तद्यथा । वीतरागसहजानन्दैकस्वभावं स्वद्रव्यं तद्विपरीतं परद्रव्यं च संशयविपर्ययानध्यवसायरहितेन ज्ञानेन पूर्व ज्ञात्वा शङ्कादिदोषरहितेन सम्यक्त्वपरिणामेन श्रद्धाय च यः कर्ता मायामिथ्यानिदानशल्यप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालत्यागेन निजशुद्धात्मस्वरूपे परमानन्दसुखरसास्वादतृप्तो भूत्वा तिष्ठति स पुरुष एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीति भावार्थः ॥३०॥ एवं मोक्ष-मोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं षड्द्रव्यश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राणि चतुर्दश, सम्यग्-ज्ञानचारित्रमुख्यत्वेन सूत्रद्वयमिति समुदायेनैकोनविंशतिसूत्रस्थलं समाप्तम् ।

अप्पु परु जाणवि मण्णवि जो परभाउ चएइ सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ ॥३०॥ सम्यग्ज्ञान से अपने आपको और पर को जान कर तथा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण परिणाम

से स्व-पर की प्रतीति करके जो परभाव का त्याग करता है, वह निजशुद्ध भाव ज्ञानी पुरुषो के चारित्र होता है। **भावार्थ**–वीतराग सहजानन्द अद्वितीय स्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे विपरीत पुद्गलादि पर-द्रव्यो को सम्यग्ज्ञान से पहले तो जाने, वह सम्यग्ज्ञान सशय, विमोह और विभ्रम इन तीनो से रहित है। शकादि दोषो से रहित जो सम्यग्दर्शन है, उससे स्व और पर की श्रद्धा करे, जान कर अच्छी तरह प्रतीति करे और माया मिथ्या निदान इन तीन शल्यो सहित समस्त चिन्ता-समूह के त्याग से निजशुद्धात्मस्वरूप मे तिष्ठे है, वह परम आनन्द अतीन्द्रिय सुखरस के आस्वाद से तृप्त हुआ पुरुष ही अभेदनय से निश्चय चारित्र है ॥३०॥

इसप्रकार मोक्ष, मोक्ष का फल, मोक्षमार्ग आदि के प्रतिपादक दूसरे महाधिकार मे निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग की मुख्यता से तीन दोहो मे व्याख्यान किया चौदह दोहो मे छह द्रव्यो की श्रद्धारूप व्यवहार सम्यक्त्व का व्याख्यान किया तथा दो दोहो मे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया। इसप्रकार उन्नीस दोहो प्रमाण स्थल पूर्ण हुआ।

अथानन्तरमभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टक कथ्यते, तत्रादौ तावत् रत्नत्रयभक्तभव्यजीवस्य लक्षण प्रतिपादयति—

अब अभेदरत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से आठ दोहासूत्र कहते है। उनमे पहले रत्नत्रय के भक्त भव्य जीव का लक्षण कहते है—

जो भत्तउ रयण-त्तयहँ तसु मुणि लक्खणु एउ।
अप्पा मिल्लिवि गुण-णिलउ तासु वि अण्णु ण झेउ ॥३१॥

य भक्त रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षण एतत्।
आत्मान मुक्त्वा गुणनिलय तस्यापि अन्यत् न ध्येयम् ॥३१॥

जो इत्यादि। **जो** य **भत्तउ** भक्त। कस्य। **रयणत्तयहँ** रत्नत्रयसंयुक्तस्य **तसु** तस्य जीवस्य **मुणि** मन्यस्व जानीहि **हे प्रभाकरभट्ट**। कि जानीहि। **लक्खणु** लक्षण **एउ** इदमग्रे वक्ष्यमाणम्। इद किम्। **अप्पा मिल्लिवि** आत्मान मुक्त्वा। किं विशिष्टम्। **गुणणिलउ** गुणनिलय गुणगृह **तासु वि** तस्यैव जीवस्य **अण्णु ण झेउ** निश्चयेनान्यत् वहिर्द्रव्य ध्येय न भवतीति। तथाहि। व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्व-प्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धानज्ञानाहिंसादिव्रतशील-परिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य निश्चयेन वीतरागसदानन्दैकरूपसुखसुधारसास्वाद-परिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेदरत्नत्रयस्य च योऽसौ भक्त-स्तस्येद लक्षण जानीहि। इद किम्। यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थाया चित्तस्थिति-करणार्थ देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषकारण परपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूत पञ्च-परमेष्ठिरूपस्तववस्तुस्तवगुणस्तवादिक वचनेन स्तुत्य भवति मनसा च तदक्षररूपादिक

प्राथमिकानां ध्येयं भवति, तथापि पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनन्त-गुणपरिणतः स्वशुद्धात्मैव ध्येय इति । अत्रेदं तात्पर्यम् । योऽसावनन्तज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा ध्येयो भणितः स एव निश्चयेनोपादेय इति ॥३१॥

जो रयणत्तयहँ भत्तउ तसु एउ लक्खणु मुणि । गुणणिलउ अप्पा मिल्लिवि तासु वि अण्णु ण झेउ ॥३१॥ जो जीव रत्नत्रय का भक्त है, उसका यह लक्षण जानना । हे प्रभाकरभट्ट ! रत्नत्रय-धारक का यह लक्षण है—गुणो के समूह आत्मा को छोडकर आत्मा से अन्य बाह्य द्रव्य को न ध्यावे । निश्चयनय से एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, अन्य नही । व्यवहारनय से वीतरागसर्वज्ञ–कथित शुद्धात्मतत्त्व आदि छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय सात तत्त्व, नौ पदार्थ का श्रद्धान जानने योग्य है और हिंसादि पाप त्याग करने योग्य है, व्रतशीलादि पालने योग्य है, ये लक्षण व्यवहार रत्नत्रय के हैं या भेद रत्नत्रय के हैं; वीतराग सदा आनन्दरूप जो निजशुद्धात्मा आत्मीक सुखरूप सुधारस के आस्वाद से परिणत हुआ, उसका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप अभेदरत्नत्रय है, उसका जो भक्त-आराधक है, उसके ये लक्षण जानो । यद्यपि व्यवहार नय से सविकल्प अवस्था मे चित्त को स्थिर करने के लिए पचपरमेष्ठी का स्तवन करता है, जो देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूति का कारण है और परम्परा से शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का कारण है, अतः प्रथम अवस्था में भव्य जीवो को पच-परमेष्ठी का ध्यान करना योग्य है, उनके आत्मा का स्तवन, गुणों की स्तुति, वचन से अनेक तरह की स्तुति करनी और मनसे उनके नाम के अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यान करने योग्य है तो भी पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के समय केवलज्ञानादि अनन्तगुण रूप परिणत जो निजशुद्धात्मा है, वही आराधने योग्य है, अन्य नही । प्रथम अवस्था मे पंचपरमेष्ठी का ध्यान करना योग्य है और निर्विकल्पदशा में निजस्वरूप ही ध्यान करने योग्य है, वही उपादेय है ॥३१॥

अथ ये ज्ञानिनो निर्मलरत्नत्रयमेवात्मानं मन्यन्ते शिवशब्दवाच्यं ते मोक्षपदा-राधकाः सन्तो निजात्मानं ध्यायन्तीति निरूपयति—

अब कहते हैं कि जो ज्ञानी निर्मल रत्नत्रय को ही आत्मस्वरूप मानते है, वे शिवशब्द से वाच्य मोक्षपद के आराधक हुए निज आत्मा का ध्यान करते है—

जे रयण-त्तउ णिम्मलउ णाणिय अप्पु भणंति ।
ते आराहय सिव-पयहँ णिय-अप्पा झायंति ॥३२॥

ये रत्नत्रय निर्मलं ज्ञानिनः आत्मानं भणन्ति ।
ते आराधका. शिवपदस्य निजात्मानं ध्यायन्ति ॥३२॥

जे इत्यादि । ये केचन **रयणत्तउ** रत्नत्रयम् । कथंभूतम् । **णिम्मलउ** निर्मलं रागादिदोषरहितम् । कथंभूता ये । **णाणिय** ज्ञानिनः । किं कुर्वन्ति । **अप्पु** पूर्वोक्त-रत्नत्रयस्वरूपमेवात्मानं, आत्मस्वरूपं कर्मतापन्नं **भणंति** मन्यन्ते **ते आराहय** ते पूर्वोक्ताः पुरुषाः आराधका. भवन्ति । कस्य । **सिवपयहं** शिवपदस्य शिवशब्दवाच्यमोक्षस्य ।

मोक्षपदाराधका सन्त कि कुर्वन्ति । **णियअप्पा झायंति** निजात्मानं कर्मतापन्नं ध्यायन्ति इति । तथा च ये केचन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः परमात्मानं सम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानलक्षणं निश्चयरत्नत्रयमेवाभेदनयेन निजशुद्धात्मानं मन्यन्ते ते शिवशब्दवाच्य-मोक्षपदाराधका भवन्ति । आराधकाः सन्तः कि ध्यायन्ति । विशुद्धज्ञानदर्शनं स्व-शुद्धात्मस्वरूपं निश्चयनयेन ध्यायन्ति भावयन्तीत्यभिप्रायः ॥३२॥

जे णाणिय णिम्मलउ रयणत्तउ अप्पु भणंति, ते सिव पयहँ आराहय णिय अप्पा झायति ॥३२॥ जो ज्ञानी रागादि दोष रहित निर्मल रत्नत्रय को आत्मा कहते हे, वे शिवपद के आराधक है, वे अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं। **भावार्थ**–जो कोई वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण वाले निश्त्रय रत्नत्रय को यानी अभेदनय से अपनी शुद्धात्मा को परमात्मा मानते है, वे शिवशब्द से वाच्य मोक्षपद के आराधक होते हैं। आराधक होकर वे निश्चय नय से विशुद्धज्ञानदर्शनरूप स्वशुद्धात्मा का ही ध्यान करते है, उसी की भावना करते हैं, यह अभिप्राय है ॥३२॥

अथात्मानं गुणस्वरूपं रागादिदोषरहितं ये ध्यायन्ति ते शीघ्रं नियमेन मोक्षं लभन्त इति प्रकटयति—

अब कहते है कि जो अनन्त गुणरूप रागादिदोपरहित निज आत्मा का ध्यान करते है, वे निश्चय से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करते है—

अप्पा गुणमउ णिम्मलउ अणुदिणु जे झायंति ।
ते पर णियमेँ परम-मुणि लहु णिव्वाणु लहंति ॥३३॥

आत्मानं गुणमयं निर्मलं अनुदिनं ये ध्यायन्ति ।
ते परं नियमेन परममुनयः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥३३॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पा** आत्मानं कर्मतापन्नम् । कथंभूतम् **गुणमउ** गुणमयं केवल-ज्ञानाद्यनन्तगुणनिर्वृत्तम् । पुनरपि कथंभूतम् । **णिम्मलउ** निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनो-कर्ममलरहितं **अणुदिणु** दिनं दिनं प्रति अनुदिनमनवरतमित्यर्थः । इत्थंभूतमात्मानं **जे झायति** ये केचन ध्यायन्ति **ते पर** ते एव नान्ये **णियमें** निश्चयेन । किंविशिष्टास्ते । **परममुणि** परममुनयः **लहु** लघु शीघ्रं **लहंति** लभन्ते । कि लभन्ते । **णिव्वाणु** निर्वाण-मिति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । अत्रोक्तं भवद्भिर्ये एव शुद्धात्मध्यानं कुर्वन्ति त एव मोक्षं लभन्ते न चान्ये । **चारित्रसारादौ** पुनर्भणितं द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यात्वा केवलज्ञानमुत्पादयन्तीत्यत्र विषये अस्माकं संदेहोऽस्ति । अत्र **श्रीयोगीन्दुदेवाः** परिहार-माहुः । तत्र द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं न च पुद्गलद्रव्यपरमाणुः । तथा चोक्तं **सर्वार्थसिद्धिटिप्पणिके** । द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्य-

सूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वमिति । तद्यथा । द्रव्यमात्मद्रव्यं तस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सा च रागादिविकल्पोपाधिरहिता तस्य सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत्, निर्विकल्प–समाधिविषयत्वेनेन्द्रियमनोविकल्पातीतत्वात् । भावशब्देन स्वसंवेदनपरिणामः तस्य भावस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सूक्ष्मा कथमिति चेत् । वीतरागनिर्विकल्पसमरसीभावविषयेन पञ्चेन्द्रियमनोविषयातीतत्वादिति । पुनरप्याह । इदं परद्रव्यावलम्बनं ध्यानं निषिद्धं किल भवद्भिः निजशुद्धात्मध्यानेनैव मोक्षः कुत्रापि भणितमास्ते । परिहारमाह—'अप्पा झायहि णिम्मलउ' इत्यत्रैव ग्रन्थे निरन्तरं भणितमास्ते, ग्रन्थान्तरे च **समाधिशतकादौ** पुनश्चोक्तं तैरेव **पूज्यपाद–स्वामिभि**.—"आत्मानमात्मा आत्मन्येवात्मनासौ क्षणमुपजनयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः" *अस्यार्थः* । आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मा कर्ता आत्मन्येवाधिकरणभूते असौ पूर्वोक्तात्मा आत्मना करणभूतेन क्षणमन्तर्मुहूर्तमात्रं उपजनयन् निर्विकल्पसमाधिनाराधयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः सर्वज्ञो जात इत्यर्थः । ये च तत्र द्रव्यभावपरमाणुध्येयलक्षणे शुक्लध्याने द्व्यधिकचत्वारिंशद्विकल्पा भणितास्तिष्ठन्ति ते पुनरनीहितवृत्त्या ग्राह्याः । केन दृष्टान्तेनेति चेत् । यथा प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणकाले परमागमप्रसिद्धानधाप्रवृत्तिकरणादिविकल्पान् जीवः करोति न चात्रेहादिपूर्वकत्वेन स्मरणमस्ति तथात्र शुक्लध्याने चेति । इदमत्र तात्पर्यम् । प्राथमिकानां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकषायदुर्ध्याननिवञ्चनार्थं च परंपरया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्यं ध्येयम्, पश्चात् चित्ते स्थिरीभूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्मतत्त्वमेव ध्येयं नास्त्येकान्तः, एवं साध्यसाधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्तव्यः इति ॥३३॥

जे गुणमउ णिम्मलउ अप्पा अणुदिणु झायंति, ते परं परममुणि णियमें णिव्वाणु लहु लहंति ॥३३॥ जो कोई केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप तथा भाव-द्रव्य-नो कर्ममल रहित आत्मा का अनुदिन अनवरत ध्यान करते हैं वे ही परममुनि नियम से शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करते हैं । यहाँ प्रभाकरभट्ट **प्रश्न** करते हैं कि हे गुरो ! आपने यह कहा कि जो शुद्धात्मा का ध्यान करते है, वे ही मोक्ष पाते है, दूसरे नही, जवकि **चारित्रसारादि** ग्रन्थों में ऐसा कहा है कि जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु का ध्यान करें वे केवलज्ञान उत्पन्न करते हैं । इस विषय मे मुझे सन्देह है । आचार्यश्री **उत्तर** देते हैं— यहाँ द्रव्यपरमाणु से द्रव्य की सूक्ष्मता और भावपरमाणु से भाव की सूक्ष्मता ग्रहण करनी चाहिए न कि पुद्गल द्रव्यपरमाणु । **तत्त्वार्थसूत्र** की **सर्वार्थसिद्धि** टीका में कहा है— द्रव्य परमाणु शब्द से द्रव्य की सूक्ष्मता और भावपरमाणु शब्द से भाव की सूक्ष्मता जानना । द्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य, परमाणु शब्द से उसकी सूक्ष्मावस्था ग्रहण करनी चाहिए । वह (सूक्ष्मावस्था) रागादि विकल्प की उपाधि से रहित है उसको सूक्ष्मपना कैसे हो सकता है ? ऐसा प्रश्न करने पर श्रीयोगीन्दुदेव उत्तर देते हैं कि निर्विकल्पसमाधि का विषय होने और मन और इन्द्रियो के विकल्पो मे परे होने के कारण । भावशब्द यहाँ स्वसवेदन परिणाम का सूचक है, परमाणुशब्द से

इस भाव की सूक्ष्मावस्था लेनी चाहिए । वीतराग निर्विकल्प परमसमरसीभाव रूप होने और मन और इन्द्रियों को अगम्य होने से सूक्ष्म है । ऐसा सुनकर पुनः शिष्य ने पूछा—आपने पर द्रव्य के आलम्बनरूप ध्यान का निषेध किया और निजशुद्धात्मा के ध्यान से ही मोक्ष बताया । ऐसा कथन कहीं और भी कहा है क्या ? इसका समाधान यह है—'अप्पा झायहि णिम्मलउ' अपनी निर्मल आत्मा का ध्यान करो, ऐसा कथन इसी ग्रन्थ में पहले कहा है और **समाधिशतकादि में श्रीपूज्यपाद स्वामी** ने कहा है—"जीव पदार्थ अपने स्वरूप को, अपने में ही अपने करके एक क्षणमात्र भी निर्विकल्पसमाधि से आराधना हुआ सर्वज्ञ वीतराग हो जाता है ।" जिस शुक्लध्यान में द्रव्यपरमाणु की सूक्ष्मता और भावपरमाणु भी सूक्ष्मता ध्यान करने योग्य है, ऐसे शुक्लध्यान में निजवस्तु और निजभाव का ही सहारा है, परवस्तु का नहीं । सिद्धान्त में शुक्लध्यान के बयालीस भेद कहे हैं, वे अर्वाछीक वृत्ति से गौणरूप जानना, मुख्यवृत्ति से न जानना । इसका दृष्टान्त जैसे—प्रथमोपशम सम्यक्त्व के ग्रहणकाल में परमागम में प्रसिद्ध जो अधःप्रवृत्तिकरणादि विकल्प हैं, उनको जीव करता है, वे इच्छापूर्वक नहीं होते, सहज ही होते हैं, वैसे ही शुक्लध्यान में भी इसी प्रकार जानना । तात्पर्य यह है कि प्राथमिकों को चित्त को स्थिर करने के लिए और विषय कषाय रूप खोटे ध्यान को रोकने के लिए परम्परा से मुक्ति के कारणरूप अर्हन्तादि परद्रव्य ध्यान करने योग्य हैं, फिर चित्त के स्थिर हो जाने पर साक्षात् मुक्ति का कारण जो शुद्ध निजात्मतत्त्व है, वही ध्यान करने योग्य है—यहाँ एकान्त नहीं है, इस प्रकार साध्य-साधक भाव जानकर ध्येय विषय में विवाद नहीं करना चाहिए । पंच-परमेष्ठी का ध्यान साधक है और आत्मध्यान साध्य है ॥३३॥

अथ सामान्यग्राहकं निर्विकल्पं सत्तावलोकदर्शनं कथयति—

अब सामान्यग्राहक निर्विकल्प सत्तावलोकनरूप दर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं—

सयल-पयत्थहँ जं गहणु जीवहँ अग्गिमु होइ ।
वत्थु-विसेस-विवज्जियउ तं णिय-दंसणु जोइ ॥३४॥

सकलपदार्थानां यद् ग्रहणं जीवानां अग्रिमं भवति ।
वस्तुविशेषविवर्जितं तत् निजदर्शनं पश्य ॥३४॥

सयल इत्यादि । **सयलपयत्थहं** सकलपदार्थानां **जं गहणु** यद् ग्रहणमवलोकनम् । कस्य । **जीवहं** जीवस्य अथवा बहुवचनपक्षे 'जीवहं' जीवानाम् । कथंभूतमवलोकनम् । **अग्गिमु** अग्रिमं सविकल्पज्ञानात्पूर्वं **होइ** भवति । पुनरपि कथंभूतम् । **वत्थुविसेसविवज्जियउ** वस्तुविशेषविवर्जितं शुक्लमिदमित्यादिविकल्परहितं **तं** तत्पूर्वोक्तलक्षणं **णियदंसणु** निज आत्मा तस्य दर्शनमवलोकनं **जोइ** पश्य जानीहीति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । निजात्मा तस्य दर्शनमवलोकनं दर्शनमिति व्याख्यातं भवद्भिरिदं तु सत्तावलोकदर्शनं मिथ्यादृष्टीनामप्यस्ति तेषामपि मोक्षो भवतु । परिहारमाह । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन चतुर्धा दर्शनम् । अत्र चतुष्टयमध्ये मानसमचक्षुर्दर्शनमात्मग्राहकं भवति, तच्च मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयजनिततत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्य-

क्त्वाभावात् शुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति श्रद्धानाभावे सति तेषां मिथ्यादृष्टीनां न भवत्येवेति भावार्थः ॥३४॥

जं जीवहँ अग्गिमु सयल-पयत्थहँ वत्थु-विसेस-विवज्जियउ गहणु तं णियदंसणु जोइ ॥३४॥ जो जीवों के सविकल्प ज्ञान के पहले सब पदार्थों का—यह सफेद है इत्यादि विकल्परहित सामान्यरूप देखना है, वह दर्शन जानो। यहाँ प्रभाकरभट्ट प्रश्न करते हैं—आपने निजात्मा को देखना वह दर्शन है, ऐसा बहुत बार कहा है, अब सामान्य अवलोकनरूप दर्शन कहते हैं। ऐसा दर्शन तो मिथ्यादृष्टियों के भी होता है, उनको भी फिर मोक्ष होना चाहिए? इसका उत्तर देते है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये दर्शन के चार भेद हैं। मन से देखना अचक्षुदर्शन है, आँखों से देखना चक्षुदर्शन है। इन चारों में से आत्मा का अवलोकन छद्मस्थावस्था मे मन से होता है और वह आत्मदर्शन मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से होता है। सम्यग्दृष्टि के तो यह दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप होने से मोक्ष का कारण है, जिसमे शुद्ध आत्म तत्त्व ही उपादेय है, मिथ्यादृष्टियों के तत्त्वश्रद्धान नही होने से आत्मा का दर्शन नही होता। मिथ्यादृष्टियो के स्थूलरूप पर द्रव्य का देखना, जानना मन और इन्द्रियो के द्वारा होता है, वह सम्यग्दर्शन नही है, इसलिए मोक्ष का कारण भी नही है। भावार्थ यह है कि तत्त्वार्थश्रद्धान के अभाव से सम्यक्त्व का अभाव है और सम्यक्त्व के अभाव से मोक्ष का अभाव है। ३४॥

अथ छद्मस्थानां सत्तावलोकदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि छद्मस्थो के (सत्तावलोकन) दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है—

दंसणपुव्वु हवेइ फुडु जं जीवहँ विण्णाणु।
वत्थु-विसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ॥३५॥

दर्शनपूर्वं भवति स्फुटं यत् जीवानां विज्ञानम्।
वस्तुविशेषं जानन् जीव तत् मन्यस्व अविचलं ज्ञानम् ॥३५॥

दंसण पुव्वु इत्यादि। **दंसणपुव्वु** सामान्यग्राहकनिर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनपूर्वकं **हवेइ** भवति **फुडु** स्फुटं **जं** यत् **जीवहं** जीवानाम्। कि भवति। **विण्णाणु** विज्ञानम्। किं कुर्वन् सन्। **वत्थुविसेसु मुणंतु** वस्तुविशेषं वर्णसंस्थानादिविकल्पपूर्वकं जानन्। **जिय** हे जीव। **तं** तत् **मुणि** मन्यस्व जानीहि। किं जानीहि **अविचलु णाणु** अविचलं संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं ज्ञानमिति। तत्रेदं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं व्याख्यातम्। यद्यपि शुद्धात्मभावनाव्याख्यानकाले प्रस्तुतं न भवति तथापि भणितं भगवता। कस्मादिति चेत्। चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन दर्शनोपयोगश्चतुर्विधो भवति। तत्र चतुष्टयमध्ये द्वितीयं यदचक्षुर्दर्शनं मानसरूपं निर्विकल्पं यथा भव्यजीवस्य दर्शनमोहचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमक्षयलाभे सति शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूप वीतरागसम्यक्त्वं भवति तथैव च शुद्धात्मानुभूतिस्थिरतालक्षणं वीतरागचारित्रं भवति तदा काले तत्पूर्वोक्तं सत्तावलोकलक्षणं

मानसं निर्विकल्पदर्शनं कर्तृ पूर्वोक्तनिश्चयसम्यक्त्वचारित्रबलेन निर्विकल्पनिजशुद्धात्मानुभूतिध्यानेन सहकारिकारणं भवति पूर्वोक्तभव्यजीवस्य न चाभव्यस्य। कस्मात्। निश्चयसम्यक्त्वचारित्राभावादिति भावार्थः ॥३५॥

जं जीवहँ विण्णाणु फुडु दंसणपुव्वु हवेइ। तं णाणु वत्थु विसेसु मुणंतु जिय अविचलु मुणि ॥३५॥ जो जीवों के ज्ञान होता है वह निश्चय से दर्शनपूर्वक होता है। वह ज्ञान वस्तु को विशेष रूप से विस्तीर्णता से जानने वाला है, उस ज्ञान को हे जीव! तू संशय विमोह विभ्रम से रहित जान। जो सामान्य को ग्रहण करता है, वह दर्शन है तथा जो वस्तु का विशेष वर्णन—वर्ण-आकारादि जानता है, वह ज्ञान है। छद्मस्थो के ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। यद्यपि यह व्यवहार सम्यग्ज्ञान शुद्धात्मा की भावना के व्याख्यान के समय प्रशंसनीय नही है तथापि प्रारम्भ में प्रशंसनीय है, ऐसा भगवान ने कहा है। क्योंकि चक्षु अचक्षु अवधि केवल के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है। इन चार भेदों में दूसरा भेद अचक्षुदर्शन मनसम्बन्धी निर्विकल्प भव्यजीवों के दर्शन-मोह चारित्रमोह के उपशम तथा क्षय के होने पर शुद्धात्मानुभूति रुचिरूप वीतरागसम्यक्त्व होता है और शुद्धात्मानुभूति में स्थिरता रूप वीतरागचारित्र होता है, उस समय पूर्वोक्त सत्ता के अवलोकन-रूप मनसम्बन्धी निर्विकल्पदर्शन निश्चयचारित्र के बल से विकल्परहित निजशुद्धात्मानुभूति के ध्यान से सहकारी कारण होता है अतः व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञान भव्य जीव के ही होता है, अभव्य के सर्वथा नही क्योकि अभव्यजीव मुक्ति का पात्र नही है। जो मुक्ति का पात्र है, उसे ही व्यवहाररत्नत्रय की प्राप्ति होती है। व्यवहाररत्नत्रय परम्परा से मोक्ष का कारण है और निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मुक्ति का कारण है, यह अभिप्राय हुआ ॥३५॥

अथ परमध्यानारूढो ज्ञानी समभावेन दुःखं सहमानः स एवाभेदेन निर्जराहेतुर्भण्यते इति दर्शयति—

अब यह दर्शाते है कि परमध्यान में आरूढ ज्ञानी समभाव से दु.ख-सुख को सहता हुआ अभेद-नय से निर्जरा का कारण होता है—

दुक्खु वि सुक्खु सहंतु जिय णाणिउ झाण-णिलीणु।
कम्महँ णिज्जर-हेउ तउ बुच्चइ संग-विहीणु ॥३६॥

दुःखमपि सुखं सहमानः जीव ज्ञानी ध्याननिलीनः।
कर्मण. निर्जराहेतुः तपः उच्यते संगविहीनः ॥३६॥

दुक्खु वि इत्यादि। **दुक्खु वि सुक्खु सहंतु** दुःखमपि सुखमपि समभावेन सहमानः सन् **जिय** हे जीव। कोऽसौ कर्ता। **णाणिउ** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी। किंविशिष्ट.। **झाण-णिलीणु** वीतरागचिदानन्दैकाग्र्यध्याननिलीनो रतः स एवाभेदेन **कम्महं णिज्जरहेउ** शुभाशुभकर्मणो निर्जराहेतुरुच्यते न केवलं ध्यानपरिणतपुरुषो निर्जराहेतुरुच्यते **तउ** परद्रव्येच्छानिरोधरूपबाह्याभ्यन्तरलक्षणं द्वादशविधं तपश्च। किंवि-

शिष्टः स तपोधनस्तत्तपश्च । **संगविहीणु** संगविहीनो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहित इति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । ध्यानेन निर्जरा भणिता भवद्भिः उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति ध्यानलक्षणं, उत्तमसंहननाभावे कथं ध्यानमिति । भगवानाह । उत्तमसंहननेन यद्ध्यानं भणितं तदपूर्वगुणस्थानादिपूपशमक्षपकश्रेण्योर्यत् शुक्लध्यानं तदपेक्षया भणितम् । अपूर्वगुणस्थानादधस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्यानस्य निषेधकं न भवति । तथाचोक्तं **तत्त्वानुशासने** ध्यानग्रन्थे–"यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः । श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम् ॥" । किं च ।

रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति इदानीं तदभावेऽन्यच्चारित्रमाचरन्तु तपोधनाः । तथा चोक्तं तत्रेदम्–"चरितारो न सन्त्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति । तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥" पुनश्चोक्तं **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते**–"अज्ज वि तियरणसुद्धा अप्पा झाऊण लहहिं इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥" । अयमत्र भावार्थः । यथादित्रिकसंहननलक्षणवीतरागयथाख्यातचारित्राभावेऽपीदानीं शेषसंहननेनापि शेषचारित्रमाचरन्ति तपस्विनः तथादित्रिकसंहननलक्षणशुक्लध्यानाभावेऽपि शेषसंहननेनापि संसारस्थितिच्छेदकारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरन्तीति ॥३६॥

जिय ! णाणिउ झाण णिलीणु दुक्खु वि सुक्खु सहंतु कम्महँ णिज्जर हेउ वुच्चइ संगविहीणु तउ ॥३६॥ हे जीव ! वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी आत्मध्यान में लीन, दुःख और सुख को समभाव से सहता हुआ अभेदनय से शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा का कारण है, ऐसा भगवान ने कहा है और बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहित परद्रव्य की इच्छा के निरोधरूप बाह्य-अभ्यन्तर अनशनादि बारह प्रकार के तपरूप भी वह ज्ञानी है । यहाँ प्रभाकरभट्ट प्रश्न करते हैं—आपने ध्यान से निर्जरा कही, ध्यान का लक्षण है– उत्तम संहनन वाले का चित्त का एकाग्रनिरोध ध्यान है । जहाँ उत्तम संहनन ही नहीं है, वहाँ ध्यान किस प्रकार से हो सकता है ? गुरुदेव उत्तर देते हैं—उत्तम संहनन वाले के जो ध्यान कहा है, वह आठवें गुणस्थान से लेकर उपशम क्षपक श्रेणी वालों के जो शुक्लध्यान होता है, उसकी अपेक्षा कहा गया है । उपशम श्रेणी वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच इन तीन संहननवालों के होती है, उनके शुक्लध्यान का पहला पाया है । वे ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे आते हैं । क्षपकश्रेणी एक वज्रवृषभनाराच संहननवाले के ही होती है । वे आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करते हैं । उनके आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का पहला भेद होता है । वे आठवें, नवें, दसवें तथा दसवें से बारहवें गुणस्थान का स्पर्श करते हैं, ग्यारहवें का नहीं । बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का दूसरा भेद होता है, उसके प्रसाद से केवलज्ञान पाता है और उसी भव में मोक्ष जाता है । इसलिए उत्तम संहनन का कथन शुक्लध्यान की अपेक्षा से है । आठवें गुणस्थान से नीचे के (चौथे से लेकर सातवें) गुणस्थानों तक शुक्लध्यान नहीं होता, धर्मध्यान छहों संहननवालों के है, श्रेणी के नीचे धर्मध्यान ही है, उसका निषेध किसी संहनन में नहीं है । तत्त्वा-

नुशासन नामक ध्यानग्रन्थ में कहा है– "जो वज्रकाय के ही ध्यान होता है, आगम का ऐसा वचन, दोनों श्रेणियों में शुक्लध्यान होने की अपेक्षा है, श्रेणी के नीचे जो धर्मध्यान है, उसका निषेध किसी संहनन में नहीं कहा है, यह निश्चय से जानना।"

रागद्वेष के अभाव लक्षणवाला परम यथाख्यात स्वरूप स्वरूपाचरण ही निश्चय चारित्र है। वह इस समय (पंचमकाल में भरतक्षेत्र में) नहीं है, अतः साधुओं को अन्य चारित्र का आचरण करना चाहिए। विशेष–चारित्र के पाँच भेद हैं, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इस समय भरतक्षेत्र में सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो ही चारित्र होते हैं, अन्य नहीं, इसलिए मुनियों को इनका आचरण करना चाहिए। तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में कहा है कि इस समय यथाख्यात चारित्र का आचरण करने वाले मौजूद नहीं है तो क्या हुआ, अपनी शक्ति के अनुसार तपस्वीजन अन्य चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापना) का आचरण करें। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी मोक्षपाहुड में ऐसा ही कहा है–"अब भी इस पंचमकाल में मन-वचन-काय की शुद्धता से आत्मा का ध्यान करके यह जीव इन्द्रपद पाना है अथवा लौकान्तिक देव होता है और वहाँ से च्युत होकर मनुष्य भव धारण करके मोक्ष जाता है ॥७७॥" भावार्थ–यह है कि इस समय पहले के तीन संहनन तो नहीं हैं परन्तु अर्धनाराच, कीलक और सृपाटिका, ये तीन संहनन हैं। इन तीनों से सामायिक, छेदोपस्थापना का आचरण करो तथा धर्मध्यान करो। धर्मध्यान का अभाव किसी संहनन में नहीं है। शुक्लध्यान आद्य तीन संहननों में ही होता है, उनमें भी पहला भेद उपशमश्रेणी सम्बन्धी तीनों संहननों में है और दूसरा-तीसरा-चौथा भेद प्रथम संहननवाले के ही होता है, यह नियम है। अतः शुक्लध्यान के अभाव में भी हीनसंहननवाले को धर्मध्यान का आचरण करना चाहिए। यह धर्मध्यान परम्परा से मुक्ति का मार्ग है और संसार की स्थिति का छेदक है ॥३६॥

अथ सुखदुःखं सहमानः सन् येन कारणेन समभावं करोति मुनिस्तेन कारणेन पुण्यपापद्वयसंवरहेतुर्भवतीति दर्शयति—

अब बताते हैं कि जो मुनि सुख-दुःख को सहते हुए समभाव रखते हैं, वे ही पुण्य और पाप दोनों के संवर के कारण होते हैं—

विण्णि वि जेण सहंतु मुणि मणि सम-भाउ करेइ।
पुण्णहँ पावहँ तेण जिय संवर-हेउ हवेइ ॥३७॥

द्वे अपि येन सहमानः मुनिः मनसि समभावं करोति।
पुण्यस्य पापस्य तेन जीव संवरहेतुः भवति ॥३७॥

विण्णि वि इत्यादि। **विण्णि वि** द्वे अपि सुखदुःखे **जेण** येन कारणेन **सहंतु** सहमानः सन्। कोऽसौ कर्ता। **मुणि** मुनिः स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानी। **मणि** अविक्षिप्तमनसि। **समभाउ** समभावं सहजशुद्धज्ञानानन्दैकरूपं रागद्वेषमोहरहितं परिणामं कर्मतापन्नं **करेइ** करोति परिणमति **पुण्णहं पावहं** पुण्यस्य पापस्य संबन्धी **तेण** तेन कारणेन

जिय हे जीव **संवरहेउ** संवरहेतुः कारणं **हवेइ** भवतीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । कर्मोदय-वशात् सुखदुःखे जातेऽपि योऽसौ रागादिरहितमनसि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्म-संवित्ति न त्यजति स पुरुष एवाभेदनयेन द्रव्यभावरूपपुण्यपापसंवरस्य हेतुः कारणं भवतीति ॥३७॥

जेण विण्णि वि सहंतु मुणि मणि समभाउ करेइ, जिय ! तेण पुण्णहँ पावहँ संवर हेउ हवेइ ॥३७॥ जिस कारण सुख-दुःख दोनों को ही सहते हुए स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी मुनि स्थिर मन में समभाव करता है अर्थात् रागद्वेषमोह रहित स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप परिणमन करता है, विभावरूप नही परिणमता, इस कारण हे जीव ! वह मुनि सहज में ही पुण्य और पाप इन दोनों के संवर का कारण होता है । **भावार्थ**—कर्मोदयवश सुख-दुःख के उत्पन्न होने पर भी जो ज्ञानी, मुनि रागादिरहित मन में शुद्धज्ञानदर्शनस्वरूप अपने निजशुद्ध स्वभाव को नही छोड़ता है, वही पुरुष अभेदनय से द्रव्यभावरूप पुण्य-पाप के संवर का कारण होता है ॥३७॥

अथ यावन्तं कालं रागादिरहितपरिणामेन स्वशुद्धात्मस्वरूपे तन्मयो भूत्वा तिष्ठति तावन्तं कालं सवरनिर्जरां करोतीति प्रतिपादयति—

अव कहते है कि जितने काल तक रागादिरहित परिणामों से स्वशुद्धात्मस्वरूप में तन्मय हुआ ठहरता है, तव तक सवर और निर्जरा करता है—

अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु ।
संवर-णिज्जर जाणि तुहुं सयल-वियप्प-विहीणु ॥३८॥

तिष्ठति यावन्तं काल मुनिः आत्मस्वरूपे निलीनः ।
संवरनिर्जरां जानीहि त्वं सकलविकल्पविहीनम् ॥३८॥

अत्थ(च्छ)इ इत्यादि । **अत्थ(च्छ)इ** तिष्ठति । किं कृत्वा तिष्ठति । **जित्तिउ कालु** यावन्तं कालं प्राप्य । क्व तिष्ठति । **अप्पसरूवि** निजशुद्धात्मस्वरूपे । कथंभूतः सन् **णिलीणु** निश्चयेन लीनो द्रवीभूतो वीतरागनित्यानन्दैकपरमसमरसीभावेन परिणतः **हे प्रभाकरभट्ट** इत्थंभूतपरिणामपरिणतं तपोधनमेवाभेदेन **संवरणिज्जर जाणि तुहुँ** संवरनिर्जरास्वरूपं जानीहि त्वम् । पुनरपि कथंभूतम् । **सयलवियप्पविहीणु** सकल-विकल्पहीनं ख्यातिपूजालाभप्रभृतिविकल्पजालावलीरहितमिति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वसूत्रद्वयभणितं तदेव ज्ञातव्यम् । कस्मात् । तस्यैव निर्जरासंवरव्याख्यानस्यो-पसंहारोऽयमित्यभिप्रायः ॥३८॥ एवं मोक्षमोक्षमार्गमोक्षफलादिप्रतिपादकद्वितीयमहा-धिकारोक्तसूत्राष्टकेनाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन स्थलं समाप्तम् । अत ऊर्ध्वं चतुर्दश-सूत्रपर्यन्तं परमोपशमभावमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति ।

मुणि जित्तिउ कालु अप्प सरुवि णिलीणु अच्छइ, तुहुँ सयल वियप्प विहीणु संवर णिज्जर जाणि ॥३८॥ मुनि जब तक आत्मस्वरूप में लीन हुआ रहता है अर्थात् वीतराग नित्यानन्द परम-समरसी भाव से परिणमता हुआ अपने स्वभाव में तल्लीन होता है, उस समय हे प्रभाकरभट्ट ! तुम समस्त विकल्पसमूहों से रहित अर्थात् अपनी ख्याति, पूजा, लाभ आदि विकल्पों से रहित उस मुनि को संवरनिर्जरा स्वरूप जानो। यहाँ पर भावार्थरूप विशेष व्याख्यान जो पहले दो दोहासूत्रों में कहा है, वही जानो। इस प्रकार संवर निर्जरा व्याख्यान का उपसंहार हुआ ॥३८॥ इस प्रकार मोक्ष, मोक्षमार्ग और मोक्षफल का निरूपण करने वाले दूसरे महाधिकार में आठसूत्रों में अभेदरत्नत्रय की व्याख्या की मुख्यता से अन्तरस्थल पूर्ण हुआ।

तथाहि—

अब आगे चौदह दोहों में परम उपशमभाव की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं—

कम्मु पुरक्किउ सो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।
संगु मुएविणु जो सयलु उवसम-भाउ करेइ ॥३९॥

कर्म पुराकृतं स क्षपयति अभिनवं प्रवेशं न ददाति ।
संगं मुक्त्वा यः सकलं उपशमभावं करोति ॥३९॥

कम्मु इत्यादि । **कम्मु पुरक्किउ** कर्म पुराकृतं **सो खवइ** स एव वीतरागस्वसंवेदनतत्त्वज्ञानी क्षपयति । पुनरपि किं करोति । **अहिणव पेसु ण देइ** अभिनवं कर्म प्रवेशं न ददाति । स कः । **संगु मुएविणु जो सयलु** संगं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा यः कर्ता समस्तम् । पश्चात्किं करोति । **उवसमभाउ करेइ** जीवितमरणलाभालाभसुख-दुःखादिसमताभावलक्षणं समभावं करोति । तद्यथा । स एव पुराकृतं कर्म क्षपयति नवतरं संवृणोति य एव बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा सर्वशास्त्रं पठित्वा च शास्त्रफल-भूतं वीतरागपरमानन्दैकसुखरसास्वादरूपं समभावं करोतीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—
"साम्यमेवादराद्भाव्यं किमन्यैर्ग्रन्थविस्तरैः । प्रक्रियामात्रमेवेदं वाङ्मयं विश्वमस्य हि ॥" ॥३९॥

सो पुरक्किउ कम्मु खवइ, अहिणव पेसु ण देइ, जो सयलु संगु मुएविणु उवसमभाउ करेइ ॥३९॥ वही वीतराग स्वसंवेदनतत्त्वज्ञानी पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करता है और नए कर्मों को प्रवेश नहीं देता है जो सम्पूर्ण बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर परम शान्तभाव धारण करता है अर्थात् जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र आदि में सदा समान परिणाम रखता है। भावार्थ—वही मुनि पूर्वकृत कर्मों का क्षय करता है और नवीन कर्मों को आने से रोकता है जो बाह्याभ्यन्तर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर और सर्वशास्त्रों को पढ़कर उनके फलभूत वीतराग परमानन्द सुखरस का आस्वादी हुआ समताभाव धारण करता है। ऐसा ही कथन पद्मनन्दिपंच-विंशतिका में भी है—"आदरपूर्वक समभाव ही धारण करना चाहिए, अन्य ग्रन्थविस्तारों से क्या, समस्त ग्रंथ तथा सकल द्वादशांग इस समभावरूप सूत्र का ही विस्तार है" ॥३९॥

अथ यः समभावं करोति तस्यैव निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि नान्यस्येति दर्शयति—

अब कहते हैं कि जो समभाव धारण करता है उसी के निश्चय मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं, किसी अन्य के नही—

दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो सम-भाउ करेइ ।
इयरहँ एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ ।।४०।।

दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तस्य य. समभावं करोति ।
इतरस्य एकमपि अस्ति नैव जिनवरः एवं भणति ।।४०।।

दंसणु इत्यादि । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं **तसु** निश्चयनयेन तस्यैव भवति । कस्य । **जो समभाउ करेइ** यः कर्ता समभावं करोति **इयरहं** इतरस्य समभावरहितस्य **एक्कु वि अत्थि णवि** रत्नत्रयमध्ये नास्त्येकमपि **जिणवरु एउ भणेइ** जिनवरो वीतरागः सर्वज्ञ एवं भणतीति । तथाहि । निश्चयनयेन निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दमधुररसास्वादोऽयमात्मा निरन्तराकुलत्वोत्पादकत्वात् कटुकरसास्वादाः कामक्रोधादय इति भेदज्ञानं तस्यैव भवति स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं तस्यैव भवति । तस्य कस्य । वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिकभावनानुकूलं निर्दोषिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं यः समभावं करोतीति भावार्थः ।।४०।।

दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो समभाव करेइ, इयरहँ एक्कु वि णवि अत्थि, एउ जिणवरु भणेइ ।।४०।। निश्चय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र उसी के होते हैं जो (मुनि) समताभाव धारण करता है, समताभाव से रहित अन्य के इनमें से एक भी नही होता, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते है । निश्चयनय से निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन उस समभावधारक के होता है और निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानन्द मधुर रस का आस्वाद स्वरूप यह आत्मा है तथा निरन्तर आकुलता उत्पन्न करने वाले महाकटुकरस रूप अत्यन्त विरस काम-क्रोधादिक हैं, यह भेदज्ञान-सम्यग्ज्ञान भी उसी के होता है तथा स्वरूप में आचरणरूप वीतरागचारित्र भी उसी समताभावधारी के होता है जो मुनि वीतराग निर्विकल्प परम सामायिकभावना के अनुकूल निर्दोष परमात्मा के यथार्थ श्रद्धान, यथार्थज्ञान, और यथार्थ आचरणरूप समभाव धारण करता है, यह **भावार्थ है** ।।४०।।

अथ यदा ज्ञानी जीव उपशाम्यति तदा संयतो भवति कामक्रोधादिकषायसंगतः पुनरसंयतो भवतीति निश्चिनोति—

अब कहते हैं कि जब ज्ञानी जीव शान्तभाव धारण करता है, तब वह संयत होता है और जब काम-क्रोधादिक कषाय के वशीभूत होता है तब पुनः असंयमी होता है—

जाँवइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ ।
होइ कसायहँ वसि गयउ जीउ असंजदु सोइ ॥४१॥

यावत् ज्ञानी उपशाम्यति तावत् संयतो भवति ।
भवति कषायाणां वशे गतः जीवः असंयतः स एव ॥४१॥

जांवइ इत्यादि । **जांवइ** यदा काले **णाणिउ** ज्ञानी जीवः **उवसमइ** उपशाम्यति **तामइ** तदा काले **संजदु होइ** संयतो भवति । **होइ** भवति **कसायहं वसि गयउ** कषायवशं गतः **जीउ** जीवः । कथंभूतो भवति । **असंजदु** असंयतः । कोऽसौ । **सोइ** स एव पूर्वोक्तजीव इति । अयमत्र भावार्थः । अनाकुलत्वलक्षणस्य स्वशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखस्यानुकूलपरमोपशमे यदा ज्ञानी तिष्ठति तदा संयतो भवति तद्विपरीतं परमाकुलत्वोत्पादककामक्रोधादौ परिणतः पुनरसंयतो भवतीति । तथा चोक्तम्–"**अकसायं तु चरित्तं कसायवसगदो असंजदो होदि । उवसमइ जम्हि काले तक्काले संजदो होदि**" ॥४१॥

जाँवइ णाणिउ उवसमइ, तामइ संजदु होइ । कसायहँ वसि गयउ सो जीउ असंजदु होइ ॥४१॥ जिस समय ज्ञानी जीव शान्तभाव को प्राप्त होता है, उस समय वह सयमी होता है और क्रोधादि कपायो के आधीन होने पर वही जीव असंयमी होता है । **भावार्थ**–अनाकुलता लक्षण वाले *निज शुद्धात्मा* की भावना से समुत्पन्न पारमार्थिक सुख का कारण जो परम शान्तभाव है, उसमें जिस समय ज्ञानी जीव ठहरता है, उस समय वह संयमी कहलाता है और परम आकुलता को उत्पन्न करने वाले काम-क्रोधादिक अशुद्धभावो में परिणमता हुआ जीव असंयमी होता है । ऐसा अन्यत्र भी कहा है–"कषायाभाव ही चारित्र है, कपाय के वशीभूत हुआ जीव असंयमी होता है, जब कषायों का उपशम करता है, तव वह संयमी कहलाता है ।" ॥४१॥

अथ येन कषाया भवन्ति मनसि तं मोहं त्यजेति प्रतिपादयति—

अब कहते है कि जिस मोह से मन में कषाय उत्पन्न होती है, उस मोह का तू त्याग कर—

जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु ।
मोह-कसाय-विवज्जियउ पर पावहि सम-बोहु ॥४२॥

येन कषाया भवन्ति मनसि तं जीव मुञ्च मोहम् ।
मोहकषायविवर्जितः परं प्राप्नोषि समबोधम् ॥४२॥

जेण इत्यादि । **जेण** येन वस्तुना वस्तुनिमित्तेन मोहेन वा । किं भवति । **कसाय हवंति** क्रोधादिकषाया भवन्ति । क्व भवन्ति । **मणि** मनसि **सो** तं **जिय** हे जीव **मिल्लहि** मुञ्च ।कम् । तं पूर्वोक्तं **मोहु** मोहं मोहनिमित्तपदार्थं चेति । पश्चात् किं लभसे त्वम् । **मोहकसायविवज्जिउ** मोहकषायविवर्जितः सन् **पर** परं नियमेन **पावहि** प्राप्नोषि । कं

कर्मतापन्नम् । **समबोहु** समबोधं रागद्वेषरहितं ज्ञानमिति । तथाहि । निर्मोहनिजशुद्धात्मध्यानेन निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वविपरीतं हे जीव मोहं मुञ्च, येन मोहेन मोहनिमित्तवस्तुना वा निष्कषायपरमात्मतत्त्वविनाशकाः क्रोधादिकषाया भवन्ति पश्चान्मोहकषायाभावे सति रागरहितं विशुद्धज्ञानं लभसे त्वमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तम्—"**तं वत्थुं मुत्तव्वं जं पडि उपज्जए कसायग्गी । तं वत्थुमल्लिएज्जो** (तद् वस्तु अंगीकरोति, इति टिप्पणी) **जत्थुवसम्मो कसायाणं** ।।" ।।४२।।

जिय ! जेण मणि कसाय हवंति, सो मोहु मिल्लहि । मोह कसाय विवज्जयउ पर समबोहु पावहि ।।४२।। हे जीव ! जिस मोह से अथवा मोह उत्पन्न करने वाली वस्तु से मन मे कषाय उत्पन्न होती हैं, उस मोह को अथवा मोहनिमित्तक पदार्थ को तू छोड दे । मोह को छोड देने पर कषाय रहित हुआ तू नियम से रागद्वेषरहित ज्ञान को प्राप्त करेगा । **भावार्थ**—निर्मोह निजशुद्धात्मा के ध्यान से निर्मोह-निजशुद्धात्मतत्त्व से विपरीत मोह को हे जीव ! तू छोड । जिस मोह से अथवा मोहनिमित्तक पदार्थ से कषायरहित परमात्मतत्त्वरूप ज्ञानानन्द स्वभाव के विनाशक क्रोधादि कषाय होते हैं, इन्हीं से संसार है अतः मोह और कषाय का अभाव होने पर ही रागादिरहित निर्मलज्ञान को तू प्राप्त कर सकेगा । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—"मन-वचन-काय से उस वस्तु का परित्याग कर देना चाहिए जिससे कषायाग्नि उत्पन्न होती हो और उस वस्तु को अगीकार करना चाहिए जिससे कषायाग्नि शान्त होती हो । (भगवती आराधना २६२) ।।४२।।

अथ हेयोपादेयतत्त्वं ज्ञात्वा परमोपशमे स्थित्वा येषां ज्ञानिनां स्वशुद्धात्मनि रतिस्त एव सुखिन इति कथयति—

अब कहते हैं कि हेयोपादेयतत्त्व को जानकर और परमशान्तभाव में स्थित होकर जिन ज्ञानियो की स्वशुद्धात्मा में रति हुई, वे ही सुखी हैं—

तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि ।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि ।।४३।।

तत्त्वातत्त्वं मत्वा मनसि ये स्थिताः समभावे ।
ते परं सुखिनः अत्र जगति येषां रतिः आत्मस्वभावे ।।४३।।

तत्तातत्तु इत्यादि । **तत्तातत्तु मुणेवि** अन्तस्तत्त्वं वहिस्तत्त्वं मत्वा । क्व । **मणि** मनसि **जे** ये केचन वीतरागस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानिनः **थक्का** स्थिता । क्व । **समभावि** परमोपशमपरिणामे **ते पर** त एव **सुहिया** सुखिनः **इत्थु जगि** अत्र जगति । के ते । **जहं रइ** येषां रतिः । क्व । **अप्पसहावि** स्वकीयशुद्धात्मस्वभावे इति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारेणानादिवन्धनवद्धं तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशवन्धरहितं, यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन प्रकृतशुभाशुभकर्मफलभोक्ता तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन निज-

शुद्धात्मतत्त्वभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकसुखामृतभोक्ता, यद्यपि व्यवहारेण कर्मक्षयानन्तरं मोक्षभाजनं भवति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सदा मुक्तमेव, यद्यपि व्यवहारेणेन्द्रियजनितज्ञानदर्शनसहितं तथापि निश्चयेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावं, यद्यपि व्यवहारेण स्वोपात्तदेहमात्रं तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशं, यद्यपि व्यवहारेणोपसंहारविस्तारसहितं तथापि मुक्तावस्थायामुपसंहारविस्ताररहितं चरमशरीरप्रमाणप्रदेशं, यद्यपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तथापि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं निजशुद्धात्मद्रव्यं पूर्वं ज्ञात्वा तद्विलक्षणं परद्रव्यं च निश्चित्य पश्चात् समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पत्यागेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वे ये रतास्त एव धन्या इति भावार्थः। तथा चोक्तं परमात्मतत्त्वलक्षणे **श्रीपूज्यपादस्वामिभिः**—"नाभावः सिद्धिरिष्टा, न निजगुणहतिस्तत् तपोभिर्न युक्तेः, अस्त्यात्मानादिबद्धः, स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी। ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपशमाहारविस्तारधर्मा, ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः" ॥४३॥

जे तत्तातत्तु मणि मुणेवि समभावि थक्का, जहँ रइ अप्प सहावि ते इत्थु जगि पर सुहिया ॥४३॥ जो कोई वीतराग स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानी जीव आराधने योग्य निज पदार्थ और त्यागने योग्य रागादि सकल विभावों को मन में जान कर शान्तभाव में ठहरते हैं और जिनकी प्रीति-लगन निज शुद्धात्मस्वभाव में हुई है, वे ही जीव इस संसार में सुखी हैं। **भावार्थ**–यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से अनादिकाल से कर्मबन्धन में बँधा है तथापि शुद्धनिश्चयनय से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध से रहित है; यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से स्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्मफल का भोक्ता है तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से निज शुद्धात्मतत्त्व की भावना में उत्पन्न वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृत का भोक्ता है। यद्यपि व्यवहारनय से कर्मों का क्षय होने के बाद मोक्ष का पात्र होता है तथापि शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सदा मुक्त ही है। यद्यपि व्यवहारनय से इन्द्रियजनित मति आदि क्षायोपशमिक ज्ञान और चक्षु आदि दर्शन सहित है तथापि निश्चयनय से सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाव वाला है। यद्यपि व्यवहारनय से यह जीव नामकर्म से प्राप्त देहप्रमाण है तथापि निश्चयनय से लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है। यद्यपि व्यवहारनय से प्रदेशों के संकोचविस्तार सहित है तो भी सिद्धावस्था में संकोच-विस्तार से रहित चरम शरीर प्रमाण प्रदेशवाला है। यद्यपि पर्यायार्थिकनय से उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त है तथापि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञान के अखण्ड स्वभाव से ध्रुव ही है। इस प्रकार पहले निज शुद्धात्मद्रव्य को अच्छी तरह जान कर और आत्मस्वरूप से विपरीत पुद्गलादि परद्रव्यों को भी अच्छी तरह निश्चय करके अर्थात् आप पर का निश्चय करके बाद में समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्पों को छोड़कर वीतराग चिदानन्द स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व में जो लीन हुए हैं, वे ही धन्य हैं। ऐसा ही कथन परमात्मतत्त्व के लक्षण में **श्री पूज्यपाद स्वामी** ने सिद्धभक्ति में कहा है—"यह आत्मा व्यवहारनय से अनादि का बँधा हुआ है और अपने किये हुए कर्मों के फल का भोक्ता है, उन कर्मों के क्षय से मोक्षपद का भोक्ता है, ज्ञाता है, देखने वाला है, अपनी देह के प्रमाण है, संसारावस्था में प्रदेशों के संकोच-विस्तार को धारण

करता है, उत्पादव्ययध्रौव्य सहित है और अपने गुणपर्याय से युक्त है। इस प्रकार से आत्मा को जानने से ही साध्य की सिद्धि है, अन्यथा नहीं ॥२॥" ॥४३॥

अथ योऽसावेवोपशमभावं करोति तस्य निन्दाद्वारेण स्तुतिं त्रिकलेन कथयति—

अब, जो इस प्रकार से उपशम भाव धारण करता है, तीन दोहों में निन्दा द्वारा उसकी स्तुति करते हैं—

बिण्णि वि दोस हवंति तसु जो सम-भाउ करेइ।
बंधु जि णिहणइ अप्पणउ अणु जगु गहिलु करेइ ॥४४॥

द्वौ अपि दोषौ भवतः तस्य यः समभावं करोति।
बन्धं एव निहन्ति आत्मीयं अन्यत् जगद् ग्रहिलं करोति ॥४४॥

विण्णि वि इत्यादि। **बिण्णि वि** द्वावपि। द्वौ कौ। **दोस** दोषौ **हवंति** भवतः **तसु** यस्य तपोधनस्य **जो समभाउ करेइ** यः समभावं करोति रागद्वेषत्यागं करोति। तौ दोषौ **बंधु जिणिहणइ** बन्धमेव निहन्ति। कथंभूतं बन्धम्। **अप्पणउ** आत्मीयं **अणु** पुनः **जगु** जगत् प्राणिगणं **गहिल करेइ** गहिलं पिशाचसमानं विकलं करोति। अयमत्र भावार्थः। समशब्देनात्राभेदनयेन रागादिरहित आत्मा भण्यते, तेन कारणेन योऽसौ समं करोति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं निजात्मानं परिणमति तस्य दोषद्वयं भवति। कथमिति चेत्। प्राकृतभाषया बन्धुशब्देन ज्ञानावरणादिबन्धा भण्यन्ते गोत्रं च येन कारणेनोपशमस्वभावेन परमात्मस्वरूपेण परिणतः सन् ज्ञानावरणादिकर्मबन्धं निहन्ति तेन कारणेन स्तवनं भवति अथवा येन कारणेन बन्धुशब्देन गोत्रमपि भण्यते तेन कारणेन बन्धुघाती लोकव्यवहारभाषया निन्दापि भवतीति। तथा चोक्तम्। लोकव्यवहारे ज्ञानिनां लोकः पिशाचो भवति लोकस्याज्ञानिजनस्य ज्ञानी पिशाच इति ॥४४॥

जो समभाउ करेइ तसु बिण्णि वि दोस हवंति, अप्पणउ बंधु जि णिहणइ अणु जगु गहिलु करेइ ॥४४॥ जो साधु रागद्वेष के त्यागरूप समभाव को करता है, उस तपोधन के दो दोष होते हैं—एक तो वह अपने बन्धु को नष्ट करता है, दूसरे जगत् के प्राणियों को बावला-पागल बना देता है। **भावार्थ**—यहाँ निन्दा द्वारा स्तुति है। प्राकृत भाषा मे बन्धु शब्द से ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध भी लिया जाता है तथा भाई को भी कहते हैं। यहाँ पर बन्धुहत्या निन्द्य है, इससे एक तो बन्धुहत्या का दोप आता है तथा दूसरा दोप यह है कि जो कोई इनका उपदेश सुनता है, वह वस्त्राभूषण त्याग कर नग्न दिगम्बर हो जाता है, जो कपड़े उतार कर नगा हो जाता है उसे लोग पागल कहते हैं। लोकव्यवहार में ये दोनो दोप है। इन शब्दों के ये अर्थ ऊपर से निकाले है, परन्तु दूसरा अर्थ निर्दोप है–यानी निन्दा नही स्तुति ही है। क्योकि कर्मबन्ध का नाश करना ही योग्य है, उचित है जो समभाव का धारक होता है, वह आप नग्नदिगम्बर हो जाता है और अन्य को भी दिगम्बर कर देता है, सो मूढ लोग निन्दा करते है। यह दोप नही गुण ही है। मूढ लोगों की दृष्टि में ज्ञानीजन

बावले है और ज्ञानियों की दृष्टि में जगत्-जन बावले हैं क्योंकि ज्ञानी जगत् से विमुख हैं तथा जगत् ज्ञानियों से विमुख है ।।४४।।

अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।
सत्तु वि मिल्लिवि अप्पणउ परहँ णिलीणु हवेइ ।।४५।।

अन्यः अपि दोषो भवति तस्य यः समभावं करोति ।
शत्रुमपि मुक्त्वा आत्मीयं परस्य निलीनः भवति ।।४५।।

अण्णु वि इत्यादि । **अण्णु वि** न केवलं पूर्वोक्त अन्योऽपि **दोसु** दोषः **हवेइ** भवति **तसु** तस्य तपोधनस्य । यः किं करोति । जो **समभाउ करेइ** यः कर्ता समभावं करोति । पुनरपि किं करोति । **सत्तु** वि **मिल्लिवि** शत्रुमपि मुञ्चति । कथंभूतं शत्रुम् । **अप्पणउ** आत्मीयम् । पुनश्च किं करोति । **परहं णिलीणु हवेइ** परस्यापि लीनः अधीनो भवति इति । अयमत्र भावार्थः यो रागादिरहितस्य निजपरमात्मनो भावनां करोति स पुरुषः शत्रुशब्दवाच्यं ज्ञानावरणादिकर्मरूपं निश्चयशत्रुं मुञ्चति परशब्दवाच्यं परमात्मानमाश्रयति च तेन कारणेन तस्य स्तुतिर्भवति । अथवा यथा लोकव्यवहारेण बन्धनबद्धं निजशत्रुं मुक्त्वा कोऽपि केनापि कारणेन तस्यैव परशब्दवाच्यस्य शत्रोरधीनो भवति तेन कारणेन स निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ।।४५।।

जो समभाउ करेइ तसु अण्णु वि दोसु हवेइ, परहँ णिलीणु हवेइ, अप्पणउ सत्तु वि मिल्लिवि ।।४५।। जो समभाव धारण करता है, उस तपोधन के दूसरा भी दोष होता है क्योंकि वह पर के आधीन होता है और अपने आधीन भी शत्रु को छोड़ देता है । **भावार्थ**—जो तपस्वी धन-धान्यादि का राग त्याग कर परम शान्तभाव धारण करता है, उसके दोष कभी नहीं हो सकता, वह सदा स्तुति के योग्य है तो भी यहाँ शब्दों की योजना से निन्दा द्वारा स्तुति की गई है, वह इस प्रकार है—शत्रु शब्द से कहे गए जो ज्ञानावरणादि कर्म शत्रु है, उनका त्याग कर पर शब्द से कहे गए परमात्मा का आश्रय करता है, यह स्तुति हुई । परन्तु लोकव्यवहार में अपने आधीन शत्रु को छोडकर, किसी कारण से, पर शब्द से कहे गए शत्रु के आधीन आप होना है, इसलिए लौकिक निन्दा हुई । यह शब्दों के छल से निन्दा स्तुति की गई ।।४५।।

अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो समभाउ करेइ ।
वियलु हवेविणु इक्कलउ उप्परि जगहँ चडेइ ।।४६।।

अन्यः अपि दोषः भवति तस्य यः समभावं करोति ।
विकलः भूत्वा एकाकी उपरि जगतः आरोहति ।।४६।।

अण्णु वि इत्यादि । **अण्णु वि** न केवलं पूर्वोक्तोऽन्योऽपि **दोसु** दोषः **हवेइ** भवति । **तसु** तस्य तपस्विनः । यः किं करोति । **जो समभाउ करेइ** यः कर्ता

समभावं करोति । पुनरपि किं करोति । **वियलु हवेविणु** विकलः कलरहितः शरीर-रहितो भूत्वा **इक्कलउ** एकाकी पश्चात् **उप्परि जगहं चडेइ** उपरितनभागे जगतो लोक-स्यारोहण करोतीति । अयमत्राभिप्रायः । यः तपस्वी रागादिविकल्परहितस्य परमोपशम-रूपस्य निजशुद्धात्मनो भावनां करोति स कलशब्दवाच्यं शरीरं मुक्त्वा लोकस्योपरि तिष्ठति तेन कारणेन स्तुतिं लभते अथवा यथा कोऽपि लोकमध्ये चित्तविकलो भूतः सन् निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ।।४६।।

जो समभाउ करेइ तसु अण्णु वि दोसु हवेइ । वियलु हवेविणु इक्कलउ उप्परि जगहँ चडेइ ।।४६।। जो तपस्वी मुनि समभाव को धारण करता है, उसके दूसरा भी दोष होता है कि वह शरीर रहित होकर अकेला लोक के शिखर पर अथवा सबके ऊपर चढ़ता है यहाँ शब्द के छल से तो निन्दा है कि विकल होकर लोकों के ऊपर चढ़ता है लेकिन वास्तव मे ऐसा अर्थ है कि विकल अर्थात् शरीर से रहित होकर तीन लोक के शिखर (मोक्ष) पर विराजमान हो जाता है, यह स्तुति है । क्योकि जो अनन्त सिद्ध हुए अथवा होंगे, वे शरीर रहित होकर ही जगत् के शिखर पर विराजे है ।।४६।।

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

अत्र स्थलसख्या के अतिरिक्त क्षेपक दोहा कहते हैं—

जा णिसि सयलहँ देहियहँ जोग्गिउ तहिँ जग्गेइ ।
जहिँ पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ।।४६*१।।

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जागर्ति ।
यत्र पुनः जागर्ति सकल जगत् तां निशां मत्वा स्वापति ।।४६*१।।

जा णिसि इत्यादि । **जा णिसि** या वीतरागपरमानन्दैकसहजशुद्धात्मावस्था मिथ्यात्वरागाद्यन्धकारावगुण्ठिता सती रात्रिः प्रतिभाति । केषाम् । **सयलहं देहियहं** सकलानां स्वशुद्धात्मसंवित्तिरहितानां देहिनाम् । **जोग्गिउ तहिं जग्गेइ** परमयोगी वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरत्नप्रदीपप्रकाशेन मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालान्धकार-मपसार्य स तस्यां तु शुद्धात्मना जागर्ति । **जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु** यत्र पुनः शुभा-शुभमनोवाक्कायपरिणामव्यापारे परमात्मतत्त्वभावनापराङ्मुखः सन् जगज्जागर्ति स्व-शुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलोऽज्ञानी जनः **सा णिसि मणिवि सुवेइ** तां रात्रिं मत्वा त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधियोगनिद्रायां स्वपिति इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो भण्यत इति तात्पर्यार्थः ।।४६*१।।

जा सयलहँ देहियहँ णिसि तहिँ जोग्गिउ जग्गेइ । जहिँ पुणु सयलु जगु जग्गइ, सा णिसि मणिवि सुवेइ ।।४६*१।। जो सब ससारी प्राणियो के लिए रात्रि है, उस रात्रि मे योगी जागता है

और जिसमें सब ससारी जीव जागते है, उस दशा को योगी रात मानकर उसमें योगनिद्रा में सोता है। **भावार्थ**–जो जीव वीतरागपरमानन्दरूप सहज शुद्धात्मा को अवस्था से रहित है, मिथ्यात्व-रागादि अन्धकार से मण्डित हैं, इन सबको वह परमानन्द अवस्था रात्रि के समान प्रतीत होती है। जगत् के जीव आत्मज्ञान से रहित है, अज्ञानी है और अपने स्वरूप से विमुख है, इनके जाग्रत दशा नही है, ये अचेत सो रहे है; ऐसी रात्रि मे वह परमयोगी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूपी रत्नदीप के प्रकाश से मिथ्यात्व रागादि विकल्पजालरूप अन्धकार को दूर कर अपने स्वरूप में सावधान होने से सदा जागता है। तथा शुद्धात्मा के ज्ञान से रहित शुभ-अशुभ, मन-वचन-काय के परिणमनरूप व्यापार वाले स्थावर जगम सकल अज्ञानी जीव परमात्मतत्त्व की भावना से पराङ्मुख हुए विषय-कषायरूप अविद्या मे सदा सावधान है– जाग रहे हैं, उस अवस्था में विभावपर्याय का स्मरण करने वाले महामुनि सावधान (जागते) नही रहते। इसलिए ससार की दशा से सोते हुए मालूम पडते है। जिनको आत्मस्वभाव के सिवाय विषय-कषाय रूप प्रपच मालूम भी नही है, उस प्रपंच को रात्रि के समान जान कर, वे उसे याद नहीं रखते अपितु मन वचन काय को तीन गुप्ति में अचल हुए वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिरूप योगनिद्रा में मग्न हो रहे है। सारांश यह है कि ध्यानी मुनियों को आत्मस्वरूप ही गम्य है, प्रपंच गम्य नही है। जगत् के प्रपंची मिथ्यात्वियो को आत्मस्वरूप गम्य नही है, वे अनेक प्रपंचों में फँसे हुए है। प्रपंच की सावधानी रखने को भूल जाना ही परमार्थ है, तथा वाह्य विषयों मे जागृत होना ही भूल है ॥४६॥१॥

अथ ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति दर्शयति—

अब कहते हैं कि ज्ञानीपुरुष परमवीतरागरूप समभाव को छोडकर वाह्यविषयों में राग नही करता—

णाणि मुएप्पिणु भाउ समु कित्थु वि जाइ ण राउ।
जेण लहेसइ णाणमउ तेण जि अप्प-सहाउ ॥४७॥

ज्ञानी मुक्त्वा भाव शमं क्वापि याति न रागम्।
येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥४७॥

णाणि इत्यादि। **णाणि** परमात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी **मुएप्पिणु** मुक्त्वा। कम्। **भाउ** भावम्। कथंभूतं भावम्। **समु** उपशमं पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषरहितं वीतरागपरमाह्लादसहितम्। **कित्थु वि जाइ ण राउ** तं पूर्वोक्तं समभावं मुक्त्वा क्वापि बहिर्विषये रागं न याति न गच्छति। कस्मादिति चेत्। **जेण लहेसइ** येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति। कम्। **णाणमउ** ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानान्तर्भूतान्तगुणं। **तेण जि** तेनैव सम्भावेन **अप्पसहाउ** निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति। इदमत्र तात्पर्यम्। ज्ञानी पुरुषः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं समभावं विहाय बहिर्भावे रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन विना शुद्धात्मलाभो न भवतीति ॥४७॥

णाणी समु भाउ मुएप्पिणु कित्थु वि राउ ण जाइ । जेण णाणमउ लहेसइ, तेण जि अप्प सहाउ ॥४७॥ स्वपर भेदविज्ञानी मुनि समभाव का त्याग कर किसी पदार्थ में राग नहीं करता, इसी कारण वह ज्ञानमयी निर्वाणपद प्राप्त करेगा और उसी समभाव से केवलज्ञान परिपूर्ण आत्मस्वभाव को उपलब्ध होगा । **भावार्थ**–ज्ञानी पुरुष शुद्धात्मानुभूतिलक्षण समभाव को छोड़कर अन्य बाह्य भावों में राग नहीं करते, क्योंकि इस समभाव के बिना अन्य उपाय से शुद्धात्मा की उपलब्धि नहीं होती है ॥४७॥

अथ ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दतीति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि ज्ञानी न किसी से पढ़ता है, न किसी को पढ़ाता है, न किसी को प्रेरणा करता है, न किसी की स्तुति-निन्दा करता है—

भणइ भणावइ णवि थुणइ णिंदइ णाणि ण कोइ ।
सिद्धिहिँ कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ ॥४८॥

भणति भाणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।
सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥४८॥

भणइ इत्यादि । **भणइ** भणति नैव **भणावइ** नैवान्यं भाणयति न भणन्तं प्रेरयति **णवि थुणइ** नैव स्तौति **णिंदइ णाणि ण कोइ** निन्दति ज्ञानी न कमपि । किं कुर्वन् सन् । **सिद्धिहि कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ** जानन् । कम् । परं भावं परिणामम् । कथंभूतम् । **समु** समं रागद्वेषरहितम् । पुनरपि कथंभूतं कारणम् । कस्याः । सिद्धेः परं नियमेन **सोइ** तमेव सिद्धिकारणं परिणाममिति । इदमत्र तात्पर्यम् । परमोपेक्षासंयमभावनारूपं विशुद्ध-ज्ञानदर्शननिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणं साक्षात्सिद्धिकारणं कारणसमयसारं जानन् त्रिगुप्तावस्थायां अनुभवन् सन् भेदज्ञानी पुरुषः परं प्राणिनं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न च निन्दतीति ॥४८॥

णाणि ण कोइ भणइ, भणावइ, णवि थुणइ णिंदइ सिद्धिहिँ कारणु समु भाउ पर जाणंतउ सोइ ॥४८॥ निर्विकल्प ज्ञानी पुरुष न किसी का शिष्य होकर पढ़ता है, न गुरु होकर किसी को पढ़ाता है, न किसी की स्तुति-निन्दा करता है, वह तो मोक्ष का कारण निश्चय से समभाव को जानता हुआ केवल आत्मस्वरूप में अचल हो रहा है, अन्य कुछ भी शुभ-अशुभ कार्य नहीं करता । **भावार्थ**–परमोपेक्षा संयम अर्थात् तीन गुप्ति में स्थिर, परम समाधि मे आरूढ़ जो परम सयम उसकी भावनारूप निर्मल यथार्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्ष का कारण जो समयसार उसे जानता हुआ, अनुभवता हुआ, अनुभवी पुरुष न किसी प्राणी को सिखाता है, न किसी से सीखता है, न स्तुति करता है, न निन्दा करता है । उसके लिए शत्रु-मित्र, सुख-दुःख सब एक समान हैं ॥४८॥

अथ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेच्छायाः पञ्चेन्द्रियविषयभोगाकांक्षादेहमूर्च्छाव्रतादिसंकल्प

विकल्परहितेन निजशुद्धात्मध्यानेन योऽसौ निजशुद्धात्मानं जानाति स परिग्रहविषयदेहव्रताव्रतेषु रागद्वेषौ न करोतीति चतुःकलं प्रकटयति—

अब कहते हैं कि बाह्य और अन्तरंग परिग्रह की इच्छा से, पञ्चेन्द्रियों के विषयभोगों की आकांक्षा से देह में ममत्व तथा मिथ्यात्वादि (अव्रत) समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित होकर निज शुद्धात्मा के ध्यान से जो अपनी शुद्धात्मा को जानता है, वह परिग्रह, विषय तथा देह सम्बन्धी व्रत-अव्रत में रागद्वेष नहीं करता, ऐसा चार दोहों में प्रकट करते हैं—

गंथहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
गंथहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ॥४६॥

ग्रन्थस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
ग्रन्थाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥४६॥

गंथहं इत्यादि । **गंथहँ उप्परि** ग्रन्थस्य बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्योपरि अथवा ग्रन्थरचनारूपशास्त्रस्योपरि **परममुणि** परमतपस्वी **देसु वि करइ ण** द्वेषमपि न करोति-न **राउ** रागमपि । येन तपोधनेन किं कृतम् । **गंथहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्पसहाउ** ग्रन्थात्सकाशाद्येन विज्ञातो भिन्न आत्मस्वभाव इति । तद्यथा । मिथ्यात्वं, स्त्र्यादिवेदकांक्षारूपवेदत्रयं, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं नोकषायषट्कं, क्रोधमानमायालोभरूपं कषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहाः क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डरूपा बाह्यपरिग्रहाः इत्थंभूतान् बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहान् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणे वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाद्भिन्नमात्मानं जानाति स परिग्रहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुणविशिष्टनिर्ग्रन्थस्यैव शोभते न च सपरिग्रहस्येति तात्पर्यार्थः ॥४६॥ अथ–

परममुणि गंथहँ उप्परि राउ देसु वि ण करइ । जेण अप्प सहाउ गंथहँ भिण्णउ वियाणियउ ॥४६॥ परमतपस्वी मुनि अन्तर्बाह्य परिग्रह पर अथवा ग्रन्थरचनारूप शास्त्र पर राग-द्वेष नहीं करता है, जिस मुनि ने आत्मस्वभाव को ग्रन्थ से (परिग्रह से) जुदा जान लिया है । **भावार्थ**–मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेदरूप त्रिवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चौदह अन्तरंग परिग्रह और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, कुप्य, भाण्ड, हिरण्य, सुवर्ण—ये दस बाह्य परिग्रह—इस प्रकार चौबीस प्रकार के बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहों को तीन जगत् में, तीनों कालों में, मन-वचन-काय, कृत कारित अनुमोदना से छोड़कर और शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप वीतराग निर्विकल्प समाधि में ठहर कर परवस्तु से जो अपने को भिन्न जानता है, वही परिग्रह पर रागद्वेष नहीं करता है । यह व्याख्यान ऐसे गुणविशिष्ट निर्ग्रन्थ मुनि को ही शोभा देता है, किसी परिग्रहधारी को नहीं—यह तात्पर्य है ॥४६॥

विसयहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
विसयहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ।।५०।।
विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ।।५०।।

विसयहं इत्यादि । **विसयहं उप्परि** विषयाणामुपरि **परममुणि** परममुनिः **देसु वि करइ ण राउ** द्वेषमपि करोति न च रागमपि । येन किं कृतम् । **विसयहं जेण वियाणिउ** विषयेभ्यो येन विज्ञातः । कोऽसौ विज्ञातः । **भिण्णउ अप्पसहाउ** आत्मस्वभावः । कथंभूतो भिन्न इति । तथा च । द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियग्राह्यान् विषयांश्च दृष्ट-श्रुतानुभूतान् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा निजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन तृप्तो भूत्वा यो विषयेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मानमनुभवति स मुनि पञ्चेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषौ न करोति । अत्र यः पञ्चेन्द्रियविषयसुखान्निवर्त्य: स्वशुद्धात्मसुखे तृप्तो भवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते न च विषयासक्तस्येति भावार्थः ।।५०।।

परममुणि विसयहँ उप्परि राउ देसु वि ण करइ । जेण अप्प-सहाउ विसयहँ भिण्णउ वियाणियउ ।।५०।। महामुनि पञ्चेन्द्रियों के स्पर्शादि विषयो पर रागद्वेष नही करता है । क्योंकि उसने अपना स्वभाव विषयों से भिन्न समझ लिया है । अतः वीतराग दशा धारण की है । भावार्थ–द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन दोनों से ग्राह्य देखे-सुने-अनुभव किये जो रूपादि विषय हैं, उनको मन, वचन, काय, कृत-कारित-अनुमोदना से छोड़कर और निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परमानन्द रूप अतीन्द्रिय सुख के रस के आस्वादने से तृप्त होकर विषयो से भिन्न अपनी आत्मा को जो मुनि अनुभवता है, वही मुनि पञ्चेन्द्रियो के विषयों में रागद्वेष नही करता । यहाँ पर तात्पर्य यह है कि जो पञ्चेन्द्रियों के विषयसुख से निवृत्त होकर निज शुद्ध आत्मसुख में तृप्त होता है, उसी को यह व्याख्यान शोभा देता है न कि विषयासक्त को ।।५०।।

देहहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
देहहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ।।५१।।
देहस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
देहाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ।।५१।।

देहहं इत्यादि । **देहहं उप्परि** देहस्योपरि **परममुणि** परममुनिः **देसु वि करइ ण राउ** द्वेषमपि न करोति न रागमपि । येन किं कृतम् । **देहहं जेण वियाणियउ** देहात्मकाशाद्येन विज्ञातः । कोऽसौ । **भिण्णउ अप्पसहाउ** आत्मस्वभावः । कथंभूतो विज्ञातः । तस्माद्देहाद्भिन्न इति । तथाहि—"**सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं**

विसमं। जं इंदियेहिं लद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा।" इति गाथाकथितलक्षणं दृष्टश्रुतानुभूतं यद्देहजनितसुखं तज्जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखपरिणते निजपरमात्मनि स्थित्वा च य एव देहाद्भिन्नं स्वशुद्धात्मानं जानाति स एव देहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति। अत्र य एव सर्वप्रकारेण देहममत्वं त्यक्त्वा देहसुखं नानुभवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते नापरस्येति तात्पर्यार्थः ॥५१॥ अथ—

परममुणि देहहँ उप्परि राउ देसु वि ण करइ। जेण अप्प सहाउ देहहँ भिण्णउ वियाणियउ ॥५१॥ परम मुनि देह पर भी राग और द्वेष नही करता अर्थात् शुभ शरीर से राग नही करता और अशुभ शरीर से द्वेष नहीं करता, जिसने निजस्वभाव को देह से भिन्न जान लिया है। देह तो जड़ है, आत्मा चेतन है, जड़ चेतन का क्या सम्वन्ध ? **भावार्थ**–इन्द्रियों से उत्पन्न सुख वास्तव में दुःख रूप ही है। ऐसा कथन **श्रीकुन्दकुन्दाचार्य** ने **श्रीप्रवचनसार** (१-७६) मे किया है– "इन्द्रियों से प्राप्त सुख दुःखरूप ही है क्योंकि वह सुख परवस्तु है, निजवस्तु नही है, वाधा सहित है, निरावाध नहीं है, नाशवान है, वन्ध का कारण है और विपम है।" इस प्रकार गाथा कथित लक्षण वाले दृष्ट-श्रुत और अनुभूत देहजनित सुख को तीनों लोको में, तीनो कालो में मन-वचन-काय कृत-कारित-अनुमोदना से छोड़कर; वीतराग निर्विकल्पसमाधि के वल मे आकुलतारहित परमसुख निज परमात्मा में स्थित होकर जो महामुनि देह से भिन्न अपनी शुद्धात्मा को जानता है, वही देह पर रागद्वेप नहीं करता। यह व्याख्यान उसी को शोभा देता है जो सव प्रकार से देह से निर्ममत्व होकर देह के सुख को नहीं अनुभवता, देहवुद्धिवाले को नही; यह अभिप्राय समझना ॥५१॥

वित्ति-णिवित्तिहिँ परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ।
बंधहँ हेउ वियाणियउ एयहँ जेण सहाउ ॥५२॥

वृत्तिनिवृत्त्योः परममुनिः द्वेपमपि करोति न रागम्।
वन्धस्य हेतुः विज्ञातः एतयोः येन स्वभावः ॥५२॥

वित्तिणिवित्तिहि इत्यादि। **वित्तिणिवित्तिहिं** वृत्तिनिवृत्तिविषये व्रताव्रतविषये **परममुणि** परममुनिः **देसु वि करइ ण राउ** द्वेषमपि न करोति न च रागम्। येन किं कृतम्। **बंधहँ हेउ वियाणियउ** वन्धस्य हेतुर्विज्ञातः। कोऽसौ। **एयहं जेण सहाउ** एतयोर्व्रताव्रतयोः स्वभावो येन विज्ञात इति। अथवा पाठान्तरम्। "**भिण्णउ जेण वियाणियउ एयहं अप्पसहाउ** भिन्नो येन विज्ञातः। कोऽसौ। आत्मस्वभावः। काभ्याम्। एताभ्या व्रताव्रतविकल्पाभ्यां सकाशादिति। तथाहि। येन व्रताव्रतविकल्पौ-पुण्यपापवन्धकारणभूतौ विज्ञातौ स शुद्धात्मनि स्थितः सन् व्रतविषये रागं न करोति तथा चाव्रतविषये द्वेषं न करोतीति। अत्राह **प्रभाकरभट्टः**। हे भगवन्! यदि व्रतस्योपरि रागतात्पर्य नास्ति तर्हि व्रतं निषिद्धमिति। भगवानाह। व्रतं कोऽर्थः। सर्वनिवृत्तिपरिणामः।

तथा चोक्तम्—'हिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' अथवा । "रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् । तौ च वाह्यार्थसंवन्धौ तस्मात्तांस्तु परित्यजेत् ।।" प्रसिद्धं पुनरहिंसादिव्रतं एकदेशेन व्यवहारेणेति । कथमेकदेशव्रतमिति चेत् । तथाहि । जीवघाते निवृत्तिर्जीवदयाविषये प्रवृत्तिः, असत्यवचनविषये निवृत्तिः सत्यवचनविषये प्रवृत्तिः अदत्तादानविषये निवृत्तिः दत्तादानविषये प्रवृत्तिरित्यादिरूपेणैकदेशं व्रतम् । रागद्वेषरूप-सकल्पविकल्पकल्लोलमालारहिते त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ पुनः शुभाशुभत्यागात्परिपूर्णं व्रत भवतीति । कश्चिदाह । व्रतेन किं प्रयोजनमात्मभावनया मोक्षो भविष्यति । **भरतेश्वरेण** किं व्रतं कृतम्, घटिकाद्वयेन मोक्षं गतः इति । अथ परिहारमाह । भरतेश्वरोऽपि पूर्व जिनदीक्षाप्रस्तावे लोचानन्तरं हिंसादिनिवृत्तिरूपं महाव्रतविकल्पं कृत्वान्तर्मुहूर्ते गते सति दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानवन्धादिविकल्परहिते मनोवचनकायनिरोधलक्षणे निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जातः । परं किंतु तस्य स्तोककालत्वान्महा-व्रतप्रसिद्धिर्नास्ति । अथेदं मतं वयमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले । नैव वक्तव्यम् । यद्येक-स्यान्धस्य कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हि कि सर्वेषां भवतीति भावार्थः । तथा चोक्तम्— **"पुव्वमभाविदजोगो मरणे आराहओ जदि वि कोई । खन्नगनिधिदिट्ठंतं तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ।।"** ।।५२।।

परममुणि वित्ति- णिवित्तिहिँ राउ देसु वि ण करइ । जेण एयहँ सहाउ बंधहँ हेउ वियाणियउ ।।५२।। महामुनि प्रवृत्ति और निवृत्ति में राग और द्वेप नही करता, जिसने इन दोनों का स्वभाव कर्मवन्ध का कारण जान लिया है। **विशेष**—परममुनि व्रत-अव्रत मे राग-द्वेप नही करता, जिसने इन दोनो का स्वभाव वध का कारण जान लिया है। अथवा पाठान्तर होने से ऐसा अर्थ होता है कि जिसने आत्मा का स्वभाव भिन्न जान लिया है। किससे ? व्रत-अव्रत के विकल्पो से। **भावार्थ**—जिसने व्रत-अव्रत के विकल्पो को पुण्य-पाप वन्ध के कारणभूत जान लिया है, वह निजशुद्ध आत्मा मे तल्लीन हुआ न तो व्रत के विपय में राग करता है और न ही अव्रत के विषय में द्वेप। यहाँ प्रभाकरभट्ट **प्रश्न** करते है—हे भगवन् ! यदि व्रत पर राग नही हो तो व्रत निषिद्ध हुआ। आचार्य इसका उत्तर देते है — व्रत का अर्थ है सर्वनिवृत्ति परिणाम यानी सव शुभ-अशुभ भावों से निवृत्ति परिणाम होना। कहा भी है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरक्त होना व्रत है। (तत्त्वार्थसूत्र-७–१)। अथवा "राग और द्वेप ये ही प्रवृत्ति है और इनका निपेध ही निवृत्ति है। ये दोनों वाह्य पदार्थों के सम्वन्ध से होते हैं इसलिए वाह्य पदार्थों का त्याग करना चाहिए।" (गुणभद्राचार्य-आत्मानुशासन-२३७) ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध है—ये व्यवहारनय से एकदेशरूप व्रत है। कैसे हैं ? जीवघात मे निवृत्ति और जीवदया में प्रवृत्ति, असत्यवचन से निवृत्ति और सत्यवचन मे प्रवृत्ति, चोरी से निवृत्ति और अचौर्य मे प्रवृत्ति, इत्यादि रूप से एकदेशव्रत कहा जाता है। रागद्वेप-रूप संकल्पविकल्पो की कल्लोलो से रहित, तीन गुप्ति से गुप्त समाधि मे शुभाशुभ के त्याग से परिपूर्ण व्रत होता है। यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि व्रत से क्या प्रयोजन, आत्मभावना से ही मोक्ष होता है। भरत महाराज ने क्या व्रत धारण किया था, वे तो दो घड़ी मे ही केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष चले

गये ? इसका उत्तर देते हैं—भरतेश्वर ने भी पहले जिनदीक्षा धारण की, सिर के केश लुञ्चन किये, हिंसादि पापों की निवृत्तिरूप पाँच महाव्रतों का विकल्प धारण किया, फिर एक अन्तर्मुहूर्त में दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगाकांक्षारूप निदान बन्धादि समस्त विकल्परहित होकर, मन-वचन-काय को रोकने रूप निज शुद्धात्मध्यान में ठहर कर निर्विकल्प हुए। वे थोड़े ही काल तक महाव्रती रहे अतः उनकी महाव्रती के रूप में प्रसिद्धि नहीं हुई। भरतजी के सम्बन्ध में ऐसा हुआ देखकर कोई यह विचार करे कि हम भी अन्तसमय में ऐसा कर लेंगे तो यह विचार ठीक नहीं हैं। यदि किसी एक अन्धे को किसी तरह से निधि का लाभ हुआ तो क्या सभी को ऐसा हो सकता है ? नहीं। कहा भी है —"जिसने पहले कभी योग का अभ्यास नहीं किया और मरण के समय जो कभी आराधक हो जावे तो यह बात ऐसी जानना कि जैसे किसी अन्धे पुरुष को निधि का लाभ हुआ हो। ऐसी बात सब जगह प्रमाण नहीं हो सकती है। कभी कहीं पर होवे तो होवे।" (भगवती आराधना-२४) ॥५२॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये परमोपशमभावव्याख्यानोपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रैः स्थलं समाप्तम्। अथानन्तरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—योऽसौ विभावस्वभावपरिणामौ निश्चयनयेन बन्धमोक्षहेतुभूतौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं करोति न चान्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

इस प्रकार मोक्ष, मोक्ष का फल और मोक्षमार्ग के कहने वाले दूसरे महाधिकार में परम उपशान्तभाव के व्याख्यान की मुख्यता से अन्तरस्थल में चौदह दोहे पूर्ण हुए। अब निश्चयनय से पुण्य और पाप दोनों ही समान है— ऐसा चौदह दोहों में कहते है—जो कोई स्वभावपरिणाम को मोक्ष का कारण और विभावपरिणाम को बन्ध का कारण निश्चय से ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य-पाप का कर्त्ता होता है, अन्य नहीं, ऐसा मन में विचार कर यह गाथासूत्र कहते हैं—

बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ।
सो पर मोहिँ करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥५३॥

बन्धस्य मोक्षस्य हेतुः निजः यः नैव जानाति कश्चित्।
स परं मोहेन करोति जीव पुण्यमपि पापमपि द्वे अपि ॥५३॥

बंधहं इत्यादि। **बंधहं** बन्धस्य **मोक्खहं** मोक्षस्य **हेउ** हेतुः कारणम्। कथंभूतम्। **णिउ** निजविभावस्वभावहेतुस्वरूपम्। **जो णवि जाणइ कोइ** यो नैव जानाति कश्चित्। **सो पर** स एव **मोहिं** मोहेन **करइ** करोति **जिय** हे जीव **पुण्णु वि पाउ वि** पुण्यमपि पापमपि। कतिसंख्योपेते अपि। **दोइ** द्वे अपीति। तथाहि। निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीतं मिथ्यादर्शनं स्वशुद्धात्मप्रतीतिविपरीतं मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलस्थितिविपरीतं मिथ्याचारित्रमित्येतत्त्रयं कारणं, तस्मात्त्रयाद्विपरीतं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योऽसौ न जानाति स एव पुण्यपाप-

द्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं करोतीति भावार्थ: ॥५३॥

जो कोइ बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ णवि जाणइ जिय सो पर पुण्णु वि पाउ वि दोइ मोहिं करइ ॥५३॥ जो कोई जीव बंध और मोक्ष का कारण अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है, ऐसा भेद नहीं जानता है, हे जीव ! वही पुण्य और पाप दोनो को ही मोह मे करता है। **भावार्थ**–निजशुद्धात्मानुभूति की रुचि मे विपरीत मिथ्यादर्शन, निजशुद्धात्मा की प्रतीति से विपरीत मिथ्याज्ञान और निजशुद्धात्म द्रव्य में निश्चल स्थिति मे विपरीत मिथ्याचारित्र– इन तीनो को बन्ध का कारण और इन तीनों मे विपरीत भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष का कारण– ऐसा जो नहीं जानता है वही पुण्यपाप दोनों को निश्चयनय से हेय होते हुए भी मोह के वशीभूत हो पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानकर करता है ॥५३॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतमात्मानं योऽसौ मुक्तिकारणं न जानाति स पुण्यपापद्वयं करोतीति दर्शयति—

अब बतलाते हैं कि जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणत आत्मा को मुक्ति का कारण नहीं जानता है, वही पुण्य-पाप दोनों का कर्त्ता होता है—

दंसण-णाण-चरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ ।
मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताइँ करेइ ॥५४॥

दर्शनज्ञानचारित्रमयं य: नैवात्मानं मनुते ।
मोक्षस्य कारणं भणित्वा जीव स परं ते करोति ॥५४॥

दंसणणाणचरित्त इत्यादि । **दंसणणाणचरित्तमउ** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयं **जो णवि अप्पु मुणेइ** य: कर्ता नैवात्मानं मनुते जानाति । किं कृत्वा न जानाति । **मोक्खहं कारणु भणिवि** मोक्षस्य कारणं भणित्वा मत्वा **जिय** हे जीव **सो पर ताइं करेइ** स एव पुरुषस्ते पुण्यपापे द्वे करोतीति । तथाहि—निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतराग-सहजानन्दैकरूपसुखरसास्वादरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्रैव स्वशुद्धात्मनि वीतरागसहजानन्दैकस्वसंवेदन-परिच्छित्ति-रूपं सम्यग्ज्ञानं, वीतरागसहजानन्दैकपरमसमरसीभावेन तत्रैव निश्चलस्थिरत्वं सम्यक्चारित्रं, इत्येतैस्त्रिभि: परिणतमात्मानं योऽसौ मोक्षकारणं न जानाति स एव पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं च करोतीति । यस्तु पूर्वोक्तरत्नत्रय-परिणतमात्मानमेव मोक्षमार्गं जानाति तस्य तु सम्यग्दृष्टेर्यद्यपि संसारस्थितिच्छेदकारणेन सम्यक्त्वादिगुणेन परंपरया मुक्तिकारणं तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिकमनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तथाप्यसौ तदुपादेयं न करोतीति भावार्थ: ॥५४॥

जो दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पु णवि मुणेइ सो पर जिय ! ताइँ मोक्खहँ कारणु भणिवि करेइ ॥५४॥ जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयी आत्मा को नही जानता, वही हे जीव ! उन पुण्य-पाप दोनों को मोक्ष के कारण जान कर करता है। **भावार्थ**–निजशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द एकरूप सुखरस का आस्वाद उसकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन, उसी शुद्धात्मा में वीतराग सहजानन्द स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान तथा वीतराग सहजानन्द परम समरसीभाव से उसी में निश्चल स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र—इन तीनों स्वरूप परिणत हुआ जो आत्मा—उसको जो जीव मोक्ष का कारण नहीं जानता, वही पुण्य को उपादेय मानता है और पाप को हेय मानता है। जो जीव पूर्वोक्त रत्नत्रयरूप परिणत आत्मा को ही मोक्ष का मार्ग जानता है, वह यद्यपि संसार की स्थिति के छेदन की कारण और सम्यक्त्वादि गुण से परम्परा से मुक्ति की कारण ऐसी तीर्थंकर नामप्रकृति आदि शुभ (पुण्य) प्रकृतियों का अवांछितवृत्ति से आस्रव करता है, तथापि उन्हें उपादेय नही मानता है ॥५४॥

अथ योऽसौ निश्चयेन पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स मोहन मोहितः सन् संसारं परिभ्रमतीति कथयति—

अब कहते है कि जो निश्चयनय से पुण्य-पाप दोनों को समान नही मानता, वह मोह से मोहित हुआ संसार में परिभ्रमण करता है—

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥५५॥

य: नैव मन्यते जीवः समाने पुण्यमपि पापमपि द्वे ।
स चिरं दुःखं सहमानः जीव मोहेन हिण्डते लोके ॥५५॥

जो इत्यादि। **जो णवि मण्णइ** यः कर्ता नैव मन्यते **जीउ** जोवः। किं न मन्यते। **समु** समाने। के। **पुण्णु वि पाउ वि दोइ** पुण्यमपि पापमपि द्वे **सो** स जीवः **चिरु दुक्खु सहंतु** चिरं वहुतरं कालं दुःखं सहमानः सन् **जिय** हे जीव **मोहिं हिंडइ लोइ** मोहेन मोहितः सन् हिण्डते भ्रमति। क्व। लोके संसारे इति। तथा च। यद्यप्यसद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावपुण्य-पापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपापरहितशुद्धात्मनः सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्वन्धं प्रति समाने एव भवतः। एवं नयविभागेन योऽसौ पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स निर्मोहशुद्धात्मनो विपरीतेन मोहेन मोहितः सन् संसारे परिभ्रमति इति। अत्राह **प्रभाकरभट्टः**। तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। भगवानाह। यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधि लव्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव। यदि पुन-स्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपो-

धनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ।।५५।।

जो जीउ पुण्णु वि पाउ वि दोइ समु णवि मण्णइ, स मोहिं चिरु दुक्खु सहंतु लोइ हिंडइ ।।५५।। जो जीव पुण्य और पाप दोनों को समान नही मानता, वह जीव मोह से मुग्ध हुआ बहुत काल तक दुःख सहते हुए ससार में झूलता रहता है। **भावार्थ**–यद्यपि असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्य पुण्य और द्रव्य पाप परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही अशुद्धनिश्चयनय से भाव पुण्य और भाव पाप भी परस्पर भिन्न है तो भी शुद्ध निश्चयनय से पुण्य-पापरहित शुद्धात्मा से दोनो ही भिन्न हुए, बन्धरूप होने से दोनो —सोने की वेडी और लोहे की वेडी की भाँति–समान ही है। इस प्रकार नयविभाग से जो पुण्य और पाप दोनों को समान नही मानता, वह निर्मोह शुद्धात्मा से विपरीत मोह से मुग्ध हुआ संसार मे परिभ्रमण करता है। ऐसा सुनकर प्रभाकरभट्ट **प्रश्न** करते है कि यदि ऐसा ही है तो फिर आप उन परमतवादियो को क्यों दूपण देते है जो पुण्य और पाप दोनो को समान मानकर आचरण करते है। गुरुदेव **उत्तर** देते है—यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षण स्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्पसमाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुए, पुण्य-पाप को समान समझते हैं, तव तो सम्मत ही है परन्तु जो मूढ परमसमाधि को न पाकर भी गृहस्थावस्था मे दानपूजादिक शुभ क्रियाओ को छोड देते हैं और मुनि अवस्था में छह आवश्यकादिक को छोड देते है— वे भ्रष्ट है और निन्दनीय है ।।५५।।

अथ येन पापफलेन जीवो दुःख प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो भवति तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयति—

अब कहते है कि जिस पाप के फल से जीव दुःख पाकर भी उसको दूर करने के लिए धर्माभिमुख होता है, वह पाप का फल भी समीचीन है—

वर जिय पावइँ सुंदरइँ णाणिय ताइँ भणंति ।
जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइँ जाइँ कुणंति ।।५६।।

वरं जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शिवमति यानि कुर्वन्ति ।।५६।।

वर जिय इत्यादि । **वर जिय** वरं किंतु हे जीव **पावइं सुंदरइं** पापानि सुन्दराणि समीचीनानि **भणंति** कथयन्ति । के । **णाणिय** ज्ञानिनः तत्त्ववेदिनः । कानि । **ताइं** तानि पूर्वोक्तानि पापानि । कथंभूतानि । **जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु सिवमइं जाइं कुणंति** जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शीघ्रं शिवमति मुक्तियोग्यमति यानि कुर्वन्ति । अयमत्राभिप्रायः । यत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं श्रीधर्म लभते जीवस्तत्पापजनितदुःखमपि श्रेष्ठमिति कस्मादिति चेत् । 'आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति' इति वचनात् ।।५६।।

जिय ! जाइँ जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइँ कुणंति ताइँ पावइँ वर सुंदरइँ णाणिय भणंति ।।५६।। हे जीव ! जो पापोदय जीवों को दुःख उत्पन्न कर शीघ्र ही मोक्ष जाने के योग्य

उपायों मे बुद्धि कर देते है, तो वे पाप भी बहुत अच्छे है, ऐसा ज्ञानी कहते है। यहाँ अभिप्राय यह है कि कोई भव्यजीव पापोदय से कुगति में गया और वहाँ जाकर यदि सुलट जावे, सम्यक्त्व पावे तो उसके लिए तो वह कुगति भी श्रेष्ठ है। जो पाप जीवों को दुःख प्राप्त कराके फिर शीघ्र ही मोक्ष-मार्ग मे बुद्धि को लगावे, तो वे पाप भी अच्छे हैं। ज्ञानी पुरुष उन पापियों को भी श्रेष्ठ कहते हैं जो पाप के प्रभाव से दुःख भोग कर उस दुःख से डर के दुःख के मूल कारण पाप को जानकर उससे उदास होवें, वे प्रशंसनीय है और अन्य पापी जीव प्रशंसनीय नही है। वह पापजनित दुःख भी श्रेष्ठ है जिससे जीव भेदाभेदरत्नत्रय स्वरूप श्रीवीतरागदेव के धर्म को धारण करते हैं। क्योंकि शास्त्र का वचन है कि कोई महाभाग दुःखी होने पर धर्म मे लीन होते है ॥५६॥

अथ निदानबन्धोपार्जितानि पुण्यानि जीवस्य राज्यादिविभूतिं दत्त्वा नारकादि-दुःखं जनयन्तीति हेतोः समीचीनानि न भवन्तीति कथयति—

अब कहते हैं कि निदानबन्ध से उपार्जित पुण्य जीव को राज्यादि विभूति देकर नरकादि दु.ख उत्पन्न कराते है, इस कारण वे अच्छे नहीं होते—

मं पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति।
जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति ॥५७॥

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति।
जोवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु दुःखानि यानि जनयन्ति ॥५७॥

मं पुणु इत्यादि। **मं पुणु** मा पुनः न पुनः **पुण्णइं भल्लाइं** पुण्यानि भद्रानि भवन्तीति **णाणिय ताइं भणंति** ज्ञानिनः पुरुषास्तानि पुण्यानि कर्मतापन्नानि भणन्ति। यानि किं कुर्वन्ति। **जीवहं रज्जइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति** यानि पुण्यकर्माणि जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु शीघ्रं दुःखानि जनयन्ति। तद्यथा। निजशुद्धात्मभावनोत्थ-वीतरागपरमानन्दैकरूपसुखानुभवविपरीतेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपूर्वक-ज्ञानतपोदानादिना यान्युपार्जितानि पुण्यकर्माणि तानि हेयानि। कस्मादिति चेत्। निदानबन्धोपार्जितपुण्येन भवान्तरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदुःख लभते। रावणादिवत्। तेन कारणेन पुण्यानि हेयानीति। ये पुनर्निदानरहितपुण्यसहिताः पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगे लब्धेऽपि भोगांस्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति बलदेवादिवदिति भावार्थः। तथा चोक्तम्—'**ऊर्ध्वगा बलदेवाः स्युर्निर्निदाना भवान्तरे।**' इत्यादिवचनात् ॥५७॥

पुणु ताइँ पुण्णइँ मं भल्लाइँ जाइँ जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जणंति, णाणिय भणंति ॥५७॥ ज्ञानी पुरुष कहते है कि फिर वे पुण्य भी अच्छे नही है जो जीव को राज्यादि विभूति देकर शीघ्र ही नरकादि दु ख उत्पन्न कराते हैं। **भावार्थ**—निजशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द अतीन्द्रिय सुख का अनुभव, उससे विपरीत जो देखे-सुने-भोगे इन्द्रियो के भोग, उनकी

वांछारूप निदानबन्धपूर्वक दान तप आदि से उपार्जित किये जो पुण्यकर्म है, वे हेय है। क्योंकि निदानबन्ध से उपार्जित पुण्य से भवान्तर में राज्यादिविभूति की प्राप्ति होने पर भोगों को नहीं छोड़ सकता है, फलतः अज्ञानी जीव उस पुण्य से नरकादि का दुःख प्राप्त करता है, जैसे रावण ने प्राप्त किया। इसलिए ऐसा पुण्य भी हेय होता है; जबकि जो निदानरहित और पुण्य सहित पुरुष है, वे भवान्तर में राज्यादि भोग प्राप्त होने पर भी भोगो का परित्याग करके, जिनदीक्षा ग्रहण करके धर्म का सेवन कर बलदेवादि की तरह ऊर्ध्वगतिगामी होते हैं। ऐसा अन्यत्र भी कहा है कि भवान्तर में निदानबन्ध नही करते हुए महामुनि बलदेव की भाँति ऊर्ध्वगामी होते हैं ।।५७।।

अथ निर्मलसम्यक्त्वाभिमुखानां मरणमपि भद्रं, तेन विना पुण्यमपि समीचीनं न भवतीति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि निर्मल सम्यक्त्वाभिमुख जीवों का मरण भी कल्याणकारी है, सम्यक्त्व के विना पुण्य भी अच्छा नही है—

वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।
मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ।।५८।।

वरं निजदर्शनाभिमुखः मरणमपि जीव लभस्व ।
मा निजदर्शनविमुखः पुण्यमपि जीव करिष्यसि ।।५८।।

वर इत्यादि । **वर णियदंसणअहिमुहउ** वरं किंतु निजदर्शनाभिमुखः सन् **मरणु वि जीव लहेसि** मरणमपि हे जीव । लभस्व भज । **मा णियदंसणविम्मुहउ** मा पुनर्निजदर्शनविमुखः सन् **पुण्णु वि जीव करेसि** पुण्यमपि हे जीव करिष्यसि । तथा च स्वकीयनिर्दोषिपरमात्मानुभूतिरुचिरूपं त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणनिश्चयचारित्राविनाभूतं वीतरागसंज्ञं निश्चयसम्यक्त्वं भण्यते तदभिमुखः सन् हे जीव मरणमपि लभस्व दोषो नास्ति तेन विना पुण्यं मा कार्षीरिति । अत्र सम्यक्त्वरहिता जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते । सम्यक्त्वसहिताः पुनः पूर्वभवान्तरोपार्जितपापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारणेन, तेन कारणेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रम् । सम्यक्त्वरहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति । कस्मात् । तेन निदानबद्धपुण्येन भवान्तरे भोगान् लब्ध्वा पश्चान्नरकादिकं गच्छन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—"**वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः । न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ।।**" ।।५८।।

जीव ! णियदंसण-अहिमुहउ मरणु वि लहेसि वर । जीव ! णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि करेसि मा वर ।।५८।। हे जीव ! अपने सम्यग्दर्शन के सम्मुख होकर मृत्यु पाना भी अच्छा है परन्तु हे जीव ! अपने सम्यग्दर्शन से विमुख होकर पुण्य भी करे तो अच्छा नही। निर्दोष निज परमात्मा की अनुभूति की रुचिरूप तीन गुप्तिमयी जो निश्चयचारित्र उससे अविनाभावी जो वीतरागनिश्चय-

सम्यक्त्व, उसके सम्मुख हुआ हे जीव ! यदि तू मरण भी प्राप्त करे, तो दोष नहीं और उस सम्यक्त्व के विना मिथ्यात्वावस्था में पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं। सम्यक्त्वरहित जीव पुण्यसहित होने पर भी पाप जीव कहे जाते हैं। और सम्यक्त्वसहित जीव पूर्वभव के उपार्जित पाप के फल को भोगते हुए भी पुण्यजीव कहे जाते हैं अतः सम्यक्त्वसहित जीवों का तो मरण भी अच्छा। और सम्यक्त्वरहित जीवों का पुण्य भी अच्छा नहीं। क्यों ? क्योंकि उस निदानबद्ध पुण्य से भवान्तर में भोगों को पाकर फिर नरकादिक में जाते हैं, यह भावार्थ है। अन्यत्र भी कहा है कि सम्यक्त्व सहित नरक में रहना भी अच्छा और सम्यक्त्व रहित का स्वर्ग में निवास भी शोभा नहीं देता ॥५८॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि द्रढयति—

अब इसी अर्थ को फिर दृढ़ करते हैं—

जे णिय-दंसण- अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति ।
तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥५९॥

ये निजदर्शनाभिमुखाः सौख्यमनन्त लभन्ते ।
तेन विना पुण्य कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तं सहन्ते ॥५९॥

जे णिय इत्यादि। जे ये केचन **णियदंसणअहिमुहा** निजदर्शनाभिमुखास्ते पुरुषाः **सोक्खु अणंतु लहंति** सौख्यमनन्तं लभन्ते। अपरे केचन **तिं विणु पुण्णु करंता वि** तेन सम्यक्त्वेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि। **दुक्खु अणंतु सहंति** दुःखमनन्तं सहन्त इति- तथाहि। निजशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वाभिमुखा ये ते केचनास्मिन्नेव भवे **धर्मपुत्रभीमार्जुनादिवदक्षयसुखं** लभन्ते, ये केचन **पुनर्नकुलसहदेवादिवत्** स्वर्गसुखं लभन्ते। ये तु सम्यक्त्वरहितास्ते पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तमनुभवन्तीति तात्पर्यम् ॥५९॥

जे णियदंसण-अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति । तिं विणु पुण्णु करंता वि अणंतु दुक्खु सहंति ॥५९॥ जो निजदर्शन-सम्यग्दर्शन के सम्मुख है, वे अनन्तसुख प्राप्त करते हैं और जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं, वे पुण्य करते हुए भी अनन्त दुःख भोगते हैं। **भावार्थ**—निजशुद्धात्मा की प्राप्तिरूप निश्चयसम्यक्त्व के सम्मुख हुए जो सत्पुरुष हैं, वे इसी भव में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन की भाँति अक्षय सुख प्राप्त करते हैं और अन्य कितने ही नकुल-सहदेव की भाँति स्वर्गसुख-अहमिन्द्रपद का सुख भोगते हैं। जो सम्यक्त्व से रहित जीव हैं वे पुण्य करते हुए भी क्योंकि मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं अतः संसार में अनन्त दुःख का ही अनुभव करते हैं, यह **तात्पर्य** है ॥५९॥

अथ निश्चयेन पुण्यं निराकरोति—

अब निश्चय से मिथ्यादृष्टियों के पुण्य का निषेध करते हैं—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥६०॥

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मतिमोहः ।
मतिमोहेन च पापं तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु ॥६०॥

पुण्णेण इत्यादि । **पुण्णेण होइ विहवो** पुण्येन विभवो विभूतिर्भवति, **विहवेण मओ** विभवेन मदोऽहंकारो गर्वो भवति, **मएण मइमोहो** विज्ञानाद्यष्टविधमदेन मतिमोहो मतिभ्रंशो विवेकमूढत्वं भवति ।**मइमोहेण य पावं** मतिमूढत्वेन पापं भवति, **ता पुण्णं अम्ह मा होउ** तस्मादित्थंभूतं पुण्यं अस्माकं मा भूदिति । तथा च । इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवत् । यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गताः इति भावार्थः ।।तथा चोक्तं चिरन्तनानां निरहंकारत्वम्—**"सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे, लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निवृ तेः । येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराश्चित्रं संप्रति लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥"** ॥६०॥

पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ, मएण मइ-मोहो, य मइमोहेण पावं, ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥६०॥ पुण्य से वैभव की प्राप्ति होती है, वैभव से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धिभ्रम होता है, बुद्धिभ्रम होने से पाप होता है इसलिए ऐसा पुण्य हमारे नही होवे । भावार्थ—भेदाभेदरत्नत्रय की आराधना से रहित, देखे-सुने और अनुभूत भोगों की वांछारूप निदानबन्ध के परिणामों सहित जीव के द्वारा पूर्वभव में उपार्जित पुण्य के फल से जो वैभव प्राप्त होता है, उससे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकार से बुद्धि नष्ट होती है, बुद्धि के नष्ट होने पर पापार्जन होता है और फिर पाप से भव-भव में अनन्त दुःख पाता है । अतः मिथ्यादृष्टियो का पुण्य पाप का ही कारण है । जो सम्यक्त्वादि गुणसहित भरत, सगर, राम, पाण्डवादि विवेकी जीव हैं, उनके पुण्य जैसा नही है । यदि पुण्य सब को ही मद पैदा करे तो कैसे ये पुण्यवान जीव मद-अहंकारादि विकल्प का त्याग कर मोक्ष गए । सम्यग्दृष्टिजीवो के निरहंकारत्व के सम्बन्ध में अन्यत्र भी कहा है--"इस लोक में पूर्वकाल मे कई महापुरुष हो गए जिनके वचनों में सत्य, बुद्धि मे शास्त्र, हृदय में दया, भुजाओं मे पराक्रम, लक्ष्मी की याचना करने वाले समूह में पूर्ण दान और मोक्षमार्ग में गमन—ऐसे ऐसे गुण हुए तो भी शास्त्रो मे उनको अहंकार रहित बताया गया है, परन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि इस पचमकाल में आज लेशमात्र भी जिनमें गुण नही हैं, तो भी वे उद्धत देखे जाते है, महागर्व में तृप्त हो रहे हैं ।" (गुणभद्राचार्य-आत्मानुशासन २१८) ॥६०॥

अथ देवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति—

अब कहते है कि देवशास्त्रगुरु की भक्ति से मुख्यता से पुण्यबन्ध होता है, साक्षात् मोक्ष नही—

देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ भत्तिए पुण्णु हवेइ।
कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥६१॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति।
कर्मक्षय: पुन: भवति नैव आर्य: शान्ति: भणति ॥६१॥

देवहँ इत्यादि। **देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ भत्तिए पुण्णु हवेइ** देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या पुण्यं भवति **कम्मक्खउ पुणु होइ णवि** कर्मक्षय: पुनर्मुख्यवृत्त्या नैव भवति। एवं कोऽसौ भणति। अज्जउ आर्य:। किं नामा। **सन्ति** शान्ति: **भणेइ** भणति कथयति इति। तथाहि। सम्यक्त्वपूर्वकदेवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यमेव भवति न च मोक्ष:। अत्राह **प्रभाकरभट्ट:**। यदि पुण्यं मुख्यवृत्त्या मोक्षकारणं न भवत्युपादेयं च न भवति तर्हि **भरतसगररामपाण्डवादयोऽपि** निरन्तरं पञ्चपरमेष्ठिगुणस्मरणदानपूजादिना निर्भरभक्ता: सन्त: किमर्थं पुण्योपार्जनं कुर्युरिति। भगवानाह। यथा कोऽपि रामदेवादिपुरुषविशेषो देशान्तरस्थितसीतादिस्त्रीसमीपागतानां पुरुषाणां तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेऽपि महापुरुषा: वीतरागपरमानन्दैकरूपमोक्षलक्ष्मीसुखसुधारसपिपासिता: सन्त: संसारस्थितिविच्छेदकारणं विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठिसंवन्धिगुणस्मरणदानपूजादिकं कुर्युरिति। अयमत्र भावार्थ:। तेषां पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिपरिणतानां कुटुम्बिनां पलालवदनीहितं पुण्यमास्रवतीति ॥६१॥

देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ भत्तिए पुण्णु हवेइ, पुणु कम्मक्खउ णवि होइ, अज्जउ संति भणेइ ॥६१॥ देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति से पुण्य होता है, तत्काल कर्मो का क्षय नहीं होता ऐसा शान्ति नामक आर्य अथवा कपटरहित सन्त पुरुष कहते हैं। सम्यक्त्वपूर्वक देवशास्त्रगुरु की भक्ति से मुख्यत: पुण्यवन्ध होता है न कि मोक्ष, यह सुन कर प्रभाकरभट्ट **प्रश्न** करते हैं कि यदि पुण्य मुख्यत: मोक्ष का कारण नही होता है और उपादेय नही होता है तो भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि ने निरन्तर पञ्चपरमेष्ठियों का गुणस्मरण क्यों किया और दान-पूजादि शुभक्रियाओं से पूर्ण होकर क्यों पुण्यार्जन किया? श्री गुरु इसका **उत्तर** देते हैं—जैसे कोई रामदेवादि पुरुष देशान्तर स्थित अपनी स्त्री सीता के पास से आए हुए पुरुषों का दान-सम्मान करता है, उनसे वातें करता है—ये सव उसकी प्रिया के कारण है, कुछ उसके प्रसाद के कारण नही है। उसी तरह वे भरत, सगर, राम, पाण्डवादि महान् पुरुष वीतराग परमानन्दरूप मोक्षलक्ष्मी के सुख-अमृतरस के प्यासे हुए ससार की स्थिति को छेदने के लिए विषयकपाय से उत्पन्न हुए आर्त्त रौद्र खोटे ध्यानों के नाश का कारण श्री पंचपरमेष्ठी के गुणो का स्मरण करते हैं और दानपूजादिक करते हैं। पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ क्रिया को परिणत हुए जो भरत-आदिक है, उनके विना चाहे पुण्यप्रकृति का आस्रव होता है। जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर है, तृणभूसादि पर नही है। अनचाहे पुण्य का वन्ध सहज में ही हो जाता है, वह उनको संसार में नहीं भटका सकता है, वे मोक्ष के पात्र हैं ॥६१॥

अथ देवशास्त्रमुनीनां योऽसौ निन्दा करोति तस्य पापबन्धो भवतीति कथयति—

अब कहते हैं कि जो देवशास्त्र और मुनियों की निन्दा करता है, उसके पापबन्ध होता है—

देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ जो विद्देसु करेइ ।
णियमें पाउ हवेइ तसु जें संसारु भमेइ ।।६२।।

देवाना शास्त्राणां मुनिवराणां यो विद्वेषं करोति ।
नियमेन पाप भवति तस्य येन ससार भ्रमति ।।६२।।

देवहं इत्यादि । **देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ** देवशास्त्रमुनीनां साक्षात्पुण्यबन्धहेतुभूतानां परंपरया मुक्तिकारणभूतानां च योऽसौ विद्वेषं करोति । तस्य किं भवति । **णियमें पाउ हवेइ तसु** नियमेन पापं भवति तस्य । येन पापबन्धेन किं भवति । **जें संसारु भमेइ** येन पापेन संसारं भ्रमतीति । तद्यथा । निजपरमात्मपदार्थोपलम्भरुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वकारणस्य तत्त्वार्थश्रद्धानरूपव्यवहारसम्यक्त्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रयतीनां योऽसौ निन्दां करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवति । मिथ्यात्वेन पापं बध्नाति, पापेन चतुर्गतिसंसारं भ्रमतीति भावार्थः ।।६२।।

देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ जो विद्देसु करेइ, तसु णियमें पाउ हवेइ, जे संसारु भमेइ ।।६२।। देव, शास्त्र और गुरु से जो जीव विद्वेष करता है, उसके निश्चय से पाप होता है, जिससे वह जीव संसार में भटकता है। साक्षात् पुण्यबन्ध के कारण और परम्परा से मोक्ष के कारण जो देवशास्त्रगुरु हैं उनकी निन्दा करने से उत्पन्न हुए पाप से जीव संसार मे परिभ्रमण करता है। **भावार्थ**–निज परमात्मद्रव्य की प्राप्ति की रुचि वही निश्चयसम्यक्त्व, उसका कारण तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहार-सम्यक्त्व, उसके मूल अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, और दयामयी धर्म—इनकी जो निन्दा करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। मिथ्यात्व से महान् पाप बाँधता है और पाप से चतुर्गतिरूप ससार में भ्रमण करता है ।।६२।।

अथ पूर्वसूत्रद्वयोक्तं पुण्यपापफलं दर्शयति—

अब पहले दो सूत्रो मे कथित पुण्य-पाप का फल दर्शाते हैं—

पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु ।
मिस्सें माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु ।।६३।।

पापेन नारकः तिर्यग् जीवः पुण्येनामरो विजानीहि ।
मिश्रेण मनुष्यगतिं लभते द्वयोरपि क्षये निर्वाणम् ।।६३।।

पावें इत्यादि । **पावें** पापेन **णारउ तिरिउ** नारको भवति तिर्यग्भवति । कोऽसौ । **जिउ** जीवः **पुण्णें अमरु वियाणु** पुण्येनामरो देवो भवतीति जानीहि । **मिस्सें माणुसगइ लहइ**

मिश्रेण पुण्यपापद्वयेन मनुष्यगतिं लभते । **दोहि वि खइ णिव्वाणु** द्वयोरपि कर्मक्षयेऽपि निर्वाणमिति । तद्यथा । सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशाद्विपरीतेन छेदनादिनारकतिर्यग्गतिदुःखदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकतिर्यग्गतिभाजनो भवति जीवः । तस्मादेव शुद्धात्मनो विलक्षणेन पुण्योदयेन देवो भवति । तस्मादेव शुद्धात्मनो विपरीतेन पुण्यपापद्वयेन मनुष्यो भवति । तस्यैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवतीति तात्पर्यार्थः । तथा चोक्तम्–"**पावेण णरयतिरियं गम्मइ धम्मेण देवलोयम्मि । मिस्सेण माणुसत्तं दोण्हं पि खएण णिव्वाणं ।।**" ।।६३।।

जिउ पावें णारउ तिरिउ, पुण्णें अमरु, मिस्सें माणुस-गइ लहइ, दोहि वि खइ णिव्वाणु वियाणु ।।६३।। यह जीव पापोदय से नरकगति और तिर्यचगति पाता है, पुण्य से देव होता है, पुण्य और पाप दोनों के मेल से मनुष्यगति पाता है और पुण्य-पाप दोनों के नाश से मोक्ष प्राप्त करता है । **भावार्थ**–सहजशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव जो परमात्मा है, उससे विपरीत यह जीव छेदन-भेदन आदि नरक-तिर्यच गति के दुःख देने में समर्थ पापकर्मोदय से नरक-तिर्यचगति का पात्र होता है । पुण्योदय से उसी शुद्धात्मा से भिन्न देवगति में देव होता है । शुद्धात्मा से विपरीत पुण्य-पाप दोनों के योग से मनुष्य होता है और उसी विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव वाले निजशुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप शुद्धोपयोग से मुक्त होता है–यह तात्पर्य है । कहा भी है–"यह जीव पाप से नरक तिर्यचगति को जाता है और धर्म (पुण्य) से देवलोक में जाता है, पुण्य-पाप दोनों के मेल से मनुष्य देह प्राप्त करता है और दोनो के क्षय से मोक्ष पाता है ।।"६३।।

अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनस्वरूपे स्थित्वा व्यवहारप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानालोचनां त्यजन्तीति त्रिकलेन कथयति—

अब तीन गाथाओं में कहते हैं कि निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना स्वरूप शुद्धोपयोग में ठहर कर व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान और व्यवहार आलोचना रूप शुभोपयोग को छोड़ता है–

वंदणु णिंदणु पडिकमणु पुण्णहँ कारणु जेण ।
करइ करावइ अणुमणइ एक्कु वि णाणि ण तेण ।।६४।।

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं पुण्यस्य कारणं येन ।
करोति कारयति अनुमन्यते एकमपि ज्ञानी न तेन ।।६४।।

वंदणु इत्यादि । **वंदणु णिंदणु पडिकमणु** वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणत्रयम् । किंविशिष्टम् । **पुण्णहं कारणु** पुण्यस्य कारणं **जेण** येन कारणेन **करइ करावइ अणुमणइ** करोति कारयति अनुमोदयति, **एक्कु वि** एकमपि, **णाणि ण तेण** ज्ञानी पुरुषो न तेन

कारणेनेति । तथाहि । शुद्धनिर्विकल्पपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्मरणरूपाणामतीतरागादिदोषाणां निराकरणं निश्चयप्रतिक्रमणं भवति, वीतरागचिदानन्दैकानुभूतिभावनाबलेन भाविभोगाकांक्षारूपाणां रागादीनां त्यजनं निश्चयप्रत्याख्यानं भण्यते, निजशुद्धात्मोपलम्भबलेन वर्तमानोदयागतशुभाशुभनिमित्तानां हर्षविषादादिपरिणामानां निजशुद्धात्मद्रव्यात् पृथक्करणं निश्चयालोचनमिति । इत्थंभूते निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रये स्थित्वा योऽसौ व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तत्त्रयानुकूलं वन्दननिन्दनादिशुभोपयोगं च त्यजन् स ज्ञानी भण्यते न चान्य इति भावार्थ: ।।६४।। अथ—

वंदणु णिंदणु पडिकमणु जेण पुण्णहँ कारणु, तेण णाणि एक्कु वि ण करइ करावइ अणुमणइ ।।६४।। वन्दना, निन्दा और प्रतिक्रमण—ये जो पुण्य के कारण हैं, ज्ञानी जीव इन तीनों मे से एक भी न करता है, न कराता है और न करते हुए की अनुमोदना करता है । **विशेष**–शुद्ध निर्विकल्प परमात्मतत्त्व की भावना के बल से देखे-सुने और अनुभूत भोगो की आकांक्षा-स्मरण रूप अतीत के रागादि दोषों का निराकरण करना वह **निश्चयप्रतिक्रमण** है; वीतराग चिदानन्द शुद्धात्मा की अनुभूति की भावना के बल से भावी भोगों की आकांक्षारूप रागादिक का त्याग वह **निश्चयप्रत्याख्यान** है; निजशुद्धात्मा की उपलब्धि के बल से वर्तमान मे उदयागत शुभाशुभ के कारण हर्ष-विषादादि परिणामों को निजशुद्धात्मद्रव्य से पृथक् करना वह **निश्चय आलोचना** है । इस तरह निश्चयप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान और आलोचना मे ठहर कर जो कोई व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान, व्यवहार आलोचना इन तीनों के अनुकूल वन्दना, निन्दा आदि शुभोपयोग है, उनको छोड़ता हैं, वही ज्ञानी कहा जाता है, अन्य नही । यह भावार्थ है ।।६४।।

वंदणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिँ एहु ण जुत्तु ।
एक्कु जि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ।।६५।।

वन्दनं निन्दन प्रतिक्रमण ज्ञानिना इद न युक्तम् ।
एकमेव मुक्त्वा ज्ञानमयं शुद्ध भाव पवित्रम् ।।६५।।

वंदणु णिंदणु पडिकमणु वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणत्रयम् । **णाणिहु एहु ण जुत्तु** ज्ञानिनामिदं न युक्तम् । किं कृत्वा । **एक्कुजि मेल्लिवि** एकमेव मुक्त्वा । एकं कम् । **णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु** ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति । तथाहि । पञ्चेन्द्रियभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तविभावरहित: शून्य: केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसहजानन्दपरमसमरसीभावलक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थो योऽसौ ज्ञानमयो भाव: तं भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तदनुकूलं वन्दननिन्दनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिना युक्त न भवतीति तात्पर्यम् ।।६५।। अथ—

एक्कु जि णाणमउ सुद्धउ पवित्तु भाउ मेल्लिवि णाणिहिँ वंदणु णिंदणु पडिकमणु एहु ण जुत्तु ॥६५॥ एक ज्ञानमय शुद्ध पवित्र भाव को छोड़कर ज्ञानी का वन्दन, निन्दा और प्रतिक्रमण ये तीनों ही करना योग्य नही है। पचेन्द्रियो की भोगाकांक्षा आदि समस्त विभावों से रहित जो केवल ज्ञानादि अनन्त गुणरूप परमात्मतत्त्व उसके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप निर्विकल्प समाधि से समुत्पन्न जो परमानन्द परमसमरसीभाव, वही हुआ अमृतरस उसके आस्वाद से परिपूर्ण जो ज्ञानमयी भाव, उसे छोडकर अन्य व्यवहार प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना के अनुकूल वन्दन, निन्दनादि शुभोपयोग विकल्प-जाल है, वे पूर्णज्ञानी को करने योग्य नहीं है। यह तात्पर्य है ॥६५॥

वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु।
पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मण-सुद्धि ण तासु ॥६६॥

वन्दतां निन्दतु प्रतिक्रामतु भाव: अशुद्धो यस्य।
परं तस्य संयमोऽस्ति नैव यस्मात् मन: शुद्धिर्न तस्य ॥६६॥

वंदउ इत्यादि। **वंदउ णिंदउ पडिकमउ** वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणं करोतु। **भाउ असुद्धउ जासु** भाव: परिणाम: न शुद्धो यस्य, **पर** परं नियमेन **तसु** तस्य पुरुषस्य **संजमु अत्थि णवि** संयमोऽस्ति नैव। कस्मान्नास्ति। **जं** यस्मात् कारणात् **मणसुद्धि ण तासु** मन:शुद्धिर्न तस्येति। तद्यथा। नित्यानन्दैकरूपस्वशुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षैर्विषयकषायाधीनैः ख्यातिपूजालाभादिमनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपञ्चोत्पन्नैरपध्यानैर्यस्य चित्तं रञ्जितं वासितं तिष्ठति तस्य द्रव्यरूपं वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणादिकं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नास्ति इत्यभिप्राय: ॥६६॥

वंदउ णिंदउ पडिकमउ जासु असुद्धउ भाउ तसु पर संजमु णवि अत्थि जं तासु ण मणसुद्धि ॥६६॥ चाहे वन्दना करो, चाहे निन्दा करो और चाहे प्रतिक्रमण लेकिन जिसके जबतक अशुद्ध परिणाम है, उसके नियम से संयम नहीं हो सकता क्योंकि उसके मन की शुद्धता नही है। जिसका मन शुद्ध नही, उसके संयम कहाँ से हो सकता है? नित्यानन्द एकरूप निजशुद्धात्मानुभूति के प्रतिपक्षी विपयकपायों के आधीन ख्याति पूजालाभादि सैकड़ों मनोरथों के विकल्पजालमाला के प्रपंच से उत्पन्न अपध्यान (आर्त्त-रौद्र) से जिसका चित्त रंगा हुआ है, उसके द्रव्यरूप (व्यवहाररूप) वन्दना, निन्दा, प्रतिक्रमणादि करते हुए भी भावसयम नही होता है, यह **अभिप्राय** है ॥६६॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयनयेन पुण्यपापद्वय समानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्दशसूत्रस्थलं समाप्तम्। अथानन्तरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रान्तरस्थलचतुष्टयं भवति। तद्यथा। प्रथमसूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानं करोति, तदनन्तरं पञ्चदश सूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानम्, अत ऊर्ध्व सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनन्तरं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं केवलज्ञानादिगुणस्वरूपेण

सर्वे जीवा: समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा ।

इस प्रकार मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्गादि प्रतिपादक दूसरे महाधिकार में निश्चयनय से पुण्य पाप दोनों समान है, इस व्याख्यान की मुख्यता से चौदह दोहे कहे । अव शुद्धोपयोगादि के प्रतिपादन की मुख्यता से ४१ दोहों में व्याख्यान करते है । उसमें चार अन्तरस्थल है—पहले पाँच दोहों में शुद्धोपयोग का व्याख्यान करते है, उसके वाद १५ दोहो में वीतराग स्वसंवेदनज्ञान की मुख्यता से व्याख्यान है, इससे आगे ८ दोहों में परिग्रहत्याग की मुख्यता से कथन है, अनन्तर तेरह दोहों में केवलज्ञानादिगुण स्वरूप से सव जीव समान है- इस मुख्यता से व्याख्यान किया गया है ।

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादय: सर्वे गुणास्तिष्ठन्तीति प्रतिपादयति—

अव कहते हैं कि रागादिविकल्प की निवृत्तिरूप शुद्धोपयोग में संयमादि सव गुण रहते है—

सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु ।
सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ।।६७।।

शुद्धाना सयम: शील तप: शुद्धानां दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धानां कर्मक्षयो भवति शुद्धो तेन प्रधान: ।।६७।।

सुद्धहं इत्यादि । **सुद्धहं** शुद्धोपयोगिनां **संजमु** इन्द्रियसुखाभिलापनिवृत्तिवलेन पड्जीवनिकायहिंसानिवृत्तिवलेनात्मना आत्मनि संयमनं नियमनं संयम: स पूर्वोक्त: शुद्धोपयोगिनामेव । अथवोपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेपामेव संभवत: । अथवा सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातभेदेन पञ्चधा संयम: सोऽपि लभ्यते तेपामेव । **सीलु** स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिवृत्तिर्वर्तनं इति निश्चयव्रतं, व्रतस्य रागादिपरिहारेण परिरक्षणं निश्चयशीलं तदपि तेषामेव । **तउ** द्वादशविधतपश्चरणवलेन परद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा शुद्धात्मनि प्रतपनं विजयनं तप इति । तदपि तेषामेव । **सुद्धहं** शुद्धोपयोगिनां **दंसणु** छद्मस्थावस्थायां स्वशुद्धात्मनि रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्यां तस्यैव फलभूतं अनीहितविपरीताभिनिवेशरहितं परिणामलक्षणं क्षायिकसम्यक्त्व केवलदर्शनं वा तेषामेव । **णाणु** वीतरागस्वसवेदनज्ञानं तस्यैव फलभूतं केवलज्ञानं वा **सुद्धहं** शुद्धोपयोगिनामेव । **कम्मक्खउ** परमात्मस्वरूपोपलब्धिलक्षणो द्रव्यभावकर्मक्षय: **हवइ** तेषामेव भवति । **सुद्धउ** शुद्धोपयोगपरिणामस्तदाधारपुरुपो वा **तेण पहाणु** येन कारणेन पूर्वोक्ता: सयमादयो गुणा: शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते नेन कारणेन स एव प्रधान उपादेय: इति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम् शुद्धोपयोगफलम्— **"सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं । सुद्धस्स य णिव्वाणं सो चिय सुद्धो णमो तस्स ।।"** ।।६७।।

सुद्धहँ संजमु सीलु तउ, सुद्धहँ दंसणु णाणु । सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ तेण सुद्धउ पहाणु ॥६७॥
शुद्धोपयोगियो के ही पाँच इन्द्रियों और छठे मन को रोकने रूप सयम, शील और तप होते हैं। शुद्धों के ही सम्यग्दर्शन और वीतरागस्वसंवेदनज्ञान होता है, शुद्धों के ही कर्मों का क्षय होता है, इसलिए शुद्धोपयोग ही जगत् में प्रधान है। **भावार्थ**-शुद्धोपयोगियों के इन्द्रियसुख की अभिलाषा से निवृत्ति होने से तथा छह काय के जीवों की हिंसा से निवृत्ति के बल से आत्मा का आत्मा में निश्चल रहना, उसका नाम **संयम है**। अथवा **उपेक्षासंयम** अर्थात् तीन गुप्ति में आरूढ़ और **अपहृत संयम** अर्थात् पाँच समितियों का पालन करना अथवा वीतरागसंयम और **सरागसंयम** भी उन शुद्धोपयोगियों के हो होता है। अथवा सामायिक, छेदोपस्थापन,परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात के भेद से पाँच प्रकार का सयम भी उन्ही के पाया जाता है। **शील** अर्थात् अपने से अपनी आत्मा में प्रवृत्ति करना यह निश्चय शील है। रागादि के परिहार से व्रत की रक्षा करना वह भी निश्चयशील है, यह भी उन्हीं के होता है। वारह प्रकार के **तप** के बल से परद्रव्यों का इच्छानिरोध करके शुद्धात्मा में प्रतपन करना, कामक्रोधादिशत्रुओं को विजय करना तप है, यह भी उन्ही के होता है। **दर्शन** अर्थात् छद्मावस्था में निजशुद्धात्मा में रुचिरूप सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर उसके फलभूत संशय, विमोह, विभ्रम रहित निजपरिणामरूप क्षायिक सम्यक्त्व केवलदर्शन यह भी शुद्धोपयोगियो के ही होता है। **ज्ञान** अर्थात् वीतराग स्वसंवेदनज्ञान और उसके फलभूत केवलज्ञान, वह भी शुद्धोपयोगियों के ही होता है और कर्मक्षय अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का नाश तथा परमात्मस्वरूप की प्राप्ति भी शुद्धोपयोगियों के ही होती है। अतः शुद्धोपयोग परिणाम और उन परिणामों को धारण करने वाला पुरुष ही जगत् में प्रधान है क्योंकि संयमादि सर्वगुण शुद्धोपयोग में ही पाये जाते है अतः शुद्धोपयोग के समान कोई अन्य उपादेय नही है, यह **तात्पर्य** जानना। अन्यत्र भी शुद्धोपयोग का फल इस प्रकार कहा है—"शुद्धोपयोगी के ही मुनिपना कहा गया है, उसी के दर्शन ज्ञान कहे है, उसी के निर्वाण है। वही शुद्ध अर्थात् रागादि रहित है, उसको हमारा नमस्कार है।" (प्रवचनसार ३-७४) ॥६७॥

अथ निश्चयेन स्वकीयशुद्धभाव एव धर्म इति कथयति—
अव कहते है कि निश्चय से अपना शुद्धभाव ही धर्म है—

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु ।
चउ-गइ-दुक्खहँ जो धरइ जीउ पडंतउ एहु ॥६८॥
भावो विशुद्धः आत्मीयः धर्म भणित्वा लाहि ।
चतुर्गतिदुःखेभ्यः यो धरति जीवं पतन्तमिमम् ॥६८॥

भाउ इत्यादि। **भाउ** भावः परिणामः। कथंभूतः **विसुद्धउ**। विशेषेण शुद्धो मिथ्यात्वरागादिरहितः **अप्पणउ** आत्मीयः **धम्मु भणेविणु लेहु** धर्म भणित्वा मत्वा प्रगृह्णीथाः। यो धर्मः किं करोति। **चउगइदुक्खहं जो धरइ** चतुर्गतिदुःखेभ्यः सकाशात् उद्धृत्य यः कर्ता धरति। कं धरति। **जीउ पडंतउ एहु** जीवमिमं प्रत्यक्षीभूतं संसारे पतन्तमिति। तद्यथा। धर्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते। संसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्रवन्द्ये मोक्षपदे धरतीति धर्म इति धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य

शुद्धपरिणाम एव ग्राह्यः। तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते। तथा अहिंसालक्षणो धर्मः, सोऽपि जीवशुद्धभावं विना न संभवति। सागारानगारलक्षणो धर्मः सोऽपि तथैव उत्तमक्षमादिदशविधो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धभावमपेक्षते। **'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः'** इत्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि तथैव। रागद्वेषमोहरहितः परिणामो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धस्वभाव एव। वस्तुस्वभावो धर्मः सोऽपि तथैव। तथा चोक्तम्– **"धम्मो वत्थुसहावो"** इत्यादि। एवंगुणविशिष्टो धर्मश्चतुर्गतिदुःखेषु पतन्तं धरतीति धर्मः। अत्राह शिष्यः। पूर्वसूत्रे भणितं शुद्धोपयोगमध्ये संयमादयः सर्वे गुणा लभ्यन्ते। अत्र तु भणितमात्मनः शुद्धपरिणाम एव धर्मः, तत्र सर्वे धर्माश्च लभ्यन्ते। को विशेषः। परिहारमाह। तत्र शुद्धोपयोगसंज्ञा मुख्या, अत्र तु धर्मसंज्ञा मुख्या एतावान् विशेषः। तात्पर्यं तदेव। तेन कारणेन सर्वप्रकारेण शुद्धपरिणाम एव कर्तव्य इति भावार्थः ॥६८॥

विसुद्धउ भाउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु। जो चउ गइ, दुक्खहँ पडंतउ एहु जीउ धरइ ॥६८॥ मिथ्यात्वरागादि रहित शुद्ध परिणाम ही अपना है, इसे ही धर्म समझकर ग्रहण करो। यह आत्मधर्म ही चारो गतियों के दुःखो मे संसार में पड़े हुए इस जीव को निकाल कर आनन्द स्थान में रखता है। भावार्थ–धर्मशब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—संसार मे गिरते हुए प्राणी को उठा कर नरेन्द्र-नागेन्द्र-देवेन्द्रवन्द्य मोक्षपद मे धरता है, वह धर्म है। यहाँ धर्म शब्द से निश्चय से जीव का शुद्ध परिणाम ही ग्रहण करना चाहिए। इसमें नयविभाग से वीतरागसर्वज्ञप्रणीत सभी धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। तथा अहिंसालक्षण वाला धर्म भी जीव के शुद्धभाव के विना सम्भव नही है। सागार-अनगारलक्षण वाला धर्म भी और उत्तमक्षमादि दशविध धर्म भी जीव के शुद्धभाव की अपेक्षा रखता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को धर्म के ईश्वर भगवान ने धर्म कहा है।' धर्म का जो यह लक्षण (आचार्यसमन्तभद्रः रत्नकरण्डश्रावकाचार-३) कहा है, यह भी वैसा ही है। 'रागद्वेषमोह से रहित परिणाम धर्म है' यह भी जीव का शुद्धस्वभाव ही है। 'वस्तु का स्वभाव धर्म है।' यह भी वही है। कहा भी है—'धम्मो वत्थु सहावो' (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-४७६)। इस प्रकार का गुणविशिष्ट धर्म चारों गतियों के दुःखों में गिरते हुए जीव का उद्धार करता है। यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया कि पूर्वदोहे मे कहा गया कि शुद्धोपयोग मे संयमादिक सभी गुण मिल जाते हैं, यहाँ आपने कहा कि आत्मा का शुद्धपरिणाम ही धर्म है, उसमें सभी धर्म पाये जाते है तो इन दोनों में क्या भेद है। इसका उत्तर देते हैं कि यहाँ इतनी ही विशेषता जाननी कि वहाँ शुद्धोपयोग सज्ञा मुख्य है और यहाँ धर्मसंज्ञा मुख्य है। तात्पर्य वही है। इसलिए सब प्रकार से शुद्धपरिणाम ही कर्त्तव्य है, यह भावार्थ है ॥६८॥

अथ विशुद्धभाव एव मोक्षमार्ग इति दर्शयति—

अब दिखलाते हैं कि शुद्धभाव ही मोक्ष का मार्ग है—

सिद्धिहिँ केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु।
जो तसु भावहँ मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ॥६९॥

सिद्धेः संबन्धी पन्थाः भावो विशुद्ध एकः ।
यः तस्माद्भावात् मुनिश्चलति स कथ भवति विमुक्तः ॥६९॥

सिद्धिहिं इत्यादि । **सिद्धिहिं केरा** सिद्धेर्मुक्तेः संबन्धी **पंथडा** पन्था मार्गः । कोऽसौ । **भाउ** भावः परिणामः कथंभूतः । **विसुद्धउ** विशुद्धः **एक्कु** एक एवाद्वितीयः । **जो तसु भावहं मुणि चलइ** यस्तस्माद्भावान्मुनिश्चलति । **सो किम होइ विमुक्क** स मुनिः कथं मुक्तो भवति न कथमपीति । तद्यथा । योऽसौ समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभावः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः । यस्तस्मात् शुद्धात्मपरिणामान्मुनिश्च्युतो भवति स कथं मोक्षं लभते किंतु नैव । अत्र येन कारणेन निजशुद्धात्मानुभूतिपरिणाम एव मोक्षमार्गस्तेन कारणेन मोक्षार्थिना स एव निरन्तरं कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः ॥६९॥

सिद्धिहिं केरा पंथडा एक्कु विसुद्धउ भाउ । जो मुणि तसु भावहं चलइ सो किम विमुक्कु होइ ॥६९॥ मुक्ति का मार्ग एक शुद्धभाव ही है । जो मुनि उस शुद्धभाव से विचलित हो जावे तो वह कैसे मुक्त हो सकता है ? किसी प्रकार नहीं हो सकता । भावार्थ–जो समस्त शुभाशुभ सकल्प-विकल्पों से रहित जीव का शुद्धभाव है, वही निश्चयरत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का मार्ग है । जो मुनि शुद्धात्म परिणाम से च्युत हो जावे, वह कैसे मोक्ष पा सकता है ? नहीं पा सकता । इसलिए जब निज-शुद्धात्मानुभूतिपरिणाम ही मोक्षमार्ग है तो मोक्ष के इच्छुक को वही भाव हमेशा करना चाहिए ॥६९॥

अथ क्वापि देशे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि चित्तशुद्धिं विना मोक्षो नास्तीति प्रकटयति—

अब यह प्रकट करते है कि किसी भी देश में जाओ, कुछ भी तप करो तो भी चित्त की शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं होता है—

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि ।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहँ सुद्धि ण जं जि ॥७०॥

यत्र भाति तत्र याहि जीव यद् भाति कुरु तदेव ।
कथमपि मोक्षः नास्ति परं चित्तस्य शुद्धिर्न यदेव ॥७०॥

जहिं भावइ इत्यादि । **जहिं भावइ तहिं** यत्र देशे प्रतिभाति तत्र **जाहि** गच्छ **जिय** हे जीव । **जं भावइ करि तं जि** यदनुष्ठानं प्रतिभाति कुरु तदेव । **केम्वइ मोक्खु ण अत्थि** कथमपि केनापि प्रकारेण मोक्षो नास्ति **पर** परं नियमेन । कस्मात् । **चित्तहं सुद्धि ण** चित्तस्य शुद्धिर्न **जं जि** यस्मादेव कारणात् इति । तथाहि । ख्याति-

पूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपदुर्ध्यानैः शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतैर्यावत्कालं चित्तं रञ्जितं मूर्च्छितं तन्मयं तिष्ठति तावत्कालं हे जीव क्वापि देशान्तरं गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि मोक्षो नास्तीति। अत्र कामक्रोधादिभिरपध्यानैर्जीवो भोगानुभवं विनापि शुद्धात्मभावनाच्युतः सन् भावेन कर्माणि बध्नाति तेन कारणेन निरन्तरं चित्तशुद्धिः कर्तव्येति भावार्थः ॥ तथा चोक्तम्—"**कंखिदकलुसिदभूदो हु कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो। णवि भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्मणि ॥**" ॥७०॥

जिय! जहिं भावइ तहिं जाहि जं भावइ तं जि करि, केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहँ सुद्धि ण जं जि ॥७०॥ हे जीव! जहाँ तेरी इच्छा हो, उसी देश में जा और जो अच्छा लगे वही कर, लेकिन जब तक मन की शुद्धि नहीं है, तब तक किसी तरह मोक्ष नहीं हो सकता। **भावार्थ**—ख्याति, पूजा, लाभ और दृष्ट-श्रुत-अनुभूतभोगों की आकांक्षारूप दुर्ध्यान में—जो शुद्धात्मानुभूति का प्रतिपक्षी है—जब तक यह चित्त रंगा हुआ है अर्थात् विषय-कषायों से तन्मय है, तब तक हे जीव! किसी देश में जा, तीर्थादिकों में भ्रमण कर अथवा चाहे जैसा आचरण कर, किसी प्रकार मोक्ष नहीं है। भाव यह है कि काम-क्रोधादि खोटे ध्यान में यह जीव भोगों के सेवन बिना भी शुद्धात्मभावना से च्युत हुआ अशुद्ध भावों में कर्मों को बाँधता है अतः हमेशा चित्त की शुद्धता रखनी चाहिए। ऐसा ही कथन अन्यत्र भी है—"इस लोक और परलोक के भोगों का अभिलाषी और कषायों से कालिमारूप हुआ अवर्तमान विषयों का वाञ्छक और वर्तमान विषयों में अत्यन्त आसक्त हुआ अति मोहित होने से भोगों को नहीं भोगता हुआ भी अशुद्ध भावों से कर्मों को बाँधता है" ॥७०॥

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयं कथयति—

अब आगे शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगों के सम्बन्ध में कहते हैं—

सुह-परिणामें धम्मु पर असुहें होइ अहम्मु।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्ध ण बंधइ कम्मु ॥७१॥

शुभपरिणामेन धर्मः परं अशुभेन भवति अधर्मः।
द्वाभ्यामपि एताभ्यां विवर्जितः शुद्धो न बध्नाति कर्म ॥७१॥

सुह इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **सुहपरिणामें धम्मु पर** शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या। **असुहें होइ अहम्मु** अशुभपरिणामेन भवत्यधर्मः पापम्। **दोहिं वि एहिं विवज्जियउ** द्वाभ्यां एताभ्यां शुभाशुभपरिणामाभ्यां विवर्जितः। कोऽसौ। **सुद्ध** शुद्धो मिथ्यात्वरागादिरहितपरिणामस्तत्परिणतपुरुषो वा। किं करोति। **ण बंधइ** न बध्नाति। किम्। **कम्मु** ज्ञानावरणादिकर्मेति। तद्यथा। कृष्णोपाधिपीतोपाधिस्फटिकवदयमात्मा क्रमेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण परिणामत्रयं परिणमति। तेन तु मिथ्यात्वविषयकषायाद्यवलम्बनेन पापं बध्नाति। अर्हत्—सिद्धाचार्योपाध्याय-

साधुगुणस्मरणदानपूजादिना संसारस्थितिच्छेदपूर्वकं तीर्थंकरनामकर्मादिविशिष्टगुणपुण्यम-नीहितवृत्त्या बध्नाति। शुद्धात्मावलम्बनेन शुद्धोपयोगेन तु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरूपं मोक्षं च लभते इति। अत्रोपयोगत्रयमध्ये मुख्यवृत्त्या शुद्धोपयोग एवोपादेय इत्यभि-प्रायः ॥७१॥ एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्या-ख्यानमुख्यत्वेन प्रथमान्तरस्थलं गतम्।

सुह परिणामें धम्मु पर होइ असुहे अहम्मु, एहिँ दोहिँ वि विवज्जियउ सुद्धु कम्मु ण बंधइ ॥७१॥ शुभ परिणामों से पुण्यरूप व्यवहारधर्म होता है और अशुभ परिणामों से अधर्म (पाप) होता है। इन दोनों (पाप-पुण्य) से रहित शुद्ध परिणाम वाला पुरुष कर्म नहीं बाँधता। **भावार्थ**—काले और पीले डंक को धारण करने वाले स्फटिक के समान यह आत्मा क्रम से अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग रूप तीन परिणामों से परिणत होता है। उनमें से मिथ्यात्व, विषय-कषायादि के अवलम्बन से पाप बाँधता है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनके गुणस्मरण से और दान-पूजादिक से संसार की स्थिति को छेदने वाली तीर्थंकर नामकर्मादि विशिष्ट गुणरूप पुण्य-प्रकृतियों को अवांछक वृत्ति से बाँधता है। केवल शुद्धात्मा के अवलम्बन से, शुद्धोपयोग से उसी भव में केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ अभिप्राय यह है कि इन तीनों उपयोगों में से मुख्यतः शुद्धोपयोग ही उपादेय है ॥७१॥ इसप्रकार ४१ दोहों के महास्थल में पाँच दोहों में शुद्धोपयोग के व्याख्यान की मुख्यता से पहला अन्तरस्थल पूर्ण हुआ।

अत ऊर्ध्वं तस्मिन्नेव महास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी-मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—

अब आगे उसी महास्थल के अन्तर्गत पन्द्रह दोहों में वीतराग स्वसंवेदनज्ञान की मुख्यता से व्याख्यान कहते हैं—

दाणिं लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण।
जम्मण-मरण-विवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥७२॥

दानेन लभ्यते भोगः परं इन्द्रत्वमपि तपसा।
जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥७२॥

दाणिं इत्यादि। **दाणिं लब्भइ भोउ पर** दानेन लभ्यते पञ्चेन्द्रियभोगः परं नियमेन। **इंदत्तणु वि तवेण** इन्द्रत्वमपि तपसा लभ्यते। **जम्मणमरणविवज्जियउ** जन्म-मरणविवर्जितं **पउ** पदं स्थानं **लब्भइ** लभ्यते प्राप्यते। केन। **णाणेण** वीतरागस्वसंवेदन-ज्ञानेनेति। तथाहि। आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानेन सम्यक्त्वरहितेन भोगो लभ्यते। सम्यक्त्वसहितेन तु यद्यपि परंपरया निर्वाणं लभ्यते तथापि विविधाभ्युदयरूपः पञ्चेन्द्रिय-भोग एव। सम्यक्त्वसहितेन तपसा तु यद्यपि निर्वाणं लभ्यते तथापि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादि-

विभूतिपूर्वकेणैव । वीतरागस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानेन सविकल्पेन यद्यपि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादि-विभूतिविशेषो भवति तथापि निर्विकल्पेन मोक्ष एवेति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । हे भगवान् यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति ज्ञानमात्रादेव मोक्षः तेषां किमिति दूषण दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भणितं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते पानकवदेकस्यापि मध्ये त्रयमस्ति । तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव । तेन दूषणं भवतीति भावार्थः ॥७२॥

दाणिं पर भोउ लब्भइ, तवेण वि इदंत्तणु । णाणेण जम्मण-मरण-विवज्जियउ पउ लब्भइ ॥७२॥ दान से नियमतः पञ्चेन्द्रियों के भोगों की प्राप्ति होती है और तप से इन्द्र का पद मिलता है तथा वीतरागस्वसंवेदनज्ञान से जन्म-जरा-मरण से रहित पद यानी मोक्षपद मिलता है । **भावार्थ**—आहार, अभय, औषध और शास्त्रदान से- यदि सम्यक्त्व रहित है तो—भोगभूमि के भोग मिलते हैं । सम्यक्त्वसहित हो तो परम्परा से मोक्ष मिलता है और पहले विविध अभ्युदय रूप पचेन्द्रियों के भोग मिलते हैं । सम्यक्त्वसहित तपसे यद्यपि निर्वाण प्राप्त होता है तथापि पहले देवेन्द्र-चक्रवर्त्यादि की विभूति मिलती है । वीतरागस्वसवेदन सम्यग्ज्ञान से सविकल्प होने पर यद्यपि देवेन्द्र चक्रवर्त्यादि की विशेष विभूति होती है तथापि निर्विकल्प होने पर मोक्ष ही होता है । यहाँ प्रभाकरभट्ट प्रश्न करते हैं—हे भगवन् ! यदि ज्ञान मात्र से ही मोक्ष होता है तो सांख्यादिक भी ज्ञानमात्र से मोक्ष मानते हैं, फिर आप उन्हें दूषण क्यों देते है ? श्री गुरु उत्तर देते हैं—यहाँ जो वीतराग निर्विकल्पस्वसवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है उसमे वीतरागविशेषण से चारित्र आता है और सम्यग् विशेषण से सम्यक्त्व भी आ जाता है । जैसे पानक रस में एक मे ही तीन वस्तुएँ होती है । उन सांख्यों के मत में न तो वीतराग विशेषण है और न सम्यक् विशेषण है, केवल ज्ञान मात्र ही है; इसलिए उसमें दोष आता है ॥७२॥

अथ तमेवार्थं विपक्षदूषणद्वारेण द्रढयति--

अब इसी अर्थ को विपक्षी को दूषण देकर दृढ़ करते हैं—

देउ णिरंजणु इउँ भणइ णाणिं मुक्खु ण भंति ।
णाण-विहीणा जीवडा चिरु संसारु भमंति ॥७३॥

देवः निरञ्जन एवं भणति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रान्ति ।
ज्ञानविहीना जीवाः चिरं संसारं भ्रमन्ति ॥७३॥

देउ इत्यादि **देउ** देवः किंविशिष्टः । **णिरंजणु** निरञ्जनः अनन्तज्ञानादिगुणसहितोऽष्टादशदोषरहितश्च **इउं भणइ** एवं भणति । एवं किम् । **णाणिं मुक्खु** वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनरूपेण सम्यग्ज्ञानेन मोक्षो भवति । **ण भंति** न भ्रांतिः संदेहो नास्ति । **णाणविहीणा जीवडा** पूर्वोक्तस्वसंवेदनज्ञानेन विहीना जीवा **चिरु संसारु भमंति** चिरं

वहुतरं कालं संसारं परिभ्रमन्ति इति । अत्र वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमध्ये यद्यपि सम्यक्त्वादित्रयमस्ति तथापि सम्यग्ज्ञानस्यैव मुख्यता । विवक्षितो मुख्य इति वचनादिति भावार्थ. ।।७३।।

णिरंजणु देउ इउँ भणइ णाणिं मुक्खु, ण भंति । णाणविहीणा जीवडा चिरु संसारु भमंति ।।७३।। अनन्तज्ञानादि गुण सहित और अठारह दोप रहित वीतराग सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान से ही मोक्ष होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । स्वसंवेदनज्ञान से रहित जो जीव हैं, वे वहुत काल तक ससार में भटकते है । भावार्थ—यहाँ वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में यद्यपि सम्यक्त्वादि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) तीनों है तो भी सम्यग्ज्ञान की ही मुख्यता है । क्योंकि जिसका कथन किया जावे, जो विवक्षित है वह मुख्य होता है, अन्य गौण होता है ।।७३।।

अथ पुनरपि तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां निश्चिनोति—

पुनः इसी अर्थ को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त से निश्चित करते हैं—

णाण-विहीणहँ मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ ।
वहुएँ सलिल-विरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ।।७४।।

ज्ञानविहीनस्य मोक्षपदं जीव मा कस्यापि अद्राक्षीः ।
वहुना सलिलविलोडितेन करः चिक्कणो न भवति ।।७४।।

णाण इत्यादि । **णाणविहीणहं** ख्यातिपूजालाभादिदुष्टभावपरिणतचित्तं मम कोऽपि न जानातीति मत्वा वीतरागपरमानन्दैकसुखरसानुभवरूपं चित्तशुद्धिमकुर्वाणस्य-वहिरङ्गवकवेषेण लोकरञ्जनं मायास्थानं तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तविकल्पकल्लोलमालात्यागेन निजशुद्धात्मसंवित्तिनिश्चयेन संज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन विना **मोक्खपउ** मोक्षपदं स्वरूपं **जीव** हे जीव **म कासु वि जोइ** मा कस्याप्यद्राक्षीः । दृष्टान्तमाह । **बहुएं सलिलविरोलियइं** वहुनापि सलिलेन मथितेन **करु** करो हस्तः **चोप्पडउ ण होइ** चिक्कनः स्निग्धो न भवतीति । अत्र यथा बहुतरमपि सलिले मथितेऽपि हस्तः स्निग्धो न भवति, तथा वीतरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन ज्ञानेन विना बहुनापि तपसा मोक्षो न भवतीति तात्पर्यम् ।।७४।।

जीव ! णाणविहीणहँ कासु वि मोक्ख पउ म जोइ । बहुएँ सलिलविरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ।।७४।। हे जीव ! जो सम्यग्ज्ञान से रहित मलिन चित्त है, अपनी ख्याति, प्रतिष्ठा लाभादि दुष्टभावों से जिसका चित्त परिणत हुआ है और मन में ऐसा जानता है कि हमारी दुष्टता को कोई नहीं जान सकता, ऐसा समझ कर वीतराग परमानन्द सुखरस के अनुभवरूप चित्त की शुद्धि नहीं करता तथा वाहर से लोकरंजन के लिए मायाचाररूप बगुले का वेष धारण किया है, ऐसी ही समस्त विकल्प तरंगों के त्याग से निजशुद्धात्म संवित्तिरूप सम्यग्ज्ञान के विना किसी अज्ञानी

के मोक्ष मत देख अर्थात् विना सम्यग्ज्ञान के मोक्ष नही होता। दृष्टान्त कहते है—वहुत पानी के मथने से भी हाथ चिकना नही होता, जैसे-वहुत जल केमथने पर भी हाथ चिकना नही होता है वैसे ही वीतराग शुद्धात्मानुभूतिलक्षरण वाले ज्ञान के विना वहुत तपस्या से भी मोक्ष नही होता है, यह तात्पर्य है ॥७४॥

अथ निश्चयनयेन यन्निजात्मवोधज्ञानवाह्यं ज्ञानं तेन प्रयोजनं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

आगे निश्चयनय की अपेक्षा जो आत्मज्ञान से वाह्य (अन्य पदार्थो का) ज्ञान है, उससे प्रयोजन नही सधता, यह अभिप्राय मन में रखकर यह दोहा कहते हैं—

जं णिय-वोहहँ वाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण।
दुक्खहँ कारणु जेण तउ जीवहँ होइ खणेण ॥७५॥

यत् निजवोधाद्वाह्यं ज्ञानमपि कार्यं न तेन।
दुःखस्य कारणं येन तपः जीवस्य भवति क्षणेन ॥७५॥

जं इत्यादि। **जं** यत् **णियबोहहं वाहिरउ** दानपूजातपश्चरणादिकं कृत्वापि दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षावासितचित्तेन रूपलावण्यसौभाग्यवलदेववासुदेवकामदेवेन्द्रादिपदप्राप्तिरूप-भावि-भोगाशाकरणं यन्निदानवन्धस्तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तमनोरथविकल्पज्वालावलीरहितत्वेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्माववोधो निजवोधः तस्मान्निजवोधाद्वाह्यम्। **णाणु वि कज्जु ण तेण** शास्त्रादिजनितं ज्ञानमपि यत्तेन कार्यं नास्ति। कस्मादिति चेत्। **दुक्खहं कारणु** दुःखस्य कारणं **जेण** येन कारणेन **तउ** वीतरागस्वसंवेदनरहितं तपः **जीवहं** जीवस्य **होइ** भवति **खणेण** क्षणमात्रेण कालेनेति। अत्र यद्यपि शास्त्रजनितं ज्ञानं स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितं तपश्चरणं च मुख्यवृत्त्या पुण्यकारणं भवति तथापि मुक्तिकारणं न भवतीत्यभिप्रायः ॥७५॥

जं णियवोहहँ वाहिरउ णाणु वि तेण कज्जु ण। जेण तउ खणेण जीवहँ दुक्खहँ कारणु होइ ॥७५॥ जो आत्मज्ञान से वाह्य (रहित) शास्त्र वगैरह का ज्ञान भी है, उस ज्ञान से कुछ काम नही क्योकि वीतरागस्वसवेदनज्ञानरहित तप शीघ्र ही जीव के लिए दुःख का कारण होता है। **भावार्थ**—दान-पूजा-तपश्चरण करके भी देखे-सुने और अनुभूत भोगो की आकाक्षा से ग्रस्त चित्त से रूप, लावण्य, सौभाग्य, वलदेव, वासुदेव, कामदेव, इन्द्रादिपद-प्राप्तिरूप भावी भोगों की आशा करने से जो निदानवन्ध रूप शल्य है, उसको आदि ले समस्त मनोरथों के विकल्पजालरूपी अग्नि की ज्वालाओं से रहित जो विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव वाला निज आत्माववोधक निजज्ञान सम्यग्ज्ञान है, उससे रहित वाह्यपदार्थो का शास्त्रादिजनितज्ञान किसी काम का नही। कार्य तो एक आत्मा के जानने से है। आत्मज्ञान से रहित जो शास्त्र का ज्ञान और तपश्चरणादि है, उनसे मुख्यतया पुण्य का वन्ध होता है। अज्ञानियों का तप और श्रुत यद्यपि पुण्य का कारण है, तो भी मोक्ष का कारण नही है ॥७५॥

अथ येन मिथ्यात्वरागादिवृद्धिर्भवति तदात्मज्ञानं न भवतीति निरूपयति—

अब कहते हैं कि जिससे मिथ्यात्व-रागादि की वृद्धि हो, वह आत्मज्ञान नही है—

तं णिय-णाणु जि होइ ण वि जेण पवड्ढइ राउ ।
दिणयर-किरणहँ पुरउ जिय किं विलसइ तम-राउ ।।७६।।

तत् निजज्ञानमेव भवति नापि येन प्रवर्धते रागः ।
दिनकरकिरणानां पुरत. जीव किं विलसति तमोरागः ।।७६।।

तं इत्यादि । **तं** तत् **णियणाणु जि होइ ण वि** निजज्ञानमेव न भवति वीतराग-नित्यानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वपरिज्ञानमेव न भवति । येन ज्ञानेन किं भवति । **जेण पवड्ढइ** येन प्रवर्धते । कोऽसौ । **राउ** शुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दप्रति-बन्धकपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषरागः । अत्र दृष्टान्तमाह । **दिणयरकिरणहं पुरउ जिय** दिनकरकिरणानां पुरतो हे जीव **किं विलसइ** किं विलसति किं शोभते अपि तु नैव । कोऽसौ । **तमराउ** तमोरागस्तमोव्याप्तिरिति । अत्रेदं तात्पर्यम् । यस्मिन् शास्त्राभ्यासज्ञाने जातेऽप्यनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखप्रतिपक्षभूता आकुलत्वोत्पादका रागादयो वृद्धिं गच्छन्ति तन्निश्चयेन ज्ञानं न भवति । कस्मात् । विशिष्टमोक्षफलाभावादिति ।।७६।।

जिय ! तं णिय णाणु जि ण वि होइ जेण राउ पवड्ढइ, दिणयर किरणहँ पुरउ तमराउ किं विलसइ ।।७६।। हे जीव ! वह वीतराग नित्यानन्द अखण्डस्वभाव परमात्मतत्त्व का परिज्ञान ही नही है जिससे परद्रव्य मे प्रीति-राग की वृद्धि हो; सूर्य की किरणों के आगे अन्धकार का फैलाव कैसे शोभायमान हो सकता है ? नहीं हो सकता । **भावार्थ**—शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परम आनन्द, उसके शत्रु पचेन्द्रियों के विपयों की अभिलाषा जिसमें हो, वह निज (आत्म) ज्ञान नही है, अज्ञान ही है । जहाँ वीतरागभाव है, वहाँ सम्यग्ज्ञान है । जैसे सूर्य के प्रकाश के आगे अँधेरा नही शोभा देता, वैसे ही आत्मज्ञान में विषयो की अभिलाषा (इच्छा) नहीं शोभती । शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जो निराकुलता न हो और आकुलता के उपजाने वाले आत्मीक सुख के वैरी रागादिक जो वृद्धि को प्राप्त हों, तो वह ज्ञान किस काम का ? ज्ञान तो वह है जिससे आकुलता मिट जावे । वाह्य पदार्थों का ज्ञान मोक्षफल के अभाव से कार्यकारी नही है ।।७६।।

अथ ज्ञानिनां निजशुद्धात्मस्वरूपं विहाय नान्यत्किमप्युपादेयमिति दर्शयति—

अब कहते है कि ज्ञानी जीवों के निज शुद्धात्मभाव के विना अन्य कुछ भी आदरने योग्य नही है—

अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ अण्णु ण सुंदरु वत्थु ।
तेण ण विसयहँ मणु रमइ जाणंतहँ परमत्थु ।।७७।।

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानिना अन्यन्न सुन्दरं वस्तु ।
तेन न विषयेषु मनो रमते जानतां परमार्थम् ।।७७।।

अप्पा इत्यादि । **अप्पा मिल्लिवि** शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मपदार्थं मुक्त्वा **णाणियहं** ज्ञानिनां मिथ्यात्वरागादिपरिहारेण निजशुद्धात्मद्रव्यपरिज्ञानपरिणतानां **अण्णु ण सुंदरु वत्थु** अन्यन्न सुन्दरं समीचीनं वस्तु प्रतिभाति येन कारणेन **तेण ण विसयहं मणु रमइ** तेन कारणेन शुद्धात्मोपलब्धिप्रतिपक्षभूतेषु पञ्चेन्द्रियविषयरूपकामभोगेषु मनो न रमते । किं कुर्वताम् । **जाणंतहं** जानतां **परमत्थु** वीतरागसहजानन्दैकपारमार्थिकसुखाविनाभूतं परमात्मानमेवेति तात्पर्यम् ॥७७॥

अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ अण्णु वत्थु सुंदरु ण । तेण परमत्थु जाणंतहँ मणु विसयहँ ण रमइ ॥७७॥ आत्मा—शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्म पदार्थ को छोड़कर ज्ञानियो को अन्य वस्तु अच्छी नही लगती, इसलिए परमात्मपदार्थ को जानने वालों का मन विषयो में नही लगता । **भावार्थ**—मिथ्यात्वरागादि के परिहार से तथा निज शुद्धात्म द्रव्य के यथार्थ ज्ञान से जिनका चित्त परिणत हो गया है ऐसे ज्ञानियो को शुद्धबुद्ध परम स्वभाव परमात्मा को छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु सुन्दर नही भासती । इसलिए उनका मन पचेन्द्रियो के विषयरूप कामभोगों मे नही रमता ॥७७॥

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—

अब इसी अर्थ का दृष्टान्त मे समर्थन करते हैं—

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु ।
मरगउ जें परियाणियउ तहुँ कच्चें कउ गण्णु ॥७८॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं चित्ते न लगति अन्यत् ।
मरकतः येन परिज्ञातः तस्य काचेन कुतो गणना ॥७८॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पा मिल्लिवि** आत्मानं मुक्त्वा । कथंभूतम् । **णाणमउ** ज्ञानमयं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणमयं **चित्ति** मनसि **ण लग्गइ** न लगति न रोचते न प्रतिभाति । किम् । **अण्णु** निजपरमात्मस्वरूपादन्यत् । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह । **मरगउ जे परियाणियउ** मरकतरत्नविशेषो येन परिज्ञातः । **तहुँ** तस्य रत्नपरीक्षापरिज्ञानसहितस्य पुरुपस्य **कच्चें कउ गण्णु** काचेन किं गणनं किमपेक्षा तस्येत्यभिप्रायः ॥७८॥

णाणमउ अप्पा मिल्लिवि अण्णु चित्ति ण लग्गइ । जें मरगउ परियाणियउ तहुँ कच्चें कउ गण्णु ॥७८॥ केवलज्ञानादि अनन्त गुणयुक्त आत्मा को छोडकर अन्य कोई वस्तु ज्ञानियो के चित्त को नही रुचती । जिसने मरकतमणि जान लिया उसको कॉच से क्या प्रयोजन है ? **भावार्थ**—जिसने रत्न पा लिया उसको कॉंचखण्डो की क्या जरूरत है ? उसी तरह जिसका चित्त आत्मा में लग गया, उसे दूसरे पदार्थों की आकाक्षा नही रहती ॥७८॥

अथ कर्मफलं भुञ्जानः सन् योऽसौ रागद्वेष करोति स कर्म बध्नातीति कथयति—

अब कहते हैं कि कर्मफल को भोगता हुआ जो रागद्वेष करता है, वह कर्म बाँधता है—

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु मोहइँ जो जि करेइ ।
भाउ असुंदरु सुंदरु वि सो पर कम्मु जणेइ ।।७६।।

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं मोहेन य एव करोति ।
भावं असुन्दरं सुन्दरमपि स परं कर्म जनयति ।।७६।।

भुंजंतु वि इत्यादि । भुंजंतु वि भुञ्जानोऽपि । किम् णियकम्मफलु वीतरागपरमाह्लादरूपशुद्धात्मानुभूतिविपरीतं निजोपार्जितं शुभाशुभकर्मफलं **मोहइं** निर्मोहशुद्धात्मप्रतिकूलमोहोदयेन **जो जि करेइ** य एव पुरुषः करोति । कम् । **भाउ** भावं परिणामम् । किंविशिष्टम् । **असुंदरु सुंदरु वि** अशुभं शुभमपि **सो पर** स एव भावः **कम्मु जणेइ** शुभाशुभं कर्म जनयति । अयमत्र भावार्थः उदयागते कर्मणि योऽसौ स्वस्वभावच्युतः सन् रागद्वेषौ करोति स एव कर्म बध्नाति ।।७६।।

जो जि णियकम्मफलु भुंजंतु वि मोहइँ असुंदरु सुंदरु वि भाउ करेइ सो पर कम्मु जणेइ ।।७६।। जो जीव अपने कर्मों के फल को भोगता हुआ भी मोह से भले और बुरे परिणाम करता है, वह केवल कर्म ही बाँधता है । **भावार्थ**—वीतराग परम आह्लादरूप शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत अशुद्ध रागादिक विभाव से उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के फल को भोगता हुआ जो अज्ञानी जीव मोह के उदय से हर्ष-विषाद भाव करता है, वह नये कर्मों का बंध करता है । सारांश यह है कि जो निज-स्वभाव से च्युत हुआ उदय में आये हुए कर्मों में रागद्वेष करता है, वही कर्म बाँधता है ।।७६।।

अथ उदयागते कर्मानुभवे योऽसौ रागद्वेषौ न करोति स कर्म न बध्नातीति कथयति—

अब कहते हैं कि जो उदयागत कर्मों के अनुभव मे रागद्वेष नहीं करता है, वह कर्म नहीं बाँधता—

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु जो तहिँ राउ ण जाइ ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ ।।८०।।

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं यः तत्र रागं न याति ।
स नैव बध्नाति कर्म पुनः संचितं येन विलीयते ।।८०।।

भुंजंतु वि इत्यादि । **भुंजंतु वि** भुञ्जानोऽपि । किम् । **णियकम्मफलु** निजकर्मफलं निजशुद्धात्मोपलम्भाभावेनोपार्जितं पूर्वं यत् शुभाशुभं कर्म तस्य फलं **जो** यो जीवः **तहिं** तत्र कर्मानुभवप्रस्तावे **राउ ण जाइ** रागं न गच्छति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृततृप्तः सन् रागद्वेषौ न करोति **सो** स जीवः **णवि बंधइ**

नैव बध्नाति । किं न बध्नाति । **कम्मु** ज्ञानावरणादि कर्म **पुणु** पुनरपि । येन कर्मबन्धाभावपरिणामेन किं भवति । **संचिउ जेण विलाइ** पूर्वसंचितं कर्म येन वीतरागपरिणामेन विलयं विनाशं गच्छतीति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । कर्मोदयफलं भुञ्जानोऽपि ज्ञानी कर्मणापि न बध्यते इति **सांख्यादयोऽपि** वदन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । ते निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्रनिरपेक्षा वदन्ति तेन कारणेन तेषां दूषणमिति तात्पर्यम् ।

णियकम्मफलु भुंजंतु वि तर्हिं जो राउ ण जाइ, सो पुणु कम्मु णवि बंधइ, जेण संचिउ विलाइ ।।८०।। अपने कर्मो के फल को भोगते हुए भी उसमें जो जीव रागद्वेष नही करता, वह फिर नवीन कर्म नही बाँधता और इससे पहले बांधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाते है । **भावार्थ**—निजशुद्धात्मा के ज्ञानाभाव से उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मो के फल को भोगते हुए भी वीतराग चिदानन्द परमस्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुखरूप अमृत से तृप्त होते हुए जो जीव रागीद्वेषी नही होता, वह फिर नवीन ज्ञानावरणादि कर्मो को नही बांधता । नवीन कर्मो के बध का अभाव होने से पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा ही होती है । यहाँ प्रभाकरभट्ट **प्रश्न** करते है— हे प्रभो ! कर्म के फल को भोगता हुआ भी ज्ञानी कर्मो मे नही बँधता—ऐसा तो साख्यादिक भी कहते है, फिर उन्हे क्यों दोष दिया जाता है ? गुरुदेव इसका **उत्तर** देते है कि साख्यादिक निज शुद्धात्मानुभूति का कथन वीतरागचारित्र से निरपेक्ष कहते है, इस कारण उनको दोष दिया जाता है ।।८०।।

अथ यावत्कालमणुमात्रमपि रागं न मुञ्चति तावत्कालं कर्मणा न मुच्यते इति प्रतिपादयति—

अत्र कहते है कि जब तक जीव परमाणु जितने भी राग को नही छोड़ता है तब तक कर्मो से नही छूटता है—

जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु ।
सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु ।।८१।।

यः अणुमात्रमपि रागं मनसि यावत् न मुञ्चति अत्र ।
स नैव मुच्यते तावत् जीव जानन्नपि परमार्थम् ।।८१।।

जो इत्यादि । **जो** यः कर्ता **अणुमेत्तु वि** अणुमात्रमपि सूक्ष्ममपि **राउ** **रागं** वीतरागसदानन्दैकशुद्धात्मनो विलक्षणं पञ्चेन्द्रियविषयसुखाभिलाषरागं **मणि** मनसि **जाम ण मिल्लइ** यावन्तं कालं न मुञ्चति **एत्थु** अत्र जगति **सो णवि मुच्चइ** स जीवो नैव मुच्यते ज्ञानावरणादिकर्मणा **ताव** तावन्तं कालं **जिय** हे जीव । किं कुर्वन्नपि । **जाणंतु वि** वीतरागानुष्ठानरहितः सन् शब्दमात्रेण जानन्नपि । कं जानन् । **परमत्थु** परमार्थशब्दवाच्यनिजशुद्धात्मतत्त्वमिति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मस्वभावज्ञानेऽपि

शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणवीतरागचारित्रभावनां बिना मोक्षं न लभत इति ॥८१॥

जो अणुमेत्तु वि राउ मणि जाम एत्थु ण मिल्लइ ताम जिय परमत्थु जाणंतु वि णवि मुच्चइ ॥८१॥ जो जीव अणुमात्र भी राग यानी जरा सा भी राग, यदि है तो जब तक उसे मनमें से नहीं निकाल देता है तब तक हे जीव ! निज शुद्धामतत्त्व को जानते हुए भी ज्ञानावरणादि कर्मों से नही छूटता है । **भावार्थ**–जो जीव वीतराग सदानन्दरूप शुद्धात्मभाव से रहित पञ्चेन्द्रियों के विषयों की सुखाभिलाषारूप राग मन मे रखता है वह आगमज्ञान से आत्मा को शब्दमात्र जानता हुआ भी वीतरागचारित्र की भावना के विना मोक्ष नही पा सकता ॥८१॥

अथ निर्विकल्पात्मभावनाशून्यः शास्त्रं पठन्नपि तपश्चरणं कुर्वन्नपि परमार्थं न वेत्तीति कथयति—

अब कहते हैं कि जो निर्विकल्प आत्मभावना से रहित है वह शास्त्र पढ़ते हुए भी और तपश्चरण करते हुए भी परमार्थ को नही जानता है—

बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥८२॥

बुध्यते शास्त्राणि तपः चरति पर परमार्थं न वेत्ति ।
तावत् न मुच्यते यावत् नैव एनं परमार्थं मनुते ॥८२॥

बुज्झइ इत्यादि । **बुज्झइ** बुध्यते । कानि **सत्थइँ** शास्त्राणि न केवलं शास्त्राणि वुध्यते **तउ चरइ** तपश्चरति **पर** परं किंतु **परमत्थु ण वेइ** परमार्थं न वेत्ति न जानाति । कस्मान्न वेत्ति । यद्यपि व्यवहारेण परमात्मप्रतिपादकशास्त्रेण ज्ञायते तथापि निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन परिच्छिद्यते । यद्यप्यनशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन बहिरङ्गसहकारिकारणभूतेन साध्यते तथापि निश्चयेन निर्विकल्पशुद्धात्मविश्रान्तिलक्षणवीतरागचारित्रसाध्यो योऽसौ परमार्थशब्दवाच्यो निजशुद्धात्मा तत्र निरन्तरानुष्ठानाभावात् **ताव ण मुंचइ** तावन्तं कालं न मुच्यते । केन । कर्मणा **जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ** यावन्तं कालं नैवैनं पूर्वोक्तलक्षणं परमार्थं मनुते जानाति श्रद्धत्ते सम्यगनुभवतीति । इदमत्र तात्पर्यम् । यथा प्रदीपेन विवक्षितं वस्तु निरीक्ष्य गृहीत्वा च प्रदीपस्त्यज्यते तथा शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादकशास्त्रेण शुद्धात्मतत्त्वं ज्ञात्वा गृहीत्वा च प्रदीपस्थानीयः शास्त्रविकल्पस्त्यज्यत इति ॥८२॥

सत्थइँ बुज्झइ, तउ चरइ, पर परमत्थु ण वेइ जाम इहु परमत्थु णवि मुणेइ ताव ण मुंचइ ॥८२॥ शास्त्रों को जानता है और तपस्या करता है लेकिन परमात्मा को नही जानता है और जब तक पूर्व कथित परमात्मा को नही जानता या अनुभव नहीं करता, तब तक कर्मों से नही छूटता । यद्यपि व्यवहारनय से आत्मा परमात्म-प्रतिपादक शास्त्रों से जाना जाता है, तो भी निश्चयनय से

वीतरागस्वसंवेदन ज्ञान ही से जानने योग्य है, यद्यपि बाह्य सहकारीकारण अनशनादि बारह प्रकार के तप से साधा जाता है तो भी निश्चयनय से निर्विकल्प वीतराग चारित्र ही से आत्मा की सिद्धि है। जिस वीतरागचारित्र का शुद्धात्मा मे विश्राम होना ही लक्षण है उस वीतरागचारित्र के आगमज्ञान से तथा बाह्य तप से आत्मज्ञान की सिद्धि नही है। जबतक निज शुद्धात्मतत्त्व के स्वरूप का आचरण नही है, तब तक कर्मो से नही छूटता। शास्त्र का ज्ञान भी आत्मज्ञान के लिए ही किया जाता है, जैसे दीपक से वस्तु को देख कर वस्तु को उठा लेते हैं और दीपक को छोड़ देते हैं उसी तरह शुद्धात्मतत्त्व के उपदेश करने वाले जो अध्यात्मशास्त्र उनसे शुद्धात्मतत्त्व को जान कर उस शुद्धात्मा का अनुभव करना चाहिए। शास्त्र का विकल्प छोडना चाहिए ॥८२॥

अथ योऽसौ शास्त्रं पठन्नपि विकल्पं न मुञ्चति निश्चयेन देहस्थ शुद्धात्मानं न मन्यते स जडो भवतीति प्रतिपादयति—

अत्र कहते हैं कि जो कोई शास्त्र को पढ कर भी विकल्प को नही छोडता है और निश्चय से देह में स्थित शुद्धात्मा को नही मानता है, वह मूर्ख होता है—

सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥८३॥

शास्त्रं पठन्नपि भवति जड. य. न हन्ति विकल्पम्।
देहे वसन्तमपि निर्मलं नैव मन्यते परमात्मानम् ॥८३॥

सत्थु इत्यादि। **सत्थु पढंतु वि** शास्त्रं पठन्नपि **होइ जडु** स जडो भवति यः किं करोति। **जो ण हणेइ वियप्पु** यः कर्ता शास्त्राभ्यासफलभूतस्य रागादिविकल्परहितस्य निजशुद्धात्मस्वभावस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वरागादिविकल्पं न हन्ति। न केवलं विकल्पं न हन्ति। **देहि वसंतु वि** देहे वसन्तमपि **णिम्मलउ** निर्मलं कर्ममलरहितं **णवि मण्णइ** नैव मन्यते न श्रद्धत्ते। कम्। **परमप्पु** निजपरमात्मानमिति। अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा त्रिगुप्तसमाधिं कृत्वा च स्वयं भावनीयम्। यदा तु त्रिगुप्तिगुप्तसमाधिं कर्तुं नायाति तदा विषयकषायवञ्चनार्थं शुद्धात्मभावनास्मरणदृढीकरणार्थं च बहिर्विषये व्यवहारज्ञानवृद्धयर्थं च परेषां कथनीयं किंतु तथापि परप्रतिपादनव्याजेन मुख्यवृत्त्या स्वकीयजीव एव संबोधनीयः। कथमिति चेत्। इदमनुपपन्नमिदं व्याख्यानं न भवति मदीयमनसि यदि समीचीन न प्रतिभाति तर्हि त्वमेव स्वयं किं न भावयसीति तात्पर्यम् ॥८३॥

सत्थु पढंतु वि जो वियप्पु ण हणेइ, देहि वसंतु वि णिम्मलउ परमप्पु णवि मण्णइ, जडु होइ ॥८३॥ जो जीव शास्त्र पढते हुए भी विकल्प दूर नही करता और देह में स्थित भी निर्मल परमात्मा को श्रद्धान मे नही लाता, वह मूर्ख है। शास्त्राभ्यास का तो फल ही यह है कि रागादि विकल्पो को दूर करना और निज शुद्धात्मा का ध्यान करना। इसलिए इस व्याख्यान को जान कर तीन गुप्तियो मे अचल हो परमसमाधि मे आरूढ होकर निज स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। लेकिन जब तक तीन

गुप्तियाँ न हों, परमसमाधि न आवे, तब तक विषय-कषायों को दूर करने के लिए और शुद्धात्मभावना के स्मरण को दृढ करने के लिए और बाह्य विषयों में व्यवहार ज्ञान की वृद्धि के लिए परजीवों को धर्मोपदेश देना चाहिए किन्तु फिर भी परोपदेश के बहाने मुख्यतया अपने जीव को यानी अपने आप को ही सम्बोधित करना चाहिए। पर को उपदेश देते अपने को समझावे- जो मार्ग दूसरों को छुड़ावे, वह आप कैसे करे। इससे मुख्य सम्बोधन स्वयं को ही है। परजीवों को ऐसा उपदेश है, जो यह बात मेरे मन में अच्छी नहीं लगती, तो तुमको भी भली नहीं लगती होगी, तुम भी अपने मन में विचार करो ॥८३॥

अथ बोधार्थं शास्त्रं पठन्नपि यस्य विशुद्धात्मप्रतीतिलक्षणो बोधो नास्ति स मूढो भवतीति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि ज्ञान के लिए शास्त्र पढ़ते हुए भी जिसके विशुद्ध आत्मप्रतीति लक्षण वाला ज्ञान नहीं है, वह मूर्ख है—

बोह-णिमित्तें सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु।
तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु ॥८४॥

बोधनिमित्तेन शास्त्रं किल लोके पठ्यते अत्र।
तेनापि बोधो न यस्य वरः स किं मूढो न तथ्यम् ॥८४॥

बोह इत्यादि। बोधनिमित्तेन किल शास्त्रं लोके पठ्यते अत्र तेनैव कारणेन बोधो न यस्य कथंभूतः। वरो विशिष्टः। स किं मूढो न भवति किंतु भवत्येव तथ्यमिति। तद्यथा। अत्र यद्यपि लोकव्यवहारेण कविगमकवादिवाग्मित्वादिलक्षणशास्त्रजनितो बोधो भण्यते तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशकाध्यात्मशास्त्रोत्पन्नो वीतरागस्वसंवेदनरूपः स एव बोधो ग्राह्यो न चान्यः। तेनानुबोधेन विना शास्त्रे पठितेऽपि मूढो भवतीति। अत्र यः कोऽपि परमात्मबोधजनकमल्पशास्त्रं ज्ञात्वापि वीतरागभावनां करोति स सिद्ध्यतीति। तथा चोक्तम्—**"वीरा वेरग्गपरा थोवं पि हु सिक्खिऊण सिज्झंति। ण हु सिज्झंति विरागेण विणा पढिदेसु वि सव्वसत्थेसु ॥"** परं किन्तु—**"अक्खरडा जोयंतु ठिउ अप्पि ण दिण्णउ चित्तु। कणविरहियउ पलालु जिमु पर संगहिउ बहुत्तु ॥"** इत्यादि पाठमात्रं गृहीत्वा परेषां बहुशास्त्रज्ञानिनां दूषणा न कर्तव्या। तैर्बहुश्रुतैरप्यन्येषामल्पश्रुततपोधनानां दूषणा न कर्तव्या। कस्मादिति चेत्। दूषणे कृते सति परस्परं रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तेन ज्ञानतपश्चरणादिकं नश्यतीति भावार्थः ॥८४॥

इत्थु लोइ किल बोहणिमित्तें सत्थु पढिज्जइ तेण वि जासु वरु बोहु ण सो किं मूढु ण तत्थु ॥८४॥ इस लोक में नियम से ज्ञान के निमित्त ही शास्त्र पढ़े जाते हैं परन्तु शास्त्रो को पढ़ने मे भी जिसको उत्तम ज्ञान नहीं हुआ, क्या वह मूर्ख नहीं है? वह मूर्ख ही है, इसमें सन्देह नहीं। भावार्थ—यद्यपि लोकव्यवहार से कवि, गमक, वादी, वाग्मीपने का ज्ञान शास्त्रजनित होता है तो भी

निश्चयनय मे वीतराग स्वसवेदनरूप ज्ञान की ही अध्यात्मशास्त्रों में प्रशंसा की गई है। स्वसंवेदन ज्ञान के विना शास्त्रों के पढ़े हुए भी मूर्ख है। और जो कोई परमात्मज्ञान के उत्पन्न करने वाले थोड़े शास्त्रों को जान कर भी वीतराग-स्वसवेदनज्ञान की भावना करते है, वे सिद्ध हो जाते है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—"मोहशत्रु को जीतने वाले वैराग्यपरायण वीर थोड़े शास्त्रों को ही पढ कर सुधर जाते हैं—सिद्ध हो जाते है और वैराग्य के विना सब शास्त्रो को पढ़ते हुए भी मुक्त नही होते।" परन्तु यह कथन अपेक्षा से है—इस वहाने से शास्त्र पढने का अभ्यास नही छोडना और जो विशेप शास्त्र के पाठी हैं, उनको दोप न देना। "जो शास्त्र के अक्षर तो वता रहा है किन्तु आत्मा में चित्त नही लगाता उसे ऐसा जानना जैसे किसी ने कणरहित वहुत भूसे का ढेर कर लिया हो, वह किसी काम का नही है।" इत्यादि पाठमात्र सुनकर जो विशेप शास्त्रज्ञ है उनकी निन्दा नही करनी और जो वहुश्रुत हैं उनको भी अल्पशास्त्रज्ञों की निन्दा नही करनी चाहिए क्योंकि पर के दोप ग्रहण करने से रागद्वेप की उत्पत्ति होती है, उससे ज्ञान और तप का नाश होता है, यह निश्चय से जानना चाहिए ॥८४॥

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहितानां तीर्थभ्रमणेन मोक्षो न भवतीति कथयति—

अव कहते हैं कि वीतरागस्वसवेदनज्ञान से रहित जीवो को तीर्थाटन करने से भी मोक्ष नहीं होता—

तित्थइँ तित्थु भमंताहँ मूढहँ मोक्खु ण होइ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥८५॥

तीर्थं तीर्थं भ्रमतां मूढानां मोक्षो न भवति।
ज्ञानविवर्जितो येन जीव मुनिवरो भवति न स एव ॥८५॥

तीर्थं तीर्थं प्रति भ्रमतां मूढात्मनां मोक्षो न भवति। कस्मादिति चेत्। ज्ञानविवर्जितो येन कारणेन हे जीव मुनिवरो न भवति स एवेति। तथाहि। निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्न-वीतरागपरमाह्लादस्यन्दिसुन्दरानन्दरूपनिर्मलनीरपूरप्रवाहनिर्भरज्ञानदर्शनादि-गुणसमूहचन्दनादिद्रुमवनराजितं देवेन्द्रचक्रवर्तिगणधरादिभव्यजीवतीर्थयात्रिकसमूहश्रवण-सुखकरदिव्यध्वनिरूपराजहंसप्रभृतिविविधपक्षिकोलाहलमनोहरं यदर्हद्वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तदेव निश्चयेन गङ्गादितीर्थं न लोकव्यवहारप्रसिद्धं गङ्गादिकम्। परमनिश्चयेन तु जिनेश्वरपरमतीर्थसदृश संसारतरणोपायकारणभूतत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिरतानां-निजशुद्धात्मतत्त्वस्मरणमेव तीर्थं, व्यवहारेण तु तीर्थंकरपरमदेवादिगुणस्मरणहेतुभूत मुख्यवृत्त्या पुण्यवन्धकारणं तन्निर्वाणस्थानादिकं च तीर्थमिति। अयमत्र भावार्थः। पूर्वोक्तं निश्चयतीर्थं श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरहितानामज्ञानिनां शेषतीर्थं मुक्तिकारणं न भवतीति ॥८५॥

तित्थइँ तित्थु भमंताहँ मूढहँ मोक्खु ण होइ । जिय ! जेण णाणविवज्जिउ सोइ मुणिवरु ण होइ ।।८५।। तीर्थ-तीर्थ प्रति भ्रमण करने वाले मूर्खों को मुक्ति नहीं होती । हे जीव ! जो ज्ञान-रहित है वह मुनीश्वर नहीं है । भावार्थ–निर्दोषपरमात्मा की भावनासेउत्पन्न वीतराग परम-आह्लाद-स्यन्दी सुन्दर आनन्दरूप निर्मल जल के प्रवाह से परिपूर्ण निर्झर, ज्ञानदर्शनादि गुणसमूहरूपी चन्दनादि वृक्षों के वन से शोभित, देवेन्द्र चक्रवर्ती गणधरादि भव्यजीव रूपी तीर्थयात्रियों के कानों को सुखकारी ऐसी दिव्यध्वनि से शोभायमान और अनेक मुनिजनरूपी राजहंसों को आदि लेकर नानातरह के पक्षियों के शब्दों से महामनोहर जो अरहन्त वीतराग सर्वज्ञ, वे ही निश्चय से गंगादि महातीर्थ हैं, लोकव्यवहार में प्रसिद्ध गंगादिक तीर्थ नहीं हैं । परमनिश्चयनय की अपेक्षा तो जिनेश्वर परमतीर्थसदृश संसार के तरने की कारणभूत वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि में रत मुनियों के निज-शुद्धात्मतत्त्व का स्मरण ही तीर्थ है और व्यवहारनय की अपेक्षा तीर्थंकर परमदेवादि के गुणस्मरण के हेतुभूत मुख्यता से पुण्यबन्ध के कारण निर्वाण क्षेत्र—कैलास, सम्मेदशिखर आदि तीर्थ हैं । यह भावार्थ है । पूर्वोक्त निश्चय तीर्थ के श्रद्धान, ज्ञान, आचरण रहित अज्ञानियों के शेष तीर्थ मुक्ति के कारण नहीं होते हैं ।।८५।।

अथ ज्ञानिनां तथैवाज्ञानिनां च यतीनामन्तरं दर्शयति—

अब ज्ञानी और अज्ञानी यतियों में अन्तर बताते हैं—

णाणिहिँ मूढहँ मुणिवरहँ अंतरु होइ महंतु ।
देहु वि मिल्लइ णाणियउ जीवहँ भिण्णु मुणंतु ।।८६।।

ज्ञानिनां मूढानां मुनिवराणां अन्तरं भवति महत् ।
देहमपि मुञ्चति ज्ञानी जीवाद्भिन्नं मन्यमानः ।।८६।।

ज्ञानिनां मूढानां च मुनिवराणां अन्तरं विशेषो भवति । कथंभूतम् । महत् । कस्मादिति चेत् । देहमपि मुञ्चति । कोऽसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । जीवात्सकाशा-द्भिन्नं मन्यमानो जानन् इति । तथा च । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी पुत्रकलत्रादिबहिर्द्रव्यं तावद्दूरे तिष्ठतु शुद्धबुद्धैकस्वभावात् स्वशुद्धात्मस्वरूपात्सकाशात् पृथग्भूतं जानन् स्व-कीयदेहमपि त्यजति । मूढात्मा पुनः स्वीकरोति इति तात्पर्यम् ।।८६।। एवमेकचत्वारि-शत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रैर्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन द्वितीयमन्तरस्थलं समाप्तम् । तदनन्तरं तत्रैव महास्थलमध्ये सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयमन्तरस्थलं प्रारभ्यते ।

णाणिहिं मूढहँ मुणिवरहँ महंतु अंतरु होइ । णाणियउ देहु वि जीवइँ भिण्णु मुणंतु मिल्लइ ।।८६।। ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि भावलिंगी) और (मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी) अज्ञानी मुनियों में महत् अन्तर है । ज्ञानी तो शरीर को भी जीव से भिन्न जानकर छोड़ देते हैं अर्थात् वे शरीर का भी ममत्व छोड़ देते हैं । भावार्थ–वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी मुनि पुत्रकलत्रादि बहिर्द्रव्य तो दूर ही रहे, वे शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी स्वशुद्धात्मस्वरूप से भिन्न जान कर निज देह को भी छोड़ देते हैं जबकि मूढ़ अज्ञानी

उसे अपनी जान कर स्वीकार करते हैं ॥८६॥ इस प्रकार ४१ दोहासूत्रों के महास्थल में १५ दोहों में वीतराग स्वसंवेदनज्ञान की मुख्यता से दूसरा अन्तरस्थल समाप्त हुआ। अनन्तर इसी महास्थल के अन्तर्गत आठ दोहों में परिग्रह त्याग के व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय अन्तरस्थल प्रारम्भ करते हैं—

लेणहँ इच्छइ मूढु पर भुवणु वि एहु असेसु ।
वहुविह-धम्म-मिसेण जिय दोहिँ वि एहु विसेसु ॥८७॥

लातुं इच्छति मूढः परं भुवनमपि एतद् अशेषम् ।
वहुविधधर्ममिषेण जीव द्वयोः अपि एष विशेषः ॥८७॥

लातुं ग्रहीतुं इच्छति । कोऽसौ । मूढो वहिरात्मा । परं कोऽर्थः, नियमेन । किम् । भुवनमप्येतत्तु अशेषं समस्तम् । केन कृत्वा । वहुविधधर्ममिषेण व्याजेन । हे जीव द्वयोरप्येष विशेषः । कयोर्द्वयोः । पूर्वोक्तसूत्रकथितज्ञानिजीवस्यात्र सूत्रोक्तपुनरज्ञानिजीवस्य च । तथाहि । वीतरागसहजानन्दैकसुखास्वादरूपः स्वशुद्धात्मैव उपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तस्यैव परमात्मनः समस्तमिथ्यात्वरागाद्यास्रवेभ्यः पृथग्रूपेण परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, तत्रैव रागादिपरिहाररूपेण निश्चलचित्तवृत्तिः सम्यक्चारित्रम् इत्येवं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं तत्त्रयात्मकमात्मानमरोचमानस्तथैवाजानन्नभावयंश्च मूढात्मा । किं करोति । समस्तं जगद्धर्मव्याजेन ग्रहीतुमिच्छति, पूर्वोक्तज्ञानी तु त्यक्तुमिच्छतीति भावार्थः ॥८७॥

जिय ! दोहिँ वि एहु विसेसु-मूढु वहुविहधम्ममिसेण एहु असेसु भुवणु वि पर लेणहँ इच्छइ ॥८७॥ ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनों मे इतना ही भेद है कि अज्ञानी धर्म के अनेक वहानों से इस समस्त जगत् को ही नियम से ग्रहण करने की इच्छा करता है। **भावार्थ**–वीतराग सहजानन्द अखण्ड सुख का आस्वादरूप जो स्वशुद्धात्मा है वही उपादेय है, ऐसी जो रुचि है वह सम्यग्दर्शन है, समस्त मिथ्यात्व रागादि आस्रव से भिन्न उसी शुद्धात्मा का ज्ञान, सो सम्यग्ज्ञान है और उसी में रागादि के परिहारपूर्वक निश्चल चित्तवृत्ति वह सम्यक्चारित्र है। इस निश्चयरत्नत्रय स्वरूप त्रयात्मक आत्मा में जिसकी रुचि नही है, जिसे इसका ज्ञान नहीं है और जिसे इसका अनुभव नही है, वह मूढात्मा है। वह धर्म के वहाने से जगत् के समस्त भोगों को ग्रहण करना चाहता है जवकि पूर्वोक्तज्ञानी इन सवको छोड़ देता है ॥८७॥

अथ शिष्यकरणाद्यनुष्ठानेन पुस्तकाद्युपकरणेनाज्ञानी तुष्यति, ज्ञानी पुनर्वन्धहेतुं जानन् सन् लज्जां करोतीति प्रकटयति—

अव कहते है कि अज्ञानी, शिष्य वना कर और पुस्तकादि उपकरणो का संग्रह करके सन्तुष्ट होता है जवकि ज्ञानी इन्हे वन्ध का कारण जानते हुए इनके सग्रह में लज्जावान होता है—

चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिँ तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिँ लज्जइ णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु ॥८८॥

शिष्यार्जिकापुस्तकैः तुष्यति मूढो निर्भ्रान्तः ।
एतैः लज्जते ज्ञानी बन्धस्य हेतुं जानन् ॥८८॥

शिष्यार्जिकादीक्षादानेन पुस्तकप्रभृत्युपकरणैश्च तुष्यति संतोषं करोति । कोऽसौ । मूढः । कथंभूतः । निर्भ्रान्तः एतैर्बहिर्द्रव्यैर्लज्जां करोति । कोऽसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन्नपि । पुण्यबन्धहेतुं जानन्नपि । तथा च । पूर्वसूत्रोक्तसम्यग्दर्शनचारित्रलक्षणं निज-शुद्धात्मस्वभावमश्रद्दधानो विशिष्टभेदज्ञानेनाजानंश्च तथैव वीतरागचारित्रेणाभावयंश्च मूढात्मा । किं करोति । पुण्यबन्धकारणमपि जिनदीक्षादानादिशुभानुष्ठानं पुस्तका-द्युपकरणं वा मुक्तिकारणं मन्यते । ज्ञानी तु यद्यपि साक्षात्पुण्यबन्धकारणं मन्यते परं-परया मुक्तिकारणं च तथापि निश्चयेन मुक्तिकारणं न मन्यते इति तात्पर्यम् ॥८८॥

मूढु चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिँ तूसइ णिभंतु, णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु एयहिँ लज्जइ ॥८८॥
अज्ञानी जन शिष्य-शिष्या-पुस्तकादिक से तुष्ट होता है, इसमें कोई सन्देह नही है, ज्ञानी इन सबको बंध का कारण जानते हुए बाह्य पदार्थों मे लज्जित होता है । **भावार्थ**–पूर्वदोहे में कथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षण वाली निज शुद्धात्मा का न श्रद्धान करते हुए, न ज्ञान करते हुए और न अनुभव करते हुए मूढात्मा पुण्यबन्ध के कारणों जिनदीक्षा, दानादि शुभ आचरण, पुस्तकादि उपकरणों को मुक्ति के कारण मानता है । यद्यपि ज्ञानी इन्हें साक्षात् पुण्यबन्ध के कारण मानता है और परम्परा से मुक्ति के कारण मानता है तथापि निश्चयनय की अपेक्षा इन्हें मुक्ति के कारण नहीं मानता है, यह तात्पर्य है ॥८८॥

अथ चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैर्मोहमुत्पाद्य मुनिवराणां उत्पथे पात्यते [?] इति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि पीछी, पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरण मोह उत्पन्न कराके मुनियो को खोटे मार्ग में पटक देते हैं—

चट्टहिँ पट्टहिँ कुंडियहिँ चेल्ला-चेल्लियएहिँ ।
मोहु जणेविणु मुणिवरहँ उप्पहि पाडिय तेहिँ ॥८९॥

चट्टैः पट्टैः कुण्डिकाभिः शिष्यार्जिकाभिः ।
मोहं जनयित्वा मुनिवराणां उत्पथे पातितास्तैः ॥८९॥

चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैः शिष्यार्जिकापरिवारैश्च कर्तृभूतैर्मोहं जनयित्वा । केषाम् । मुनिवराणां, पश्चादुन्मार्गे पातितास्ते तु तैः । तथाहि । तथा कश्चिदजीर्ण-भयेन विशिष्टाहारं त्यक्त्वा लङ्घनं कुर्वन्नास्ते पश्चादजीर्णप्रतिपक्षभूतं किमपि मिष्टौषधं गृहीत्वा जिह्वालाम्पट्येनौषधेनापि अजीर्णं करोत्यज्ञानी इति, न च ज्ञानीति, तथा कोऽपि तपोधनो विनीतवनितादिकं मोहभयेन त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा च शुद्धबुद्धैक-

स्वभावनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनीरोगत्वप्रतिपक्षभूतमजीर्णरोगस्थानीयं मोहमुत्पाद्यात्मनः। किं कृत्वा। किमप्यौषधस्थानीयमुपकरणादिकं गृहीत्वा। कोऽसावज्ञानी न तु ज्ञानीति। इदमत्र तात्पर्यम्। परमोपेक्षासंयमधरेण शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतः सर्वोऽपि तावत्परिग्रहस्त्याज्यः। परमोपेक्षासंयमाभावे तु वीतरागशुद्धात्मानुभूतिभावसंयमरक्षणार्थं विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोतीति। तथा चोक्तम्—**"रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु। धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम्॥"** ॥८९॥

चट्टहिँ पट्टहिँ कुंडियहिँ, चेल्ला-चेल्लियएहिँ मुणिवरहँ मोहु जणेविणु तेहिँ उप्पहि पाडिय ॥८९॥ पीछी, पुस्तक, कमण्डलु आदि और शिष्य-शिष्याएँ मुनिवरों को मोह उत्पन्न कराके उन्हें उन्मार्गगामी बना देते हैं। भावार्थ–जैसे कोई अजीर्ण के भय से विशिष्ट आहार का त्याग कर लंघन करे, पीछे अजीर्ण को दूर करने वाली कोई मीठी औषधि लेकर जिह्वा की लम्पटता के वशीभूत हो उसकी अधिक मात्रा लेकर औषधि का ही अजीर्ण करता है, वह अज्ञानी ही है, ज्ञानी नहीं। उसी प्रकार कोई तपोधन अपनी विनीत स्त्री आदिक को मोह के भय से छोड़कर जिनदीक्षा अंगीकार कर अजीर्णरूपी मोह को दूर करने के लिए वैराग्य धारण कर औषधि तुल्य उपकरणों को ग्रहण करके उनका ही रागी-मोही हो जाता है, वह औषधि का ही अजीर्ण करता है। उसके शुद्धबुद्ध अखण्ड स्वभाव निजशुद्धात्म तत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप नीरोगता की अपेक्षा मोहरूपी रोग ही उत्पन्न होता है। इसका अभिप्राय यह है कि परमोपेक्षा संयम धारक को शुद्धात्मानुभूति के प्रतिपक्षी सर्व परिग्रह का त्याग करना चाहिए और जिनके परमोपेक्षा संयम नहीं लेकिन व्यवहार संयम है उनके वीतराग शुद्धात्मानुभूतिरूप भावसंयम की रक्षा के निमित्त विशेष संहननादि शक्ति का अभाव होने पर यद्यपि तप के साधन शरीर की रक्षा के लिए अन्न, पान, संयम, शौच, ज्ञानोपकरण और तृणमय प्रावरण का ग्रहण होता है फिर भी उनको उनमें ममता नहीं होती, मात्र प्रयोजन हेतु उनका ग्रहण होता है। कहा भी है– "मनोज्ञ स्त्री आदि पदार्थों के प्रति भी जिसका मोह नष्ट हो गया है, ऐसा मुनि संयम के साधन पीछी कमण्डलु पुस्तक आदि उपकरणों में वृथामोह कैसे कर सकता है? कभी नहीं कर सकता। जैसे क्या कोई बुद्धिमान् पुरुष रोग के भय से भोजन छोड़कर मात्रा से अधिक औषधि लेकर अजीर्ण करता है? कभी नहीं करता।" (गुणभद्राचार्य.आत्मानुशासन २२८) ॥८९॥

अथ केनापि जिनदीक्षां गृहीत्वा शिरोलुञ्चनं कृत्वापि सर्वसंगपरित्यागमकुर्वतात्मा वञ्चित इति निरूपयति—

अब कहते हैं कि जिसने जिनदीक्षा धारण कर सिर का लोच किया, फिर भी सकल परिग्रह का त्याग नहीं किया, उसने अपनी आत्मा को ही वंचित किया—

केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण ।
सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर-लिंगधरेण ।।९०।।

केनापि आत्मा वञ्चितः शिरो लुञ्चित्वा क्षारेण ।
सकला अपि संगा न परिहृता जिनवरलिङ्गधरेण ।।९०।।

केनाप्यात्मा वञ्चितः । किं कृत्वा । शिरोलुञ्चनं कृत्वा । केन । भस्मना । कस्मादिति चेत् । यतः सर्वेऽपि संगा न परिहृताः । कथंभूतेन भूत्वा । जिनवरलिङ्गधारकेणेति । तद्यथा । वीतरागनिर्विकल्पनिजानन्दैकरूपसुखरसास्वादपरिणतपरमात्मभावनास्वभावेन तीक्ष्णशस्त्रोपकरणेन बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहकांक्षारूपप्रभृतिसमस्तमनोरथकल्लोलमालात्यागरूपं मनोमुण्डनं पूर्वमकृत्वा जिनदीक्षारूपं शिरोमुण्डनं कृत्वापि केनाप्यात्मा वञ्चितः । कस्मात् । सर्वसंगपरित्यागाभावादिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दपरिग्रहं कृत्वा तु जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च दृष्टश्रुतानुभूतनि.परिग्रहशुद्धात्मानुभूतिविपरीतपरिग्रहकाङ्क्षास्त्वं त्यजेत्यभिप्राय. ।।९०।।

केण वि जिणवर लिंगधरेण छारेण सिरु लुंचिवि सयल वि संग ण परिहरिय अप्पउ वंचियउ ।।९०।। जिस किसी ने जिनेन्द्र का लिग धारण करके भस्म से सिर के केशों का तो लौंच किया लेकिन सब परिग्रह का त्याग नही किया, उसने अपनी आत्मा को ही ठगा है। **भावार्थ**–वीतराग निर्विकल्प निजानन्द अखण्डरूप सुखरस का जो आस्वाद, उस रूप परिणत जो परमात्मा की भावना वही हुआ तीक्ष्ण शस्त्र, उससे बाहर के और भीतर के परिग्रहों की वाञ्छा को आदि ले समस्त मनोरथों की कल्लोल मालाओं के त्यागरूप मन का मुण्डन तो नही किया और जिनदीक्षारूप शिरोमुण्डन किया, उसने अपनी आत्मा को ही ठगा क्योंकि उसने वेश तो धारण किया किन्तु सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग नहीं किया। ऐसा व्याख्यान जानकर निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न, वीतराग परम आनन्दस्वरूप को अंगीकार कर तीनों काल तीनों लोक में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना कर देखे सुने अनुभवे जो परिग्रह, उनकी वाञ्छा सर्वथा त्यागनी चाहिए। ये परिग्रह शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत हैं ।।९०।।

अथ ये सर्वसंगपरित्यागरूपं जिनलिङ्गं गृहीत्वापीष्टपरिग्रहान् गृह्णन्ति ते छर्दि कृत्वा पुनरपि गिलन्ति तामिति प्रतिपादयति—

अब यह कहते है कि जो सर्वसग के परित्यागरूप जिन-मुद्रा को धारण कर भी परिग्रह को धारण करते हैं वे वमन कर पुनः चाटते हैं —

जे जिण-लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेंति ।
छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति ।।९१।।

ये जिनलिंगं धृत्वापि मुनय इष्टपरिग्रहान् लान्ति ।
छर्दिं कृत्वा ते एव जीव तां पुनः छर्दिं गिलन्ति ॥६१॥

ये केचन जिनलिङ्गं गृहीत्वापि मुनयस्तपोधना इष्टपरिग्रहान् लान्ति गृह्णन्ति । ते किं कुर्वन्ति । छर्दिं कृत्वा त एव हे जीव तां पुनश्छर्दिं गिलन्तीति । तथापि गृहस्थापेक्षया चेतनपरिग्रहः पुत्रकलत्रादिः, सुवर्णादिः पुनरचेतनः, साभरणवनितादि पुनर्मिश्रः । तपोधनापेक्षया छात्रादिः सचित्तः, पिच्छकमण्डल्वादिः पुनरचित्तः, उपकरणसहितश्छात्रादिस्तु मिश्रः । अथवा मिथ्यात्वरागादिरूपः सचित्तः, द्रव्यकर्मनोकर्मरूपः, पुनरचित्तः द्रव्यकर्मभावकर्मरूपस्तु मिश्रः । वीतरागत्रिगुप्तसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सिद्धरूपः सचित्तः पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपः पुनरचित्तः गुणस्थानमार्गणास्थानजीवस्थानादिपरिणतः संसारीजीवस्तु मिश्रश्चेति । एवंविधबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितं जिनलिङ्गं गृहीत्वापि ये शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणमिष्टपरिग्रहं गृह्णन्ति ते छर्दिताहारग्राहकपुरुषसदृशा भवन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—**"त्यक्त्वा स्वकीयपितृमित्रकलत्रपुत्रान् सक्तोऽन्यगेहवनितादिषु निर्मुमुक्षुः । दोर्भ्यां पयोनिधिसमुद्गतनक्रचक्रं प्रोत्तीर्य गोष्पदजलेषु निमग्नवान् सः ॥"** ॥६१॥

जे मुणि जिणलिंगु धरेवि इट्ठपरिग्गह लेंति । ते जि जिय ! छद्दि करेविणु पुणु सा छद्दि गिलंति ॥६१॥ जो मुनि जिनलिंग को धारण करके भी इष्ट परिग्रहों को ग्रहण करते है, वे ही हे जीव ! वमन करके फिर उसे ही खाते हैं । परिग्रह के तीन भेद हैं—गृहस्थ की अपेक्षा चेतनपरिग्रह पुत्र-कलत्रादि, अचेतनपरिग्रह आभरणादि और मिश्र परिग्रह आभरणसहित स्त्रीपुत्रादि; मुनि की अपेक्षा सचित्त परिग्रह शिष्यादि, अचित्तपरिग्रह पीछी-कमण्डलु पुस्तकादि, और मिश्र परिग्रह पीछी-कमण्डलु पुस्तकादि सहित शिष्यादि अथवा भावों की अपेक्षा सचित्त परिग्रह मिथ्यात्वरागादि, अचित्तपरिग्रह द्रव्यकर्म और नोकर्म और मिश्र परिग्रह द्रव्यकर्म भावकर्म दोनों मिले हुए । अथवा वीतराग त्रिगुप्ति में लीन ध्यानी पुरुष की अपेक्षा सचित्तपरिग्रह सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान, अचित्त परिग्रह पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का विचार और मिश्रपरिग्रह गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमासादिरूप संसारीजीव का विचार । इस प्रकार के बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित जिनलिंग को धारण करके भी जो अज्ञानी शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत परिग्रह को ग्रहण करते है, वे वमन करके पुनः उसका भक्षण करने वाले पुरुषों के समान निन्दनीय होते है । यह भावार्थ है । अन्यत्र भी कहा है—"जो जीव अपने माता-पिता-पुत्र-मित्र-कलत्र इन सबको छोड कर पर के घर और वनितादिक में मोह करते हैं, वे भुजाओं से जलचरो से परिपूर्ण समुद्र को तैर कर गाय के खुर से बने हुए गड्ढे के जल में डूबते है ।" ॥६१॥

अथ ये ख्यातिपूजालाभनिमित्तं शुद्धात्मानं त्यजन्ति ते लोहकीलनिमित्तं देवं देवकुलं च दहन्तीति कथयति—

अब कहते हैं कि जो ख्याति-पूजा-लाभ के लिए शुद्धात्मा का ध्यान छोडते है वे मानो लोहे की कील के लिए देव और देवालय को जलाते हैं—

लाहहँ कित्तिहि कारणिण जे सिव-संगु चयंति ।
खीला-लग्गिवि ते वि मुणि देउलु देउ डहंति ॥९२॥

लाभस्य कीर्तेः कारणेन ये शिवसंगं त्यजन्ति ।
कीलानिमित्तं तेऽपि मुनयः देवकुलं देवं दहन्ति ॥९२॥

लाभकीर्तिकारणेन ये केचन शिवसंगं शिवशब्दवाच्यं निजपरमात्मध्यानं त्यजन्ति ते मुनयस्तपोधनाः । किं कुर्वन्ति । लोहकीलिकाप्रायं निःसारेन्द्रियसुखनिमित्तं देवशब्दवाच्यं निजपरमात्मपदार्थं दहन्ति देवकुलशब्दवाच्यं दिव्यपरमौदारिकशरीरं च दहन्तीति । कथमिति चेत् । यदा ख्यातिपूजालाभार्थं शुद्धात्मभावनां त्यक्त्वा वर्तन्ते तदा ज्ञानावरणादिकर्मबन्धो भवति तेन ज्ञानावरणकर्मणा केवलज्ञानं प्रच्छाद्यते केवलदर्शनावरणेन केवलदर्शनं प्रच्छाद्यते वीर्यान्तरायेण केवलवीर्यं प्रच्छाद्यते मोहोदयेनानन्तसुखं च प्रच्छाद्यते इति । एवंविधानन्तचतुष्टयस्यालाभे परमौदारिकशरीरं च न लभन्त इति । यदि पुनरनेकभवे परिच्छेदं कृत्वा शुद्धात्मभावनां करोति तदा संसारस्थितिं छित्वाऽद्यकालेऽपि स्वर्गं गत्वागत्य शीघ्रं शाश्वतसुखं प्राप्नोतीति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम्—"**सग्गो तवेण सव्वो वि पावए किं तु झाणजोएण । जो पावइ सो पावइ परभवे सासयं सोक्खं ॥**" ॥९२॥

जे लाहहँ कित्तिहि कारणिण सिवसंगु चयंति ते वि मुणि खीला लग्गिवि देउलु देउ डहंति ॥९२॥ जो कोई लाभ और कीर्ति के कारण परमात्मा के ध्यान को छोड़ देते हैं वे मुनि लोहे की कील के लिए यानी असार इन्द्रियसुखों के लिए मुनिपद योग्य शरीररूपी देवस्थान को तथा आत्मदेव को भवाताप से भस्म करते हैं । भावार्थ–जब ख्यातिपूजा लाभ के लिए शुद्धात्मभावना को छोड़कर अज्ञानभावों में प्रवृत्त होते हैं तब ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध होता है, उससे केवलज्ञान आच्छादित होता है, केवलदर्शनावरण से केवलदर्शन आच्छादित होता है, वीर्यान्तराय कर्म से केवलवीर्य आच्छादित होता है और मोहनीयकर्म से अनन्तसुख ढका जाता है । इस प्रकार अनन्तचतुष्टय के अलाभ में परमौदारिक शरीर नहीं मिलता । (क्योंकि जो उसी भव में मोक्ष जाता है, उसी के परमौदारिक शरीर होता है ।) यदि फिर अनेक भवों में पहचान / निर्णय करके शुद्धात्मभावना करता है तब संसार की स्थिति को छेद कर अभी स्वर्ग में जाकर वहाँ से आकर फिर शीघ्र शाश्वत सुख को प्राप्त करता है, यह तात्पर्य है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—"तप से स्वर्ग तो सभी पाते हैं किन्तु जो कोई ध्यानयोग से स्वर्ग पाता है, वह परभव में शाश्वत सुख को प्राप्त करता है अर्थात् स्वर्ग से आकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है ।" (कुन्दकुन्द मोक्षप्राभृत-२३) ॥९२॥

अथ यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेणात्मानं महान्तं मन्यते स परमार्थं न जानातीति दर्शयति—

अब दर्शाते हैं कि जो कोई बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से अपने आप को महान् मानता है, वह परमार्थ को नहीं जानता—

अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि गरुयउ गंथहिं तत्थु ।
सो परमत्थे जिणु भणइ णवि बुज्झइ परमत्थु ।।९३।।

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः गुरुक ग्रन्थैः तथ्यम् ।
स परमार्थेन जिनो भणति नैव बुध्यते परमार्थम् ।।९३।।

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः । कथंभूतं मन्यते । गुरुकं महान्तम् । कैः । ग्रन्थैर्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहैस्तथ्यं सत्य स पुरुषः परमार्थेन वस्तुवृत्त्या नैव बुध्यते परमार्थमिति जिनो वदति । तथाहि । निर्दोपिपरमात्मविलक्षणैः पूर्वसूत्रोक्तसचित्ताचित्तमिश्रपरिग्रहैर्ग्रन्थरचनारूपशब्दशास्त्रैर्वा आत्मानं महान्तं मन्यते यः स परमार्थशब्दवाच्यं वीतरागपरमानन्दैकस्वभावं परमात्मानं न जानातीति तात्पर्यम् ।।९३।।

जो जि मुणि गंथहिं अप्पउ गरुयउ मण्णइ तत्थु सो परमत्थे परमत्थु णवि बुज्झइ जिणु भणइ ।।९३।। जो कोई मुनि बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों से अपने आपको महान्/बड़ा मानता है अर्थात् परिग्रह से गौरव मानता है, निश्चय से वह वास्तव में परमार्थ को नहीं जानता—ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं । भावार्थ—निर्दोष परमात्मा से पराङ्मुख जो पूर्वसूत्र में कथित सचित्ताचित्तमिश्र परिग्रह है, उनमें अपने को बड़ा मानता है वा ग्रन्थरचनारूप शब्दशास्त्रों से अपने को महन्त मानता है, वह परमार्थशब्द से वाच्य वीतरागपरमानन्द अखण्डस्वभाव निज आत्मा को नहीं जानता, वह आत्मज्ञान से रहित है ।।९३।।

ग्रन्थेनात्मानं महान्तं मन्यमानः सन् परमार्थं कस्मान्न जानातीति चेत्—

"जो ग्रन्थ से अपने को महान् मानता है वह परमार्थ को क्यों नहीं जानता ?" शिष्य के ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

बुज्झंतहँ परमत्थु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ ।
जीवा सयल वि बंभु परु जेण वियाणइ सोइ ।।९४।।

बुध्यमानाना परमार्थं जीव गुरुः लघुः अस्ति न कोऽपि ।
जीवाः सकला अपि ब्रह्म परं येन विजानाति सोऽपि ।।९४।।

बुध्यमानानाम् । कम् । परमार्थम्, हे जीव गुरुत्वं लघुत्वं वा नास्ति । कस्मान्नास्ति । जीवाः सर्वेऽपि परमब्रह्मस्वरूपाः तदपि कस्मात् । येन कारणेन ब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा केवलज्ञानेन सर्वं जानाति यथा तथा निश्चयनयेन सोऽप्येको विवक्षितो जीवः संसारी सर्वं जानातीत्यभिप्रायः ।।९४।।

एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परिग्रहपरित्यागव्याख्यानमुख्यतया सूत्राष्टकेन तृतीयमन्तरस्थलं समाप्तम् ।। अत ऊर्ध्वं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनिश्चयेन सर्वे

जीवाः केवलज्ञानादिगुणैः समानास्तेन कारणेन षोडशवर्णिकासुवर्णवद्भेदो नास्तीति प्रतिपादयति ।

जिय ! परमत्थु वुज्झंतहँ कोइ गुरु लहु ण अत्थि । सयल वि जीवा परबंभु जेण सोइ वियाणइ ॥९४॥ हे जीव ! परमार्थ को समझने वाले पुरुषों के लिए कोई जीव बड़ा छोटा नहीं है, सभी जीव परमब्रह्म स्वरूप हैं क्योंकि निश्चयनय से वह सम्यग्दृष्टि सबको एक जीव ही जानता है । **भावार्थ**–ब्रह्म अर्थात् मुक्तात्मा केवलज्ञान मे सबको जानती देखती है उसी प्रकार निश्चयनय से सम्यग्दृष्टि जीव भी सब जीवों को शुद्धरूप में ही देखता है ॥९४॥

इसप्रकार ४१ दोहों के महास्थल में परिग्रह और परिग्रहत्याग व्याख्यान की मुख्यता से आठ दोहों में तीसरा अन्तरस्थल समाप्त हुआ । अब १३ दोहों में शुद्धनिश्चयनय से सब जीव केवलज्ञानादिगुणो मे समान हैं अतः सोलहवानी के सोने की तरह भेद नही है, यह कहते हैं—

जो भत्तउ रयण-त्तयह तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अच्छउ कहिँ वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ ॥९५॥

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं इदम् ।
तिष्ठतु कस्यामपि कुडयां स तस्य करोति न भेदम् ॥९५॥

जो इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **जो** यः **भत्तउ** भक्तः । कस्य । **रयणत्तयहं** रत्नत्रयस्य **तसु** तस्य पुरुषस्य **मुणि** मन्यस्व जानीहि । किम् । **लक्खणु एउ** लक्षणं इदं प्रत्यक्षीभूतम् । इदं किम् । **अच्छउ कहिं वि कुडिल्लियइ** तिष्ठतु कस्यामपि कुडयां शरीरे **सो तसु करइ ण भेउ** स ज्ञानी तस्य जीवस्य देहभेदेन भेदं न करोति । तथाहि । योऽसौ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी निश्चयस्य निश्चयरत्नत्रयलक्षणपरमात्मनो वा भक्तः तस्येदं लक्षणं जानीहि । **हे प्रभाकरभट्ट** । क्वापि देहे तिष्ठतु जीवस्तथापि शुद्धनिश्चयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणैर्भेदं न करोतीति । अत्राह **प्रभाकरभट्टः** । हे भगवन् ! जीवानां यदि देहभेदेन भेदो नास्ति तर्हि यथा केचन वदन्त्येक एव जीवस्तन्मतमायातम् । भगवानाह । शुद्धसंग्रहनयेन सेनावनादिवज्जात्यपेक्षया भेदो नास्ति व्यवहारनयेन पुनर्व्यक्त्यपेक्षया वने भिन्नभिन्नवृक्षवत् सेनायां भिन्नभिन्नहस्त्यश्वादिवद्भेदोऽस्तीति भावार्थः ॥९५॥

जो रयणत्तयह भत्तउ तसु एउ लक्खणु मुणि । कहिँ वि कुडिल्लियइ अच्छउ सो तसु भेउ ण करइ ॥९५॥ जो रत्नत्रय का भक्त है, उसका यह लक्षण जानना कि वह ज्ञानी, जीव किसी भी शरीर में रहे उस जीव का भेद नही करता अर्थात् देह के भेद से तो भेद करता है परन्तु ज्ञानदृष्टि से सबको समान मानता है । **भावार्थ**–हे प्रभाकर भट्ट ! वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी निश्चयरत्नत्रय के आराधक का तू यह लक्षण निस्सन्देह जान कि कर्मोदय से जीव किसी भी शरीर में रहे परन्तु निश्चय से वह शुद्ध-बुद्ध ही है जैसे सोने मे वान-भेद है वैसे जीवो में केवलज्ञानादि अनन्तगुणों से भेद नहीं है ।

यहाँ प्रभाकरभट्ट फिर प्रश्न करते हैं—हे भगवन् ! जो जीवों में देह के भेद से भेद नहीं है, सब समान हैं तब जो वेदान्ती एक ही आत्मा मानते है, उनको क्यों दोष देते हो ? श्रीगुरु इसका उत्तर देते हैं—शुद्ध सग्रहनय से सेना एक कही जाती है जबकि उसमें अनेक सिपाही, हाथी, घोड़े, रथ आदि है, उसी प्रकार जाति की अपेक्षा जीवों में भेद नही है, सब एक जाति हैं और व्यवहारनय से व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है, अनन्त जीव है, एक नही है। जैसे वन एक है किन्तु वृक्ष भिन्न-भिन्न हैं, उसी तरह जाति से जीवों मे एकता है लेकिन जीव भिन्न-भिन्न है ।।९५।।

अथ त्रिभुवनस्थजीवानां मूढा भेदं कुर्वन्ति, ज्ञानिनस्तु भिन्नभिन्नसुवर्णानां षोडशवर्णिकैकत्ववत्केवलज्ञानलक्षणेनैकत्वं जानन्तीति दर्शयति—

अव कहते हैं कि अज्ञानीजन तीन लोक में रहने वाले जीवों का भेद करते है और ज्ञानीजन सोने के भिन्न-भिन्न वानो के होने पर भी सोने की अपेक्षा एक जानकर केवलज्ञान-लक्षण की अपेक्षा जीवों में समानता देखते है--

जीवहँ तिहुयण-संठियहँ मूढा भेउ करंति ।
केवल-णाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति ।।९६।।

जीवाना त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वन्ति ।
केवलज्ञानेन ज्ञानिन: स्फुट सकलमपि एकं मन्यन्ते ।।९६।।

जीवहं इत्यादि । **जीवहं तिहुयणसंठियहं** श्वेतकृष्णरक्तादिभिन्नभिन्नवस्त्रैर्वेष्टितानां षोडशवर्णिकानां भिन्नभिन्नसुवर्णानां यथा व्यवहारेण वस्त्रवेष्टनभेदेन भेदः तथा त्रिभुवनसंस्थितानां जीवानां व्यवहारेण भेदं दृष्ट्वा निश्चयनयेनापि **मूढा भेउ करंति** मूढात्मानो भेदं कुर्वन्ति । **केवलणाणिं** वीतरागसदानन्दैकसुखाविनाभूतकेवलज्ञानेन वीतरागस्वसंवेदनेन **णाणि** ज्ञानिनः **फुडु** स्फुटं निश्चितं **सयलु वि** समस्तमपि जीवराशि **एक्कु मुणंति** संग्रहनयेन समुदायं प्रत्येकं मन्यन्त इति अभिप्रायः ।।९६।।

तिहुयण-संठियहँ जीवहँ मूढा भेउ करंति । णाणि केवलणाणिं फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति ।।९६।। तीनों लोकों मे रहने वाले जीवों का मूर्ख ही भेद करते है और ज्ञानी जीव केवलज्ञान से प्रकट सब जीवों को समान जानते हैं । **भावार्थ**--व्यवहारनय की अपेक्षा सोलहवान के सुवर्ण को भिन्न-भिन्न वस्त्रों में लपेटे तो वस्त्र के भेद से भेद है, परन्तु सुवर्णपने में कोई भेद नही है, उसी प्रकार तीन लोक मे स्थित जीवों का व्यवहारनय से शरीरभेद से भेद है, जीवपने से भेद नही है । देह का भेद देखकर मूढ जीव भेद मानते हैं और वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी जीवपने से सब जीवों को समान मानते हैं, यह अभिप्राय है ।।९६।।

अथ केवलज्ञानादिलक्षणेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वे जीवाः समाना इति कथयति—

अब कहते हैं कि केवलज्ञानादिलक्षण से शुद्ध सग्रहनय की अपेक्षा सब जीव समान है—

जीवा सयल वि णाण-मय जम्मण-मरण-विमुक्क ।
जीव-पएसहिँ सयल सम सयल वि सगुणहिँ एक्क ।।६७।।

जीवाः सकला अपि ज्ञानमया जन्ममरणविमुक्ताः ।
जीवप्रदेशैः सकलाः समाः सकला अपि स्वगुणैरेके ।।६७।।

जीवा इत्यादि । **जीवा सयल वि णाणमय** व्यवहारेण लोकालोकप्रकाशकं निश्चयेन स्वशुद्धात्मग्राहकं यत्केवलज्ञानं तज्ज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण केवलज्ञानावरणेन झंपितं तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन तदावरणाभावात् पूर्वोक्तलक्षणकेवलज्ञानेन निवृत्तत्वात्सर्वेऽपि जीवा ज्ञानमयाः **जम्मसरणविमुक्क** व्यवहारनयेन यद्यपि जन्ममरणसहितास्तथापि निश्चयेन वीतरागनिजानन्दैकरूपसुखामृतमयत्वादनाद्यनिधनत्वाच्च शुद्धात्मस्वरूपाद्विलक्षणस्य जन्ममरणनिर्वर्तकस्य कर्मण उदयाभावाज्जन्ममरणविमुक्ताः । **जीवपएसहिं सयल सम** यद्यपि संसारावस्थायां व्यवहारेणोपसंहारविस्तारयुक्तत्वाद्देहमात्रा मुक्तावस्थायां तु किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणास्तथापि निश्चयनयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वहानिवृद्धयभावात् स्वकीयस्वकीयजीवप्रदेशैः सर्वे समानाः । **सयल वि सगुणहिं एक्क** यद्यपि व्यवहारेणाव्याबाधानन्तसुखादिगुणाः संसारावस्थायां कर्मझंपितास्तिष्ठन्ति, तथापि निश्चयेन कर्माभावात् सर्वेऽपि स्वगुणैरेकप्रमाणा इति । अत्र यदुक्तं शुद्धात्मनः स्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यम् ।।६७।।

सयल वि जीवा णाणमय जम्मणमरण विमुक्क, जीव पएसहिँ सयल सम वि सयल सगुणहिँ एक्क ।।६७।। सभी जीव ज्ञानमय हैं और जन्ममरण से मुक्त हैं । जीवप्रदेशों की अपेक्षा सब समान हैं और सब जीव अपने केवलज्ञानादि गुणों से समान हैं । **भावार्थ**–व्यवहार से लोकालोक प्रकाशक और निश्चयनय से निजशुद्धात्म द्रव्य को ग्रहण करने वाला केवलज्ञान यद्यपि व्यवहारनय से केवलज्ञानावरण कर्म से ढका हुआ है तो भी शुद्ध निश्चय से केवलज्ञानावरण का अभाव होने से केवलज्ञानस्वभाव से सभी जीव केवलज्ञानमयी हैं । यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा सब संसारी जीव जन्ममरण सहित हैं तो भी निश्चयनय से वीतराग निजानन्दरूप अतीन्द्रिय सुखमयी हैं, जिनकी आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं, ऐसे हैं शुद्धात्मस्वरूप से विपरीत जन्ममरण के उत्पन्न करने वाले जो कर्म उनके उदय के अभाव से जन्ममरण रहित है । यद्यपि संसारावस्था में व्यवहारनय से प्रदेशों के संकोच-विस्तार को धारण करने हुए देहप्रमाण है और मुक्तावस्था में चरमशरीर से कुछ कम देहप्रमाण है तो भी निश्चयनय से लोकाकाशप्रमाण असख्यातप्रदेशी है । हानि-वृद्धि न होने से अपने प्रदेशों की अपेक्षा सब समान हैं । यद्यपि व्यवहारनय से संसारावस्था में जीवों के अव्याबाध, अनन्त सुखादि गुण कर्मों से आच्छादित हैं तो भी निश्चयनय की अपेक्षा कर्मों के अभाव से सभी जीव गुणों की अपेक्षा समान हैं । यहाँ जो शुद्धात्मा का स्वरूप कहा गया है, वही उपादेय है, यह तात्पर्य है ।।६७।।

अथ जीवानां ज्ञानदर्शनलक्षणं प्रतिपादयति—

अब जीवों का ज्ञान-दर्शन लक्षण कहते है—

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु ।
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु ।।६८।।

जीवानां लक्षणं जिनवरैः भाषितं दर्शन ज्ञानं ।
तेन न क्रियते भेदः तेषां यदि मनसि जातो विभातः ।।६८।।

जीवहं इत्यादि । जीवहं लक्खणु जिणवरहिं भासिउ दंसणणाणु यद्यपि व्यवहारेण संसारावस्थायां मत्यादिज्ञानं चक्षुरादिदर्शनं जीवानां लक्षणं भवति तथापि निश्चयेन केवलदर्शनं केवलज्ञानं च लक्षणं भाषितम् । कैः जिनवरैः । **तेण ण किज्जइ भेउ तहँ** तेन कारणेन व्यवहारेण देहभेदेऽपि केवलज्ञानदर्शनरूपनिश्चयलक्षणेन तेषां न क्रियते भेदः । यदि किम् । **जइ मणि जाउ विहाणु** यदि चेन्मनसि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानादित्योदयेन जातः । कोऽसौ । प्रभातसमय इति । अत्र यद्यपि षोडशवर्णिकालक्षणं बहूनां सुवर्णानां मध्ये समानं तथाप्येकस्मिन् सुवर्णे गृहीते शेषसुवर्णानि सहैव नायान्ति । कस्मात् । भिन्नभिन्नप्रदेशत्वात् । तथा यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षणं समानं सर्वजीवानां तथाप्येकस्मिन् विवक्षितजीवे पृथक्कृते शेषजीवा सहैव नायान्ति । कस्मात्। भिन्नप्रदेशत्वात् । तेन कारणेन ज्ञायते यद्यपि केवलज्ञानदर्शनं समानं तथापि प्रदेशभेदोऽस्तीति भावार्थः ।।६८।।

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि दंसण-णाणु भासिउ । तेण तहँ भेउ ण किज्जइ, जइ मणि विहाणु जाउ ।।६८।। जिनेन्द्रदेव ने जीवों का लक्षण दर्शन और ज्ञान कहा है, इसलिए उन जीवो मे भेद मत कर, यदि तेरे मन मे ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है अर्थात् अपने ज्ञान मे तू सबको समान जान । **भावार्थ**—यद्यपि व्यवहार मे संसारावस्था मे मति आदिज्ञान और चक्षु आदि दर्शन जीवो का लक्षण होता है तथापि निश्चय से केवलदर्शन और केवलज्ञान ही जीव के लक्षण है । अतः व्यवहार से देह-भेद होने पर भी केवलज्ञानदर्शनरूप निश्चयलक्षण मे उनमे भेद नही किया जाता है । यदि तेरे मन में वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूप सूर्य का उदय हुआ है और मोहनिद्रा के अभाव से आत्मबोधरूप प्रभात हुआ है, तो तू सबको समान देख । जैसे यद्यपि सोलहवानी के सोने सब समान है तो भी उन स्वर्णराशियो में से एक स्वर्ण को ग्रहण करे तो उसके ग्रहण करने से सब स्वर्ण साथ नही आते क्योंकि सबके प्रदेश भिन्न हैं, उसी प्रकार यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षण से सब जीव समान है तो भी एक जीव के ग्रहण मे सबका ग्रहण नही होता क्योंकि सबके प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं । अत. निश्चय हुआ कि यद्यपि केवलज्ञान-दर्शनलक्षण से सब जीव समान है तो भी सबके प्रदेश भिन्न-भिन्न है—यह तात्पर्य है ।।६८।।

अथ शुद्धात्मनां जीवजातिरूपेणैकत्वं दर्शयति—

अब जीवजातिरूप से शुद्धात्माओं की एकता दर्शाते हैं—

बंभहँ भुवणि वसंताहँ जे णवि भेउ करंति ।
ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति ।।६६।।

ब्रह्मणां भुवने वसंतां ये नैव भेदं कुर्वन्ति ।
ते परमात्मप्रकाशकराः योगिन् विमलं जानन्ति ॥९९॥

वंभहं इत्यादि । **बंभहं** ब्रह्मणः शुद्धात्मनः । किं कुर्वतः । **भुवणि वसंताहं** भुवने त्रिभुवने वसंतः निष्ठतः **जे णवि भेउ करंति** ये नैव भेदं कुर्वन्ति । केन । शुद्ध-संग्रहनयेन **ते परमप्पपयासयर** ते ज्ञानिनः परमात्मस्वरूपस्य प्रकाशकाः सन्त **जोइय** हे योगिन् अथवा बहुवचनेन हे योगिनः । किं कुर्वन्ति । **विमलु मुणंति** विमलं संशयादि-रहितं शुद्धात्मस्वरूपं मन्यन्ते जानन्तीति । तद्यथा । यद्यपि जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वं भण्यते तथापि व्यक्त्यपेक्षया प्रदेशभेदेन भिन्नत्वं नगरस्य गृहादिपुरुषादिभेदवत् । कश्चिन्नाह । यथैकोऽपि चन्द्रमा बहुजलघटेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यते तथैकोऽपि जीवो बहुशरीरेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यत इति । परिहारमाह । बहुषु जलघटेषु चन्द्रकिरणोपाधिवशेन जलपुद्गला एव चन्द्राकारेण परिणता न चाकाशस्थचन्द्रमाः । अत्र दृष्टान्तमाह । यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणानां पुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणमन्ति न च देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणमति । यदि परिणमति तदा दर्पणस्थं मुखप्रतिबिम्बं चेतनत्वं प्राप्नोति, न च तथा, तथैकचन्द्रमा अपि नानारूपेण न परिणमतीति । किं च न चैको ब्रह्मनामा कोऽपि दृश्यते प्रत्यक्षेण यश्चन्द्रवन्नानारूपेण भविष्यति इत्यभिप्रायः ॥९९॥

भुवणि वसंताहँ वंभहँ जे भेउ णवि करंति ते परमप्पपयासयर जोइय विमलु मुणंति ॥९९॥ इस लोक में रहने वाले शुद्धात्माओं का जो भेद नहीं करते हैं, वे परमात्मा का प्रकाश करने वाले योगी अपनी निर्मल आत्मा को जानते हैं । यद्यपि जीवराशि की अपेक्षा उनका एकत्व कहा जाता है तथापि व्यक्ति की अपेक्षा और प्रदेशभेद से उनमें भिन्नता है, जैसे समूहरूप से नगर है तथापि गृहादि और पुरुषों का भेद तो है ही । यहाँ कोई शंका करता है कि जैसे एक चन्द्रमा जल से भरे अनेक घड़ों में भिन्न-भिन्नरूप से देखा जाता है वैसे ही एक ही जीव नानाशरीरों में भिन्न-भिन्नरूप से दिखाई देता है । इसका समाधान करते हैं— नाना जलघटों में चन्द्रमा की किरणों की उपाधि से जलजाति के पुद्गल ही चन्द्राकार में परिणत हो गए हैं न कि आकाशस्थ चन्द्रमा । वह तो एक ही है । यहाँ दृष्टान्त देते हैं कि जैसे देवदत्त के मुख की उपाधि से अनेक दर्पणों के पुद्गल ही अनेक मुखों के आकार में परिणमित होते हैं, न कि देवदत्त का मुख नानारूप से परिणमित होता है । यदि देवदत्त का मुख नानारूप से परिणमित होता तो दर्पण में स्थित मुख के प्रतिबिम्ब को भी चेतना प्राप्त हो जाती, परन्तु वे चेतन नहीं होते; वैसे ही एक चन्द्रमा भी नानारूप परिणमन नहीं करता । इसी प्रकार ब्रह्मनामक कोई ऐसा नहीं है जो प्रत्यक्ष में चन्द्रमा के समान नानारूप से परिणमित हो जाएगा अर्थात् जो कोई ऐसा कहते हैं कि एक ही ब्रह्म के नानारूप दिखाई देते हैं उनका कहना ठीक नहीं है । सभी जीव भिन्न-भिन्न हैं, यह अभिप्राय है ॥९९॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति—
आगे कहते हैं कि सब जीवों में समदर्शीपना ही मुक्ति का कारण है—

राय-दोस वे परिहरिवि जे सम जीव णियंति ।
ते सम-भावि परिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहंति ।।१००।।

रागद्वेषौ द्वौ परिहृत्य ये समान् जीवान् पश्यन्ति ।
ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभन्ते ।।१००।।

राय इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **रायदोस बे परिहरिवि** वीत-राग-निजानन्दैकस्वरूपस्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाविलक्षणौ रागद्वेषौ परिहृत्य **जे** ये केचन **सम जीव णियंति** सर्वसाधारणकेवलज्ञानदर्शनलक्षणेन समानान् सदृशान् जीवान् नि-र्गच्छन्ति जानन्ति **ते** ते पुरुषाः । कथंभूताः । **समभावि परिट्ठिया** जीवितमरणलाभा-लाभसुखदुःखादिसमताभावनारूपे समभावे प्रतिष्ठिता सन्तः **लहु णिव्वाणु लहंति** लघु शीघ्रं आत्यन्तिकस्वभावैकाचिन्त्याद्भुतकेवलज्ञानादिगुणास्पद निर्वाणं लभन्त इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषौ त्यक्त्वा च शुद्धात्मानुभूतिरूपा समभावना कर्तव्येत्य-भिप्रायः ।।१००।।

जे रायदोस वे परिहरिवि जीव सम णियंति ते समभाव परिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहंति ।।१००।। जो राग और द्वेष इन दोनों का परिहार करके सब जीवों को समान समझते हैं, समभाव मे प्रतिष्ठित वे साधु शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करते है । वीतराग निजानन्दस्वरूप निज आत्मद्रव्य की भावना से विमुख रागद्वेष को छोडकर जो महान् पुरुष केवलज्ञानदर्शनलक्षण की अपेक्षा सब ही जीवों को समान गिनते है, वे पुरुष समभाव मे स्थित हुए शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करते है । **समभाव** का लक्षण है – जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दु खादि मे समान भाव । समभाव से मोक्ष मिलता है— वह मोक्ष अत्यन्त अद्भुत अचिन्त्य केवलज्ञानादि अनन्त गुणो का स्थान है । यहाँ यह व्याख्यान जानकर रागद्वेष छोड़कर शुद्धात्मा के अनुरूप समभाव का सदा सेवन करना चाहिए—यही **अभिप्राय** है ।।१००।।

अथ सर्वजीवसाधारणं केवलज्ञानदर्शनलक्षणं प्रकाशयति—

अब कहते है कि सर्व जीवों का साधारण लक्षण उनका केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त होना है—

जीवहँ दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि ।
देह-विभेएँ भेउ तहँ णाणि कि मण्णइ सो जि ।।१०१।।

जीवानां दर्शनं ज्ञानं जीव लक्षण जानाति य एव ।
देहविभेदेन भेद तेपा ज्ञानी किं मन्यते तमेव ।।१०१।।

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां **दंसणु णाणु** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्य-गुणपर्यायाणां क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन परिच्छित्तिसमर्थं विशुद्धदर्शनं ज्ञानं च ।

जिय हे जीव **लक्खणु जो जि** लक्षणं जानाति य एव **देहविभेएं भेउतहं** देहविभेदेन भेदं तेषां जीवानां, देहोद्भवविषयसुखरसास्वादविलक्षणशुद्धात्मभावनारहितेन जीवेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयेनोत्पन्नेन देहभेदेन जीवानां भेदं **णाणि कि मण्णइ** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी किं मन्यते । नैव । कम् । **सो जि** तमेव पूर्वोक्तं देहभेदमिति । अत्र ये केचन ब्रह्माद्वैतवादिनो नानाजीवान्न मन्यन्ते तन्मतेन विवक्षितैकजीवस्य जीवितमरणसुखदुःखादिके जाते सर्वजीवानां तस्मिन्नेव क्षणे जीवितमरणसुखदुःखादिकं प्राप्नोति । कस्मादिति चेत् । एकजीवत्वादिति । न च तथा दृश्यते इति भावार्थः ॥१०१॥

जिय ! जो जि जीवहँ लक्खणु दंसणु णाणु जाणइ सो जि णाणि देह विभेएँ तहँ भेउ किं मण्णइ ॥१०१॥ हे जीव ! जो कोई जीवों का निज लक्षण दर्शन और ज्ञान जानता है, वही ज्ञानी देह के भेद से क्या उन जीवों के भेद को मान सकता है, अर्थात् नहीं मान सकता । **भावार्थ**–तीनलोक और तीनकालवर्ती समस्त द्रव्यगुणपर्यायों को एक ही समय में जानने में समर्थ जो केवलदर्शन, केवलज्ञान है, उसे निजलक्षणों से जो कोई जानता है, वही सिद्धपद पाता है । जो ज्ञानी अच्छी तरह इन निज लक्षणों को जान लेता है वह देह के भेद से जीवों का भेद नहीं मान सकता अर्थात् देह से उत्पन्न विषय-सुख के रस के आस्वाद से विमुख शुद्धात्मा की भावना से रहित जीव द्वारा उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्म, उनके उदय से उत्पन्न हुए देहादिक के भेद से जीवों का भेद, वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी कदापि नहीं मान सकता । देह में भेद हुआ तो क्या, गुण से सब समान हैं और जीव जाति से एक है । यहाँ पर जो कोई ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती नाना जीवों को नहीं मानते है और वे एक ही जीव मानते हैं, उनकी यह बात अप्रमाण है । उनके मत में एक ही जीव के मानने से बड़ा भारी दोष होता है । वह इस तरह है कि एक जीव के जीने-मरने, सुख-दुःखादि के होने पर सब जीवों के उसी समय जीना-मरना, सुख-दुःखादि होना चाहिए, क्योंकि उनके मत मे वस्तु एक है, परन्तु ऐसा देखने मे नहीं आता । इसलिए उनका वस्तु को एक मानना वृथा है, ऐसा समझो ॥१०१॥

अथ जीवानां निश्चयनयेन योऽसौ देहभेदेन भेदं करोति स जीवानां दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं न जानातीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

अब निश्चयनय से जो देह-भेद से जीवों के भेद करता है, वह जीवों के दर्शनज्ञानचारित्र लक्षण को नहीं जानता, ऐसा अभिप्राय मन मे रख कर यह दोहा कहते है—

देह-विभेयइँ जो कुणइ जीवहँ भेउ विचित्तु ।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु ॥१०२॥

देहविभेदेन यः करोति जीवाना भेद विचित्रम् ।
स नैव लक्षणं मनुते तेषा दर्शनं ज्ञान चारित्रम् ॥१०२॥

देह इत्यादि । **देहविभेयइं** देहममत्वमूलभूतानां ख्यातिपूजालाभस्वरूपादीनां अपध्यानानां विपरीतस्य स्वशुद्धात्मध्यानस्याभावे यानि कृतानि कर्माणि तदुदयजनितेन

देहभेदेन **जो कुणइ** यः करोति । कम् । **जीवहं भेउ विचित्तु** जीवानां भेदं विचित्रं नरनारकादिदेहरूपं, **सो णवि लक्खणु मुणइ तहं** स नैव लक्षणं मनुते तेषां जीवानाम् । किलक्षणम् । **दंसणु णाणु चरित्तु** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमिति । अत्र निश्चयेन सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रलक्षणानां जीवानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यचाण्डालादिदेहभेदं दृष्ट्वा रागद्वेषौ न कर्तव्याविति तात्पर्यम् ॥१०२॥

जो देहविभेयइँ जीवइँ विचित्तु भेउ कुणइ सो तहँ दंसणु णाणु चरित्तु लक्खणु णवि मुणइ ॥१०२॥ जो शरीर के भेद से जीवों के नानारूप भेद करता है वह जीवो के दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षण को नही जानता । भावार्थ–देह के ममत्व के मूल कारण ख्याति-पूजा-लाभ स्वरूप अपध्यानों के विपरीत स्वशुद्धात्मध्यान के अभाव में किए हुए कर्मो के उदय से उत्पन्न जो शरीर हैं, उनके भेद मे जो जीवों के भेद मानता है, उसको दर्शनादि गुणो का ज्ञान नही है । यहाँ निश्चयनय से सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र लक्षण वाले जीवों के ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-चाण्डालादि देह के भेदो को देख कर रागद्वेष नही करना चाहिए, यह तात्पर्य है ॥१०२॥

अथ शरीराणि बादरसूक्ष्माणि विधिवशेन भवन्ति न च जीवा इति दर्शयति—

अब कहते हैं कि कर्मोदय से शरीर स्थूल-सूक्ष्म होते है न कि जीव—

अंगइँ सुहुमइँ बादरइँ विहि-वसिँ होंति जे बाल ।
जिय पुणु सयल वि तित्तडा सव्वत्थ वि सय-काल ॥१०३॥

अङ्गानि सूक्ष्माणि बादराणि विधिवशेन भवन्ति ये बालाः ।
जीवाः पुनः सकला अपि तावन्तः सर्वत्रापि सदाकाले ॥१०३॥

अंगइं इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **अंगइं सुहुमइं बादरइं** अङ्गानि सूक्ष्मबादराणि जीवानां **विहिवसि होंति** विधिवशाद्भवन्ति अङ्गोद्भवपञ्चेन्द्रियविषय-कांक्षामूलभूतानि दृष्टश्रुतानुभूतभोगवाञ्छारूपनिदानबन्धादीनि यान्यपध्यानानि, तद्वि-लक्षणा यासौ स्वशुद्धात्मभावना तद्रहितेन जीवेन यदुपार्जितं विधिसंज्ञं कर्म तद्वशेन भवन्त्येव । न केवलमङ्गानि भवन्ति **जे बाल** ये बालवृद्धादिपर्यायाः तेऽपि विधिवशेनैव । अथवा संबोधनं हे बाल अज्ञान । **जिय पुणु सयल वि तित्तडा** जीवाः पुनः सर्वेऽपि तत्प्रमाणा द्रव्यप्रमाण प्रत्यनन्ताः, क्षेत्रापेक्षयापि पुनरेककोऽपि जीवो यद्यपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रस्तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः । क्व । **सव्वत्थ वि** सर्वत्र लोके । न केवलं लोके **सयकाल** सर्वत्र कालत्रये तु । अत्र जीवानां बादरसूक्ष्मादिकं व्यवहारेण कर्मकृतभेदं दृष्ट्वा विशुद्धदर्शनज्ञानलक्षणापेक्षया निश्चयनयेन भेदो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥१०३॥

जे अगइँ विहि वसिँ सुहुमइँ बादरइँ बाल होंति पुणु जिय सयल वि सव्वत्थ वि सयकाल तित्तडा ॥१०३॥ कर्मोदय से शरीर सूक्ष्म, स्थूल और बाल, तरुण, वृद्ध आदि अवस्थाओ वाले होते हैं, जीव तो सभी सब जगहो और सब कालो मे उतने प्रमाण ही रहते है अर्थात् असख्यातप्रदेशी ही रहते हैं। **भावार्थ**–जीवो के विविध शरीर और उनकी विविध अवस्थाये कर्मोदय से होती हैं। अगो से उत्पन्न हुए पचेन्द्रिय विषयो की आकाक्षा जिनका मूल कारण है, ऐसे दृष्ट-श्रुत और अनुभूत भोगो की वाछारूप निदान बन्धादि खोटे ध्यानो से विपरीत जो यह स्वशुद्धात्मभावना है, उससे रहित जीव के द्वारा उपार्जित कर्मो के कारण ये शरीर और उनकी अवस्थाएँ है। अथवा हे अज्ञानी जीव ! यह बात तू नि सन्देह जान—ये सभी जीव द्रव्यप्रमाण से अनन्त हैं, क्षेत्र की अपेक्षा एक-एक जीव यद्यपि व्यवहारनय से अपनी प्राप्त देह के प्रमाण हैं तो भी निश्चयनय से लोकाकाशप्रमाण असख्यात-प्रदेशी है। सब लोको मे सब कालो मे जीवो का यही स्वरूप समझना। जीवो के बादर सूक्ष्मादि भेद कर्मजनित होना देख कर उनमे भेद मत जानो। विशुद्ध ज्ञानदर्शनलक्षण की अपेक्षा निश्चयनय से जीवो मे कोई भेद नहीं करना चाहिए ॥१०३॥

अथ जीवाना शत्रुमित्रादिभेद य न करोति स निश्चयनयेन जीवलक्षण जानातीति प्रतिपादयति—

अब कहते है कि जो जीवो के शत्रु-मित्रादि भेद नही करता है, वह निश्चयनय से जीव का लक्षण जानता है—

सत्तु वि मित्तु वि अप्पु परु जीव असेसु विएइ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥१०४॥

शत्रुरपि मित्रमपि आत्मा पर जीवा अशेषा अपि एते।
एकत्व कृत्वा यो मनुते स आत्मान जानाति ॥१०४॥

सत्तु वि इत्यादि। **सत्तु वि** शत्रुरपि **मित्तु वि** मित्रमपि **जीव असेसु वि** जीवा अशेषा अपि एइ एते प्रत्यक्षीभूता· **एक्कु करेविणु जो मुणइ** एकत्व कृत्वा यो मनुते शत्रुमित्रजीवितमरणलाभादिसमताभावनारूपवीतरागपरमसामायिक कृत्वा योऽसौ जीवाना शुद्धसग्रहनयेनैकत्व मन्यते **सो अप्पा जाणेइ** स वीतरागसहजानन्दैकस्वभावं शत्रुमित्रादिविकल्पकल्लोलमालारहितमात्मान जानातीति भावार्थ ॥१०४॥

एइ असेसु वि जीव सत्तु वि मित्तु वि अप्पु परु, जो एक्कु करेविणु मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥१०४॥ ये सभी जीव है, इनमें से कोई किसी का शत्रु भी है और कोई किसी का मित्र भी, अपना भी है और दूसरा भी है, ऐसा व्यवहार से जानते हुए जो ज्ञानी निश्चय से एकपना करके अर्थात् सबमे समदृष्टि रखकर समान मानता है, वही आत्मा के स्वरूप को जानता है। **भावार्थ**–ससारी जीवो मे शत्रु, मित्र, आदि अनेक भेद दिखाई देते है परन्तु जो ज्ञानी सबको जीव जानते हुए उनको समान मानता है और शत्रु-मित्र, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ आदि सब मे समभावरूप वीतराग परमसामायिकचारित्र के प्रभाव मे शुद्धसग्रहनय की अपेक्षा सब जीवो को समान मानता है, वही

अपने निज स्वरूप को जानता है, वीतराग सहजानन्द अखण्डस्वभाव तथा शत्रु-मित्रादि की विकल्प-मालाओं से रहित आत्मा को जानता है ॥१०४॥

अथ योऽसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य समभावो नास्तीत्यावेदयति—

अब कहते हैं कि जो सर्वजीवों को समान नहीं मानता, उसके समभाव नहीं होता—

जो णवि मण्णइ जीव जिय सयल वि एक्क-सहाव ।
तासु ण थक्कइ भाउ समु भव-सायरि जो णाव ॥१०५॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकस्वभावान् ।
तस्य न तिष्ठति भावः समः भवसागरे यः नौः ॥१०५॥

जो णवि इत्यादि । **जो णवि मण्णइ** यो नैव मन्यते । कान् । **जीव** जीवान् **जिय** हे जीव । कतिसंख्योपेतान् । **सयल वि** समस्तानपि । कथंभूतान्न मन्यते । **एक्कसहाव** वीतरागविकल्पसमाधौ स्थित्वा सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणैर्निश्चयेनैकस्वभावान् । **तासु ण थक्कइ भाउ समु** तस्य न तिष्ठति समभावः । कथंभूतः । **भवसायरि जो णाव** संसारसमुद्रे यो नावस्तरणोपायभूता नौरिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषमोहान् मुक्त्वा च परमोपशमभावरूपे शुद्धात्मनि स्थातव्यमित्यभिप्रायः ॥१०५॥

जिय ! जो सयल वि जीव एक्क सहाव णवि मण्णइ तासु समु भाउ ण थक्कइ, जो भवसायरि णाव ॥१०५॥ हे जीव ! जो सभी जीवों को एक स्वभाववाले नहीं मानता है, उसके समभाव नहीं रहता, जो समभाव संसारसमुद्र को तैरने के लिए नाव के समान है। जो अज्ञानी जीव सब जीवों को समान नहीं मानता अर्थात् वीतराग निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर सबको समान दृष्टि से नहीं देखता, सकलज्ञायक परमनिर्मल केवलज्ञानादि गुणों से निश्चयनयापेक्षा सब जीव समान हैं, जिसकी ऐसी श्रद्धा नहीं है, उसके समभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। यह समभाव ही संसार समुद्र से तारने के लिए जहाज के समान है यहाँ ऐसा व्याख्यान जान कर रागद्वेष-मोह को तज कर परमशान्तभावरूप शुद्धात्मा में ही लीन होना योग्य है—यह अभिप्राय है ॥१०५॥

अथ जीवानां योऽसौ भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति—

अब कहते हैं कि जीवों में जो भेद है, वे सब कर्मजनित हैं—

जीवहँ भेउ जि कम्म-किउ कम्मु वि जीउ ण होइ ।
जेण विभिण्णउ होइ तहँ कालु लहेविणु कोइ ॥१०६॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्म अपि जीवो न भवति ।
येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥१०६॥

जीवहं इत्यादि । **जीवहं** जीवानां **भेउ जि** भेद एव **कम्मकिउ** निर्भेदशुद्धात्म-

विलक्षणेन कर्मणा कृत:, **कम्मु वि जीउ ण होइ** ज्ञानावरणादिकर्मैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं जीवस्वरूपं न भवति । कस्मान्न भवतीति चेत् । **जेण विभिण्णउ होइ तहं** येन कारणेन विभिन्नो भवति तेभ्य: कर्मभ्य: । किं कृत्वा । **कालु लहेविणु कोइ** वीतरागपरमात्मानुभूतिसहकारिकारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति । अयमत्र भावार्थ: । टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकशुद्धजीवस्वभावाद्विलक्षणं मनोज्ञामनोज्ञस्त्रीपुरुषादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपध्यानं न कर्तव्यमिति ॥१०६॥

जीवहँ भेउ कम्मकिउ, कम्मु वि जीउ ण होइ । जेण कोइ कालु लहेविणु तहँ विभिण्णउ होइ ॥१०६॥ जीवों के भेद (नर, तिर्यच, देव, नारकी) कर्मकृत हैं । कर्म भी जीव नहीं होता है । क्योंकि वह जीव भी काल पाकर उन कर्मों से पृथक् हो जाता है । कर्म शुद्धात्मा से भिन्न हैं । ये जीव का स्वरूप नहीं हैं । इस कर्मबन्ध से कोई एक जीव वीतराग परमात्मा की अनुभूति के सहकारी कारणरूप जो सम्यक्त्व, उसकी उत्पत्ति का समय पाकर उन कर्मों से अलग हो जाता है । तात्पर्य यह है कि टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक शुद्धस्वभाव से विलक्षण मनोज्ञ-अमनोज्ञ, स्त्री-पुरुष, आदि जीव-भेद देखकर रागादि खोटे ध्यान नहीं करने चाहिए ॥१०६॥

अत: कारणात् शुद्धसंग्रहेण भेदं मा कार्षीरिति निरूपयति—

अब कहते हैं कि तू शुद्धसंग्रहनय की अपेक्षा जीवों में भेद मत कर—

एक्कु करे मण बिण्णि करि मं करि वण्ण-विसेसु ।
इक्कइँ देवइँ जें वसइ तिहुयणु एहु असेसु ॥१०७॥

एकं कुरु मा द्वौ कुरु मा कुरु वर्णविशेषम् ।
एकेन देवेन येन वसति त्रिभुवनं एतद् अशेषम् ॥१०७॥

एक्कु करे इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **एक्कु करे** सेनावनादिवज्जीवजात्यपेक्षया सर्वमेकं कुरु । **मण बिण्णि करि** मा द्वौ कार्षी: । **मं करि वण्णविसेसु** मनुष्यजात्यपेक्षया ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिवर्णभेदं मा कार्षी:, यत: कारणात् **इक्कइं देवइं** एकेन देवेन अभेदनयापेक्षया शुद्धैकजीवद्रव्येण **जें** येन कारणेन **वसइ** वसति । किं कर्तृ । **तिहुयणु** त्रिभुवनं त्रिभुवनस्थो जीवराशि: **एहु** एष: प्रत्यक्षीभूत: । कतिसंख्योपेत: । **असेसु** अशेषं समस्त इति । त्रिभुवनग्रहणेन इह त्रिभुवनस्थो जीवराशिर्गृह्यत इति तात्पर्यम् । तथाहि ।

लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवैर्निरन्तरं भृतस्तिष्ठति । बादरैश्चाधारवशेन क्वचिदेव त्रसै: क्वचिदपि । तथा ते जीवा: । शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्त्यपेक्षया केवलज्ञानादिगुणरूपास्तेन कारणेन स एव जीवराशि: यद्यपि व्यवहा-

पाडहिं ।।१३६।। हे जीव ! इन पचेन्द्रिय रूप ऊँटो को अपनी इच्छा से मत चरने दे। क्योकि सम्पूर्ण विषयवन को चर के फिर ये तुझे ससार मे ही गिरा देगे। ये पाँचो इन्द्रियाँ अतीन्द्रियसुख के आस्वादनरूप परमात्मा मे पराड्मुख है। तू इनको स्वच्छन्द मत कर, अपने वश मे रख, अन्यथा ये तुझे ससार मे पटक देगी। ससार से रहित जो शुद्धात्मा उससे विपरीत जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार का ससार उसमे ये पचेन्द्रिय रूपी ऊँट स्वच्छन्द हुए विषयवन को चर कर जगत् के जीवो को जगत् मे ही पटक देगे, यह **अभिप्राय** है ।।१३६।।

अथ ध्यानवैषम्य कथयति—

अब, ध्यान की कठिनता बताते है—

जोइय विसमी जोय-गइ मणु संठवण ण जाइ।
इंदिय-विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ ।।१३७।।

योगिन् विषमा योगगति मन सस्थापयितु न याति।
इन्द्रियविषयेषु एव सुखानि तत्र एव पुन पुन याति ।।१३७।।

जोइय इत्यादि। **जोइय** हे योगिन् **विसमी जोयगइ** विषमा योगगति। कस्मात्। **मणु संठवण ण जाइ** निजशुद्धात्मन्यतिचपल मर्कटप्राय मनो धर्तुं न याति। तदपि कस्मात्। **इंदियविसय जि सुक्खडा** इन्द्रियविषयेषु यानि सुखानि **वलि वलि तित्थु जि जाइ** वीतरागपरमाह्लादसमरसीभावपरमसुखरहिताना अनादिवासनावासित-पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादासक्ताना जीवाना पुन पुन तत्रैव गच्छतीति भावार्थ ।।१३७।।

जोइय ! जोयगइ विसमी मणु सठवण ण जाइ। इदिय-विसय जि सुक्खडा, तित्थु जि वलि वलि जाइ ।।१३७।। हे योगी ! ध्यान की गति महाविषम है। क्योकि चित्तरूपी वन्दर चपल होने से निजशुद्धात्मा मे स्थिरता को प्राप्त नही होता। क्योकि इन्द्रियविषयो मे ही सुख मान रहा है, इसलिए उन्ही विषयो मे बार-बार जाता है। वीतराग परमआनन्द समरसी भावरूप अतीन्द्रिय सुख से रहित यह ससारी जीव है, उसका मन अनादिकाल की अविद्या की वासना मे वस रहा है, इसलिए वह पचेन्द्रियो के विषयसुखो मे आसक्त है और वार-वार उन्ही विषयसुखो मे दौडता है। यह **भावार्थ**–है कि ध्यान की गति वडी कठिन है ।।१३७।।

अथ स्थलसख्याबाह्य प्रक्षेपक कथयति—

अब स्थलसख्या से बाह्य प्रक्षेपक दोहे कहते है—

सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु।
होयवि पंचहँ बाहिरउ झायतउ परमत्थु ।।१३७*५।।

स योगी य पालयति (?) दर्शन ज्ञान चारित्रम्।
भूत्वा पञ्चभ्य बाह्य ध्यायन् परमार्थम् ।।१३७*५।।

शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से शक्ति की अपेक्षा केवलज्ञानादि गुणरूप हैं। इसलिए यद्यपि यह जीवराशि व्यवहारनय से कर्माधीन है तो भी निश्चयनय से शक्तिरूप परमब्रह्म-स्वरूप कही जाती है। इसे ही परमविष्णु और परमशिव भी कहा जाता है। इसी अभिप्राय को लेकर जीवों से परिपूर्ण इस जगत् को कोई परब्रह्ममय कहता है, कोई विष्णुमय तो कोई परमशिवमय। यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि जब आप भी जीवों को परमब्रह्म, परमविष्णु, परमशिव मानते हो तो अन्य मत वालो को दोष क्यों लगाते हो? इसका उत्तर देते हैं—यदि वे पूर्वोक्त नय-विभाग से केवलज्ञानादिगुणों की अपेक्षा वीतरागसर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग से ऐसा मानते हैं तो उनको कोई दोष नहीं है परन्तु यदि वे ऐसा मानते हैं कि कोई एक पुरुषविशेष, जगद्व्यापी जगत्कर्ता ब्रह्मा नाम का है, तो उनमें दोष है। विशेष–जो जीव शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त है, उसके संसार का कर्त्ता-हर्त्तापना नही हो सकता। ये काम इच्छापूर्वक होते हैं और इच्छा मोह की प्रकृति है। भगवान् मोह से सर्वथा रहित हैं, अन्यथा वे भगवान् नही हो सकते। उनको कर्त्ता-हर्त्ता मानना प्रत्यक्ष विरोध है। जैन मत में जीव को ही परमब्रह्म कहा गया है, उसी जीवराशि से लोक भरा है। अन्यमती ऐसा मानते हैं कि एक ही ब्रह्म अनन्त रूप धारण किए हुए है। यदि वही एक सवरूप होवे तो नरक-निगोद स्थान को कौन भोगे? इसलिए जीव अनन्त हैं। इन जीवों को ही परमब्रह्म परमशिव कहते हैं ॥१०७॥

इस प्रकार सोलहवानी सोने के दृष्टान्तद्वारा केवलज्ञानादिलक्षण से सब जीव समान हैं, इस व्याख्यान की मुख्यता से १३ सूत्रों का यह अन्तरस्थल पूर्ण हुआ। इस प्रकार मोक्ष, मोक्ष का फल, मोक्षमार्ग के प्रतिपादक इस दूसरे महाधिकार में चार अन्तरस्थलों का इकतालीस दोहों का महास्थल समाप्त हुआ। इसमें शुद्धोपयोग, वीतरागस्वसंवेदनज्ञान, परिग्रहत्याग और सर्वजीव समानता का प्रतिपादन किया गया।

चूलिकाव्याख्यानम्

अत ऊर्ध्वं **'परु जाणंतु वि'** इत्यादि सप्ताधिकशतसूत्रपर्यन्ते स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चूलिकाव्याख्यानं करोति इति—

इससे आगे 'परु जाणंतु वि' इत्यादि एक सौ सात दोहों में स्थलसंख्या से बहिर्भूत प्रक्षेपकों को छोड़कर चूलिकाव्याख्यान करते हैं—

परु जाणंतु वि परम-मुणि पर-संसग्गु चयंति।
पर-संगइँ परमप्पयहँ लक्खहँ जेण चलंति ॥१०८॥

परं जानन्तोऽपि परममुनयः परसंसर्गं त्यजन्ति।
परसंगेन परमात्मनः लक्ष्यस्य येन चलन्ति ॥१०८॥

परु जाणंतु वि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **परु जाणंतु वि** परद्रव्यं जानन्तोऽपि। के ते। **परममुणि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरताः परममुनयः। किं

कुर्वन्ति । **परसंसग्गु चयंति** परसंसर्ग त्यजन्ति निश्चयेनाभ्यन्तरे रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मशरीरादिनोकर्म च वहिर्विषये मिथ्यात्वरागादिपरिणतासवृतनोऽपि परद्रव्यं भण्यते । तत्संसर्ग परिहरन्ति । यतः कारणात् **परसंसग्गइं** [?] पूर्वोक्तवाह्याभ्यन्तर-परद्रव्यसंसर्गेण **परमप्पयहं** वीतरागनित्यानन्दैकस्वभावपरमसमरसीभावपरिणत-परमात्मतत्त्वस्य । कथंभूतस्य । **लक्खहं** लक्ष्यस्य ध्येयभूतस्य धनुर्विद्याभ्यासप्रस्तावे लक्ष्यरूपस्यैव **जेण चलंति** येन कारणेन चलन्ति त्रिगुप्तिसमाधेः सकाशात् च्युता भवन्तीति । अत्र परमध्यानाविघातकत्वान्मिथ्यात्वरागादिपरिणामस्तत्परिणतः पुरुपरूपो वा परसंसर्गस्त्यजनीय इति भावार्थः ॥१०८॥

परम-मुणि परु जाणंतु वि परसंसग्गु चयंति । जेण परसंगइँ लक्खहँ परमप्पयहँ चलंति ॥१०८॥ परममुनि उत्कृष्ट आत्मद्रव्य को जानते हुए भी परद्रव्य के संसर्ग का त्याग कर देते हैं क्योंकि परद्रव्य के संसर्ग से ध्यान करने योग्य जो परमपद है, उससे चलायमान हो जाते हैं । **भावार्थ**—वीतरागस्वसंवेदन ज्ञान में लीन परममुनि परद्रव्यों के साथ सम्बन्ध छोड़ देते है । निश्चय से अभ्यन्तर के रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म और वाह्य मे मिथ्यात्वरागादि परिणत असंयमी जीवो को परद्रव्य कहा जाता है । वाह्याभ्यन्तर परद्रव्य के संसर्ग से वीतराग नित्यानन्द अखण्डस्वभाव परमसमरसीभाव रूप जो परमात्मतत्त्व ध्यान करने योग्य है, उससे विचलित हो जाते हैं अर्थात् तीन गुप्तिरूप परमसमाधि से रहित हो जाते है । यहाँ पर परमध्यान के विघातक जो मिथ्यात्वरागादि परिणाम हैं तथा ऐसे परिणामों वाले जो रागी-द्वेषी पुरुष हैं, उनके संसर्ग का सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥१०८॥

अथ तमेव परद्रव्यसंसर्गत्यागं कथयति—

फिर उन्ही परद्रव्यों के संसर्ग का त्याग करने को कहते है—

जो सम-भावहँ वाहिरउ तिं सहुं मं करि संगु ।
चिंता-सायरि पडहि पर अण्णु वि डज्झइ अंगु ॥१०९॥

यः समभावाद् वाह्यः तेन सह मा कुरु संगम् ।
चिंतासागरे पतसि परं अन्यदपि दह्यते अङ्गं ॥१०९॥

यो इत्यादि । **जो** यः कोऽपि **समभावहं वाहिरउ** जीवितमरणलाभालाभादिसमभावानुकूलविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपसमभाववाह्यः। **तिं सहुं मं करि संगु** तेन सह संसर्ग मा कुरु हे आत्मन् । यतः किम् । **चिंतासायरि पडहि** राग-द्वेषादिकल्लोलरूपे चिन्तासमुद्रे पतसि । **पर** परं नियमेन । **अण्णु वि** अन्यदपि दूपणं भवति । किम् । **डज्झइ** दह्यते व्याकुलं भवति । किं दह्यते । **अंगु** शरीरं इति । अयमत्र भावार्थः । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिभावनाप्रतिपक्षभूतरागादि-

स्वकीयपरिणाम एव निश्चयेन पर इत्युच्यते । व्यवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणत-पुरुषः सोऽपि कथंचित्, नियमो नास्तीति ।।१०९।।

जो समभावहँ बाहिरउ तिं सहुं संगु मं करि । चिंतासायरि पडहि पर अण्णु वि अंगु डज्झइ ।।१०९।। जो कोई समभाव अर्थात् निजभाव से बाह्य पदार्थ है, उनका संग मत कर । क्योंकि उनका संग करने से चिन्तारूपी सागर में गिरेगा और अन्य भी दूषण लगेगा—शरीर दाह को प्राप्त होगा । **भावार्थ**–जो कोई जीवित-मरण, लाभ-अलाभादि में समभाव के अनुकूल विशुद्ध ज्ञानदर्शन-स्वभाव परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप समभाव से विपरीत पदार्थ है, उनका संसर्ग मत कर । क्योंकि उनके संसर्ग से चिन्तारूपी सागर में गिर पड़ेगा । वह समुद्र रागद्वेपरूपी तरगों से चंचल है । उन पदार्थों के सग से मन में चिन्ता उत्पन्न होगी और शरीर में दाह होगा । तात्पर्य यह है कि वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि की भावना से विपरीत जो रागादि अशुद्ध परिणाम है, वे ही परद्रव्य कहे जाते हैं और व्यवहारनय से मिथ्यात्वी रागीद्वेपी पुरुप भी पर कहे गये है । इनकी संगति सर्वदा दु.ख देने वाली है, ऐसा निश्चित है ।।१०९।।

अथैतदेव परसंसर्गदूपणं दृष्टान्तेन समर्थयति—

अव इस परसंसर्ग दूपण की वात का दृष्टान्त से समर्थन करते हैं—

भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेंहिं ।
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तें पिट्टियइ घणेंहिं ।।११०।।

भद्राणामपि नश्यन्ति गुणाः येपा संसर्ग खलैः ।
वैश्वानरो लोहेन मिलित. तेन पिट्टचते घनैः ।।११०।।

भल्लाहं वि इत्यादि । **भल्लाहं वि** भद्राणामपि स्वस्वभावसहितानामपि **णासन्ति गुण** नश्यन्ति परमात्मोपलब्धिलक्षणगुणाः । येषां किम् । **जहं संसग्गु** येषां संसर्गः । कैः सह । **खलेंहिं** परमात्मपदार्थ-प्रतिपक्षभूतैर्निश्चयनयेन स्वकीयबुद्धिदोषरूपैः रागद्वेषादिपरिणामैः खलैर्दुष्टैर्व्यवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणतपुरुषैः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । **वइसाणरु लोहहं मिलिउ** वैश्वानरो लोहमिलितः । **तें** तेन कारणेन **पिट्टियइ-घणेंहिं** पिट्टनक्रियां लभते । कैः घनैरिति । अत्रानाकुलत्वसौख्यविघातको येन दृष्ट-श्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानवन्धाद्यपध्यानपरिणाम एव परसंसर्गस्त्याज्यः । व्यवहारेण तु परपरिणतपुरुष इत्यभिप्राय. ।।११०।।

खलेहिं जहँ संसग्ग भल्लाहँ वि गुण णासंति । वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तें घणेंहिं पिट्टियइ ।।११०।। दुष्टो के साथ जिनका सम्वन्ध है, उन विवेकी जीवों के भी सत्यशीलादिगुण नष्ट हो जाते हैं, जैसे आग लोहे से मिल जाती है, तभी घनों से पीटी-कूटी जाती है । **भावार्थ**–विवेकी जीवों के शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि रागीद्वेपी अविवेकी जीवो की संगति से नष्ट हो जाते है अथवा आत्मा के निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुभ भावो के सम्वन्ध से मलिन हो जाते है । जैसे अग्नि लोहे के

संग में कूटी-पीटी जाती है वैसे ही दोषों के संग से गुण भी मलिन हो जाते है। यह जानकर अनाकुल सुख के घातक जो देखे-सुने-अनुभूत भोगो की वांछारूप निदानवन्ध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्ट है, उनकी सगति नही करनी अथवा अनेक दोषों से युक्त रागी-द्वेषी पुरुषों की संगति भी कभी नही करनी, यह अभिप्राय है ।।११०।।

अथ मोहपरित्यागं दर्शयति—

अब मोह का परित्याग दिखलाते हैं—

जोइय मोहु परिच्चयहि मोहु ण भल्लउ होइ ।
मोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ।।१११।।

योगिन् मोहं परित्यज मोहो न भद्रो भवति ।
मोहासक्तं सकलं जगद् दु:खं सहमानं पश्य ।।१११।।

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **मोहु परिच्चयहि** निर्मोहपरमात्मस्वरूप-भावनाप्रतिपक्षभूतं मोहं त्यज । कस्मात् । **मोहु ण भल्लउ होइ** मोहो भद्रः समीचीनो न भवति । तदपि कस्मात् । **मोहासत्तउ सयलु जगु** मोहासक्तं समस्तं जगत् निर्मोह-शुद्धात्मभावनारहितं **दुक्खु सहंतउ जोइ** अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविलक्षणमाकुल-त्वोत्पादकं दुःख सहमानं पश्येति । अत्रास्तां तावद्वहिरङ्गपुत्रकलत्रादौ पूर्वं परित्यक्तेन पुनर्वासनावशेन स्मरणरूपो मोहो न कर्तव्यः । शुद्धात्मभावनास्वरूप तपश्चरणं तत्सा-धकभूतशरीरं तस्यापि स्थित्यर्थमशनपानादिकं यद्गृह्यमाणं तत्रापि मोहो न कर्तव्य इति भावार्थः ।।१११।।

जोइय ! मोहु परिच्चयहि, मोहु ण भल्लउ होइ । मोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ।।१११।। हे योगी ! तू मोह का परित्याग कर । मोह अच्छा नहीं होता । मोहासक्त सम्पूर्ण जगत् को तू दुःख भोगते हुए देख । **भावार्थ**—आकुलतापरिपूर्ण दुःख का मूल मोह है । मोही जीव दुःखी रहते हैं । वह मोह परमात्मस्वरूप की भावना का प्रतिपक्षी दर्शनमोह-चारित्रमोहरूप है अतः तू उसको छोड । स्त्री-पुत्र आदि में तो मोह की वात दूर रहे, यह तो प्रत्यक्ष मे त्यागने योग्य है ही, विषयवासना के वश देहादिक परवस्तुओ के स्मरणरूप मोह का भी त्याग करना चाहिए । शुद्धात्मा की भावनारूप जो तपश्चरण, उसका साधनभूत जो शरीर उसकी भी स्थिति के लिए जो अन्न-जल आदि ग्रहण किये जाते है, उनमे भी राग (मोह) नही करना चाहिए, यह भावार्थ है ।।१११।।

अथ स्थलसंख्यावहिर्भूतमाहारमोहविषयनिराकरणसमर्थनार्थं प्रक्षेपकत्रयमाह तद्यथा—

अव स्थलसंख्या से वहिर्भूत आहार के मोह का निराकरण करने में समर्थ तीन प्रक्षिप्त दोहे कहते हैं—

काऊरण रणग्गरूवं बीभस्सं दड्ढ-मडय-सारिच्छं ।
अहिलससि किं रण लज्जसि भिक्खाए भोयरणं मिट्ठं ।।१११*२।।

कृत्वा नग्नरूपं बीभत्सं दग्धमृतकसदृशम् ।
अभिलषसि किं न लज्जसे भिक्षायां भोजनं मिष्टम् ।।१११*२।।

काऊरण इत्यादि । **काऊरण** कृत्वा । किम् **रणग्गरूवं** नग्नरूपं निर्ग्रन्थं जिनरूपम् । कथंभूतम् । **बीभत्थं (च्छं ?)** भयानकम् । पुनरपि कथंभूतम् । **दड्ढमडयसारिच्छं** दग्धमृतकसदृशम् । एवंविधं रूपं धृत्वा हे तपोधन **अहिलससि** अभिलाषं करोषि **किं रण लज्जसि** लज्जां किं न करोषि । किं कुर्वाणः सन् । **भिक्खाए भोयरणं मिट्ठं** भिक्षायां भोजनं मृष्टं इति मन्यमानः सन्निति । श्रावकेरण तावदाहाराभयभैषज्यशास्त्रदानं तात्पर्येण दातव्यम् । आहारदानं येन दत्तं तेन शुद्धात्मानुभूतिसाधकं बाह्याभ्यन्तरभेद-भिन्न द्वादशविधं तपश्चरणं दत्तं भवति । शुद्धात्मभावनालक्षरणसंयमसाधकस्य देहस्यापि स्थितिः कृता भवति । शुद्धात्मोपलंभप्राप्तिरूपा भवान्तरगतिरपि दत्ता भवति । यद्यप्येवमादिगुरणविशिष्टं चतुर्विधदानं श्रावकाः प्रयच्छन्ति तथापि निश्चयव्यवहाररत्न-त्रयाराधकतपोधनेन बहिरङ्गसाधनीभूतमाहारादिकं किमपि गृह्णतापि स्वस्वभावप्रतिपक्ष-भूतो मोहो न कर्तव्य इति तात्पर्यम् ।।१११*२।।

बीभस्सं दड्ढमडयसारिच्छं रणग्गरूवं काऊरण भिक्खाए मिट्ठं भोयणं अहिलससि किं रण लज्जसि ।।१११*२।। बीभत्स (मैली घृणित) जले हुए मृतक सदृश, वस्त्र रहित नग्नरूप को धारण करके हे साधो ! तू भिक्षा में स्वादयुक्त मिष्ट आहार की अभिलाषा करते हुए लज्जित क्यों नहीं होता ? **भावार्थ**—श्रावक को भक्तिभाव से आहार-अभय-औषधि और शास्त्र का दान करना चाहिए । जिसने आहार दान दिया उसने शुद्धात्मानुभूतिसाधक अन्तरंग और बहिरंग द्वादश प्रकार का तपश्चरण ही दिया और शुद्धात्मभावना से युक्त हो संयम की साधना करने वाले के देह की रक्षा की और शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष प्रदान किया । यद्यपि इस प्रकार का गुणविशिष्ट चतुर्विध-दान श्रावक देते है तथापि निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय के आराधक तपोधन के द्वारा बहिरंग-साधनभूत आहारादिक को ग्रहण करते हुए भी अपने स्वभाव का प्रतिपक्षी मोह नहीं करना चाहिए ।।१११*२।।

जइ इच्छसि भो साहू बारह-विह-तवहलं महा-विउलं ।
तो मरण-वयरणे काए भोयरण-गिद्धी विवज्जेसु ।।१११*३।।

यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलं महद्विपुलम् ।
ततः मनोवचनयोः काये भोजनगृद्धिं विवर्जयस्व ।।१११*३।।

जइ इच्छसि यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलम् । कथंभूतम् । महद्वि-

पुलं स्वर्गापवर्गरूपं ततःकारणात् वीतरागनिजानन्दैकसुखरसास्वादानुभवेन तृप्तो भूत्वा मनोवचनकायेषु भोजनगृद्धिं वर्जय इति तात्पर्यम् ॥१११*३॥

भो साहू जइ बारहविहतवहलं महाविउलं इच्छसि तो मणवयणे काये भोयणगिद्धी विवज्जेसु ॥१११*३॥ हे साधो ! जो तू द्वादशविध तप का फल बड़ा भारी स्वर्ग-मोक्ष चाहता है तो वीतरागनिजानन्द एक सुखरस के आस्वाद के अनुभव से तृप्त हुआ, तू मन वचन काय से भोजन की गृद्धता (लोलुपता) का त्याग कर दे, यह तात्पर्य है ॥१११*३॥

उक्तं च—

कहा भी है—

जे सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति ।
ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥१११*४॥

ये सरसेन संतुष्टमनसः विरसे कषायं वहन्ति ।
ते मुनय भोजनगृध्राः गणय नैव परमार्थं मन्यन्ते ॥१११*४॥

जे इत्यादि । **जे सरसिं संतुट्ठमण** ये केचन सरसेन सरसाहारेण संतुष्टमनसः **विरसि कसाउ वहंति** विरसे विरसाहारे सति कषायं वहन्ति कुर्वन्ति **ते** ते पूर्वोक्ताः **मुणि** मुनयस्तपोधनाः **भोयणघार गणि** भोजनविषये गृध्रसदृशान् गणय मन्यस्व जानीहि । इत्थंभूताः सन्तः **णवि परमत्थु मुणंति** नैव परमार्थं मन्यन्ते जानन्तीति । अयमत्र भावार्थः । गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभन्ते । कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति । शुद्धोपयोगपरमधर्मरतैस्तपोधनैस्त्वन्नपानादिविषये मानापमानसमतां कृत्वा यथालाभेन संतोषः कर्तव्य इति ॥१११*४॥

जे सरसिं संतुट्ठमण विरसि कसाउ वहंति ते मुणि भोयणघार गणि । परमत्थु णवि मुणंति ॥१११*४॥ जो स्वादिष्ट आहार से सन्तुष्टमन होते हैं, नीरस आहार मे कषाय करते है, वे मुनि भोजन के गृद्ध है, तू ऐसा समझ । वे परमतत्त्व को नही समझते हैं । **भावार्थ**–यह है कि गृहस्थो के तो आहारदानादिक ही परमधर्म है । जो सम्यक्त्वपूर्वक दानादि करे तो परम्परा से मोक्ष प्राप्त करे । गृहस्थो के दानादि ही परमधर्म क्यो हैं ? क्योंकि निरन्तर विषय-कषायाधीन रहने से और आर्तरौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहने से इनके निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो ठिकाना ही नही है अर्थात् गृहस्थो के शुभोपयोग की मुख्यता है । शुद्धोपयोगरूप परमधर्म मे रत तपोधनो को तो अन्नपानादि के विषय में मानापमान मे समता धारण कर यथालाभ (जैसा मिले उससे) सन्तोष करना चाहिए ॥१११*४॥

अथ शुद्धात्मोपलम्भाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयासक्तजीवानां विनाशं दर्शयति—

अब यह दिखाते है कि शुद्धात्मा की प्राप्ति के अभाव में पञ्चेन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीवों का विनाश ही होता है—

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि णासंति।
अलिउल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥११२॥

रूपे पतंगाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः नश्यन्ति।
अलिकुलानि गन्धेन मत्स्याः रसे किं अनुरागं कुर्वन्ति ॥११२॥

रूवि इत्यादि। रूपे समासक्ताः पतङ्गाः शब्दे मृगा गजाः स्पर्शैः गन्धेनालिकुलानि मत्स्या रसासक्ता नश्यन्ति यतः कारणात् ततः कारणात्कथं तेषु विषयेष्वनुरागं कुर्वन्तीति। तथाहि। पञ्चेन्द्रियविषयाकांक्षाप्रभृतिसमस्तापध्यानविकल्पै रहितः शून्यः स्पर्शनादीन्द्रियकषायातीतनिर्दोषिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकः शुद्धोपयोगस्वभावो योऽसावेवंभूतः कारणसमयसारः तद्भावनारहिता जीवाः पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषवशीकृता नश्यन्तीति ज्ञात्वा कथं तत्रासक्तिं गच्छन्ति ते विवेकिन इति। अत्र पतङ्गादय एकैकविषयासक्ता नष्टाः, ये तु पञ्चेन्द्रियविषयमोहितास्ते विशेषेण नश्यन्तीति भावार्थः ॥११२॥

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि गंधइँ अलिउल रसि मच्छ णासंति किम् अणुराउ करंति ॥११२॥ रूप में लीन हुए पतंगे दीपक में जल कर मर जाते हैं, शब्दविषय मे लीन मृग व्याध के बाणों से मारे जाते है, हाथी स्पर्श विषय के कारण बाँधे जाते है, सुगन्ध की लोलुपता से भौरे अपने प्राण गँवाते है और रस के लोभी मच्छ धीवर के जाल में पड़ कर मारे जाते है। ऐसा जानकर क्या विवेकी जीव विषयों में प्रीति करते है ? नहीं करते। **भावार्थ**—पञ्चेन्द्रिय के विषयों की आकांक्षादि समस्त अपध्यान के विकल्पों से रहित, स्पर्शनादिइन्द्रियकषायातीत जो निर्दोप परमात्मा है उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप जो निर्विकल्प समाधि है, उससे उत्पन्न वीतराग परम आस्वादरूप सुखामृत रस के स्वाद से पूर्ण कलश की तरह भरे हुए जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार है, उसको उत्पन्न करने वाला जो शुद्धोपयोगरूप कारणसमयसार है, उसकी भावना से रहित ससारी जीव विषयों के अनुरागी, पाँचइन्द्रियों के लोलुपी भव-भव में नाश पाते है। ऐसा जान कर विवेकी जीव इन विषयों मे कैसे आसक्ति कर सकते है अर्थात् नहीं कर सकते। यहाँ पतंगादिक एक-एक विषय में लीन हुए नष्ट हो जाते है किन्तु जो पाँचों ही इन्द्रियां के विषयों में मोहित है, वे तो नष्ट होते ही है, यह भावार्थ है ॥११२॥

अथ लोभकषायदोषं दर्शयति—

अब लोककपाय का दोष दिखाते है—

जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।
लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥११३॥

योगिन् लोभं परित्यज लोभो न भद्रः भवति ।
लोभासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥११३॥

हे योगिन् लोभं परित्यज । कस्मात् । लोभो भद्रः समीचीनो न भवति । लोभासक्तं समस्तं जगद् दुःखं सहमानं पश्येति । तथाहि—लोभकषायविपरीतात् परमात्मस्वभावाद्विपरीतं लोभं त्यज हे **प्रभाकरभट्ट** । यतः कारणात् निर्लोभपरमात्मभावनारहिता जीवा दुःखमुपभुञ्जानास्तिष्ठन्तीति तात्पर्यम् ॥११३॥

जोइय लोहु परिच्चयहि, लोहु ण भल्लउ होइ । लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥११३॥ हे योगिन् ! लोभ को छोड़ो । क्यों ? क्योंकि लोभ अच्छा नहीं होता । देखो, लोभासक्त समस्त जगत् दुःख ही सह रहा है । **भावार्थ**—लोभकषाय से रहित जो परमात्मस्वभाव है, उससे विपरीत जो लोभ है, हे प्रभाकरभट्ट ! उसे छोड़ो क्योंकि निर्लोभ परमात्मभावना से रहित जीव दुःख भोगते हुए ही दिखाई देते हैं ॥११३॥

अथामुमेव लोभकषायदोषं दृष्टान्तेन समर्थयति—

अब इसी लोभकषाय के दोष का दृष्टान्त से समर्थन करते हैं—

तलि अहिरणि वरि घणवडणु संडस्सय लुंचोडु ।
लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ पिक्खु पडंतउ तोडु ॥११४॥

तले अधिकरण उपरि घनपातनं संदशकलुञ्चनम् ।
लोहं लगित्वा हुतवहस्य पश्य पतत् त्रोटनम् ॥११४॥

तले अधस्तनभागेऽधिकरणसंज्ञोपकरणं उपरितनभागे घनघातपातनं तथैव संडसकसंज्ञेनोपकरणेन लुञ्चनमाकर्षणम् । केन । लोहपिण्डनिमित्तेन । कस्य । हुतभुजोऽग्नेः त्रोटनं खण्डनं पश्येति । अयमत्र भावार्थः । यथा लोहपिण्डसंसर्गादग्निरज्ञानिलोकपूज्या प्रसिद्धा देवता पिट्टनक्रियां लभते तथा लोभादिकषायपरिणतिकारणभूतेन पञ्चेन्द्रियशरीरसंबन्धेन निर्लोभपरमात्मतत्त्वभावनारहितो जीवो घनघातस्थानीयानि नारकादिदुःखानि बहुकालं सहत इति ॥११४॥

लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ तलि अहिरणि वरि घणवडणु संडस्सय लुंचोडु पडंतउ तोडु पिक्खु ॥११४॥ लोहे का सम्बन्ध पाकर अग्नि नीचे रखे हुए अहरन पर घन की चोट, संडासी से खेंचना, चोट लगने से टूटना आदि दुःखों को सहती है, ऐसा देखो । **भावार्थ**—जैसे लोहपिण्ड के संसर्ग से अज्ञानी लोगों द्वारा पूज्य प्रसिद्ध देवता अग्नि पीटी जाती है, वैसे ही लोभादि-कषायपरिणति के

कारण से और पंचेन्द्रिय शरीर के सम्बन्ध से निर्लोभ परमात्मतत्त्वभावना से रहित जीव घन-घात के समान वहुत काल तक नरकादि के दुःख सहता है ॥११४॥

अथ स्नेहपरित्यागं कथयति—

अव, स्नेह के त्याग का कथन करते हैं—

जोइय णेहु परिच्चयहि णेहु ण भल्लउ होइ ।
णेहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥११५॥

योगिन् स्नेहं परित्यज स्नेहो न भद्रो भवति ।
स्नेहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥११५॥

रागादिस्नेहप्रतिपक्षभूते वीतरागपरमात्मपदार्थध्याने स्थित्वा शुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं हे योगिन् स्नेहं परित्यज । कस्मात् । स्नेहो भद्रः समीचीनो न भवति । तेन स्नेहेनासक्तं सकलं जगन्निःस्नेहशुद्धात्मभावनारहितं विविधशारीरमानसरूपं वहुदुःखं सहमानं पश्येति । अत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गं मुक्त्वा तत्प्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ स्नेहो न कर्तव्य इति तात्पर्यम् । उक्तं च—"**तावदेव सुखी जीवो यावन्न स्निह्यते क्वचित् । स्नेहानुविद्धहृदयं दुःखमेव पदे पदे ॥**" ॥११५॥

जोइय ! णेहु परिच्चयहि । णेहु ण भल्लउ होइ ! णेहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥११५॥ हे योगी ! रागादि स्नेह के प्रतिपक्षी वीतराग परमात्मपदार्थ के ध्यान में स्थित होकर शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत स्नेह का परित्याग करो । क्योंकि स्नेह अच्छा नही होता । स्नेहासक्त सकल जगवासियों को तुम विविध शारीरिक मानसिक दुःख सहते हुए देख ही रहे हो । **भावार्थ**—भेदाभेदरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग से विमुख होकर उसके प्रतिपक्षी मिथ्यात्वरागादि में स्नेह नहीं करना चाहिए । कहा भी है—"जव तक यह जीव जगत् से स्नेह न करे तभी तक सुखी है । जिसका मन स्नेह से वँध गया है, उसको पद-पद पर दुःख ही है ।" ॥११५॥

अथ स्नेहदोषं दृष्टान्तेन द्रढयति—

अव, स्नेह के दोप को दृष्टान्त से दृढ करते हैं—

जलसिंचणु पय-णिद्दलणु पुणु पुणु पीलण-दुक्खु ।
णेहहँ लग्गिवि तिल-णियरु जंति सहंतउ पिक्खु ॥११६॥

जलसिञ्चनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखम् ।
स्नेहं लगित्वा तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्य ॥११६॥

जलसिंचनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुखं स्नेहनिमित्तं तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्येति । अत्र वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमसेवमाना अजानन्तो

वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन निश्चलचित्तेनाभावयन्तश्च जीवा मिथ्यामार्गं रोचमानाः पञ्चेन्द्रियविषयासक्ताः सन्तो नरनारकादिगतिषु यन्त्रपीडनक्रकचविदारणशूलारोहणादि-नानादुःखं सहन्त इति भावार्थः ॥११६॥

तिलणियरु णेहहँ लग्गिवि जलसिंचणु पयणिद्दलणु जंति पुणु-पुणु पीलण-दुक्खु सहंतउ पिक्खु ॥११६॥ तिलों का समूह स्नेह (तेल-चिकनाई) के कारण जलसिंचन, पैरों से खूंदे जाने, घाणी में बार-बार पेरे जाने का दुःख सहता है, उसे देखो। भावार्थ–वीतरागचिदानन्दैकस्वभावरूप परमात्मतत्त्व की आराधना न करते हुए, वीतराग निर्विकल्प समाधि के बल से निश्चल चित्त से उसकी भावना न करते हुए, अज्ञानी जीव मिथ्यामार्ग में मोहित हुए, पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त हुए, नर-नारकादि गतियों में यंत्रपीड़न-चक्रविदारण-शूलारोहणादि के अनेक दुःख सहते हैं ॥११६॥

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय-लोए।
वोद्दह-दहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥११७॥
ते चैव धन्याः ते चैव सत्पुरुषाः ते जीवन्तु जीवलोके।
यौवनद्रहे पतिताः तरन्ति ये चैव लीलया ॥११७॥

ते चैव धन्यास्ते चैव सत्पुरुषास्ते जीवन्तु जीवलोके। ते के। वोद्दहशब्देन यौवनं स एव द्रहो महाह्रदस्तत्र पतिताः सन्तस्तरन्ति ये चैव। कया। लीलयेति। अत्र विषयाकांक्षारूपस्नेहजलप्रवेशरहितेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रामूल्यरत्नभाण्डपूर्णेन निज-शुद्धात्मभावनापोतेन यौवनमहाह्रदं ये तरन्ति त एव धन्यास्त एव सत्पुरुषा इति तात्पर्यम् ॥११७॥

ते चिय धण्णा, ते चिय सप्पुरिसा, ते जियलोए जियंतु! जे चेव वोद्दह-दहम्मि पडिया लीलाए तरंति ॥११७॥ वे ही धन्य हैं, वे ही सत्पुरुष हैं और वे ही जीव इस जीवलोक में जीते हैं जो यौवन के सरोवर में गिर कर भी उसे लीलामात्र में तैर जाते हैं। भावार्थ–विषयवांछा रूप जो स्नेहजल, उसके प्रवेश से रहित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अमूल्य रत्नों से भरा निज शुद्धात्मभावनारूपी जहाज उससे युवावस्था रूपी महान् सरोवर को तैर जाते हैं, वे ही धन्य हैं, वे ही सत्पुरुष हैं, यह तात्पर्य है ॥११७॥

किं बहुना विस्तरेण—
अब, मोक्ष के कारण वैराग्य को दृढ करते हैं—

मोक्खु जि साहिउ जिणवरहिँ छंडिवि बहु-विहु रज्जु।
भिक्ख-भरोडा जीव तुहुँ करहि ण अप्पउ कज्जु ॥११८॥
मोक्ष एव साधितः जिनवरैः त्यक्त्वा बहुविधं राज्यम्।
भिक्षाभोजन जीव त्वं करोषि न आत्मीयं कार्यम् ॥११८॥

मोक्खु जि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **मोक्खु जि साहिउ** मोक्ष एव साधितः निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकज्ञानादि-गुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षः स साधितः । कैः । **जिणवरहिं** जिनवरैः । किं कृत्वा । **छंडिवि** त्यक्त्वा । किम् । **बहुविहुरज्जु** सप्ताङ्गराज्यम् । केन । भेदाभेदरत्नत्रय-भावनाबलेन । एवं ज्ञात्वा **भिक्खभरोडा जीव** भिक्षाभोजन हे जीव **तुहुँ** त्वं **करहि ण अप्पउ कज्जु** किं न करोषि आत्मीयं कार्यमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यमित्य-भिप्रायः ॥११८॥

जिणवरहिँ बहुविहु रज्जु छंडिवि मोक्खु जि साहिउ । जीव भिक्खभरोडा तुहुँ अप्पउ कज्जु ण करहि ॥११८॥ जिनवरदेवों ने अनेक प्रकार के राज्यवैभव का परित्याग कर मोक्ष की ही साधना की । हे जीव ! भिक्षा से भोजन करने वाला तू अपना काम-आत्मकल्याण भी नहीं करता । सम्पूर्ण कर्ममलकलंक से रहित जो आत्मा उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों का स्थान तथा संसारा-वस्था से भिन्न अवस्था का होना वह मोक्ष है । उस मोक्ष को जिनवरों ने बहुत प्रकार की राज्यादि विभूति छोड़कर सिद्ध किया । राज्य के सात अंग होते हैं-- राजा, मंत्री, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना । इन सबको उन्होंने भेदाभेदरत्नत्रय की भावना के बल से छोड़ दिया । यह जानकर भी भिक्षा से भोजन करने वाले हे जीव ! तू आत्मकल्याण क्यों नहीं करता ? **भावार्थ**–यह है कि बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर, वीतरागनिर्विकल्प समाधि में स्थित होकर, दुर्धर तप करना चाहिए ॥११८॥

अथ हे जीव त्वमपि जिनभट्टारकवदष्टकर्मनिर्मूलनं कृत्वा मोक्षं गच्छेति संबोधयति—

अब समझाते है कि हे जीव ! तू भी जिनेन्द्र के समान आठ कर्मों का नाश कर मोक्ष को जा—

पावहि दुक्खु महंतु तुहुँ जिय संसारि भमंतु ।
अट्ठ वि कम्मइँ णिद्दलिवि वच्चहि मुक्खु महंतु ॥११९॥

प्राप्नोषि दुःखं महत् त्वं जीव संसारे भ्रमन् ।
अष्टापि कर्माणि निर्दल्य व्रज मोक्ष महान्तम् ॥११९॥

पावहि इत्यादि । **पावहि दुक्खु महंतु** प्राप्नोषि दुःख महद्रूपं **तुहुँ** त्वं **जिय** हे जीव । किं कुर्वन् । **संसारि भमंतु** निश्चयेन संसारे विपरीत शुद्धात्मविलक्षणं द्रव्यक्षेत्र-कालभवभावपञ्चभेदभिन्नं संसारं भ्रमन् । तस्मात्किं कुरु । **अट्ठवि कम्मइं णिद्दलिवि** शुद्धात्मोपलम्भबलेनाष्टापि कर्माणि निर्मूल्य **वच्चहि** व्रज । कम् । **मुक्खु** स्वात्मोपल-

ब्धिलक्षणं मोक्षम् । तथा चोक्तम्—'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धि.' कथंभूतं मोक्षम् । **महंतु** केवलज्ञानादिमहागुणयुक्तत्वान्महान्तमित्यभिप्रायः ॥११९॥

जिय ! तुहुँ संसारि भमंतु महंतु दुक्खु पावहि । अट्ठ वि कम्मइँ णिद्दलिवि महंतु मुक्खु वच्चहि ॥११९॥ हे जीव ! तू संसार में घूमते हुए महान् दुःख प्राप्त करेगा अतः आठो ही कर्मों का नाश कर महान् मोक्ष में जा । **भावार्थ**–निश्चय से संसार से विपरीत जो शुद्धात्मा है, उससे भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार के परावर्तनरूप संसार मे भटकते हुए चारो गतियों के दुःख प्राप्त करेगा, निगोदराशि मे अनन्तकाल तक रुलेगा अतः आठकर्मों का क्षय कर के शुद्धात्मा की प्राप्ति के बल से रागादि का नाश कर निर्वाण को प्राप्त हो । कैसा है निर्वाण ? स्वात्मोपलब्धि ही जिसका लक्षण है । कहा भी है—'निजस्वरूप की प्राप्ति ही सिद्धि-मोक्ष है ।' वह मोक्ष केवलज्ञानादि महान् गुणो से युक्त होने के कारण महान् है ॥११९॥

अथ यद्यप्यल्पमपि दुःखं सोढुमसमर्थस्तथापि कर्माणि किमिति करोपीति शिक्षां प्रयच्छति—

अत्र शिक्षा देते है कि जो तू थोड़े से भी दुःख को सहन करने में असमर्थ है तो फिर ऐसे काम क्यों करता है जिनसे तुझे अनन्तकाल तक दु.ख भोगने पड़े ।

जिय अणु-मित्तु वि दुक्खडा सहण ण सक्कहि जोइ ।
चउ-गइ-दुक्खहँ कारणइँ कम्मइँ कुणहि किं तोइ ॥१२०॥

जीव अणुमात्राण्यपि दु.खानि सोढुं न शक्नोषि पश्य ।
चतुर्गतिदु.खाना कारणानि कर्माणि करोपि किं तथापि ॥१२०॥

जिय इत्यादि । **जिय** हे मूढजीव **अणुमित्तु वि** अणुमात्राण्यपि । कानि । **दुक्खडा** दुःखानि **सहण ण सक्कहि** सोढुं न शक्नोषि **जोइ** पश्य । यद्यपि **चउगइ-दुक्खहं कारणइं** परमात्मभावनोत्पन्नतात्त्विकवीतरागनित्यानन्दैकविलक्षणानां नारकादिदुःखानां कारणभूतानि **कम्मइं कुणहि किं** कर्माणि करोषि किमर्थ **तोइ** यद्यपि दुःखानीष्टानि न भवन्ति तथापि इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा कर्मास्त्रवप्रतिपक्षभूतरागादिविकल्परहिता निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१२०॥

जिय ! अणुमित्तु वि दुक्खडा सहणं ण सक्कहि, जोइ । तोइ चउ-गइ-दुक्खहँ कारणइँ कम्मइँ किं कुणहि ॥१२०॥ हे जीव ! जब तू अणु मात्र भी दु ख सहने मे असमर्थ है, तो देख-फिर चारों गतियो के दु.खो के कारणभूत कर्म क्यो करता है ? **भावार्थ**–परमात्मभावना से उत्पन्न तत्त्वरूप वीतराग नित्यानन्द परम स्वभाव से भिन्न नरकादि के दु.खो के कारण कर्म ही है । यदि तुझे दु ख अच्छे नही लगते और तू दुःखो को अनिष्ट जानता है, तो दुःख के कारणभूत कर्मो का उपार्जन मत कर । यहाँ ऐसा व्याख्यान जान कर कर्मास्त्रव से रहित तथा रागादिविकल्परहित निजशुद्ध आत्मा की भावना ही करनी चाहिए, यह तात्पर्य है ॥१२०॥

अथ वहिर्व्यासंगासक्तं जगत् क्षणमप्यात्मानं न चिन्तयतीति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि बाह्य परिग्रह में आसक्त जगत् क्षणमात्र भी आत्मा का चिन्तन नहीं करता—

धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइँ करइ अयाणु ।
मोक्खहँ कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ।।१२१।।

वान्धे (?) पतितं सकलं जगत् कर्माणि करोति अज्ञानी ।
मोक्षस्य कारणं एकं क्षणं नैव चिन्तयति आत्मानम् ।।१२१।।

धंधइ इत्यादि । **धंधइ** धान्धे मिथ्यात्वविषयकषायनिमित्तोत्पन्ने दुर्ध्यानार्तरौद्रव्यासंगे **पडियउ** पतितं व्यासक्तम् । किम् । **सयलु जगु** समस्तं जगत्, शुद्धात्मभावनापराङ्मुखो मूढप्राणिगणः **कम्मइं करइ** कर्माणि करोति । कथंभूतं जगत् । **अयाणु** विशिष्टभेदज्ञानरहितं **मोक्खहं कारणु** अनन्तज्ञानादिस्वरूपमोक्षकारणं **एक्कु खणु** एकक्षणमपि **णवि चिंतइ** नैव ध्यायति । कम् । **अप्पाणु** वीतरागपरमाह्लादरसास्वादपरिणतं स्वशुद्धात्मानमिति भावार्थः ।।१२१।।

धंधइ पडियउ सयलु जगु अयाणु कम्मइँ करइ । मोक्खहँ कारणु अप्पाणु एक्कु खणु णवि चिंतइ ।।१२१।। जगत् के धन्धे में यानी मिथ्यात्व और विषयकषाय के निमित्त से उत्पन्न दुर्ध्यान-आर्त्त और रौद्र में पड़ा हुआ सब जगत् अर्थात् जीव—शुद्धात्मभावना से पराङ्मुख मूढ़ प्राणी समूह—आठों कर्म करता है। परन्तु मोक्ष के कारणभूत—अनन्तज्ञानादि स्वरूप मोक्ष के कारणभूत शुद्धात्मा का एक क्षण भी चिन्तन नहीं करता। **भावार्थ**—मोक्ष की प्राप्ति के लिए वीतराग परमानन्द रसास्वाद परिणत स्व शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए ।।१२१।।

अथ तमेवार्थं द्रढयति—

अब, इसी बात को दृढ़ करते हैं—

जोणि-लक्खइँ परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्त-कलत्तहिँ मोहियउ जाव ण णाणु महंतु ।।१२२।।

योनिलक्षाणि परिभ्रमति आत्मा दुःखं सहमानः ।
पुत्रकलत्रैः मोहितः यावन्न ज्ञानं महत् ।।१२२।।

जोणि इत्यादि । **जोणिलक्खइं परिभमइ** चतुरशीतियोनिलक्षणानि परिभ्रमति । कोऽसौ । **अप्पा** वहिरात्मा । किं कुर्वन् । **दुक्खु सहंतु** निजपरमात्मतत्त्वध्यानोत्पन्नवीतरागसदानन्दैकरूपव्याकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं शारीरमानसदुःखं सहमानः । कथंभूतः सन् । **पुत्तकलत्तहिं मोहियउ** निजपरमात्मभावनाप्रतिपक्षभूतैः पुत्र-

कलत्रैः मोहितः । किंपर्यन्तम् । **जाव ण** यावत्कालं न । किम् । **णाणु** ज्ञानम् । कि विशिष्टम् । **महंतु** महतो मोक्षलक्षणस्यार्थस्य साधकत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदन-ज्ञानं महदित्युच्यते । तेन कारणेन तदेव निरन्तरं भावनीयमित्यभिप्रायः ।।१२२।।

जाव महंतु णाणु ण अप्पा पुत्त-कलत्तहिं मोहियउ दुक्खु सहंतु जोणिलक्खइँ परिभमइ ।।१२२।। जब तक आत्मा को श्रेष्ठ ज्ञान नही होता तब तक यह जीव पुत्र-स्त्री आदि से मोहित हुआ, अनेक दुःख सहन करता हुआ चौरासी लाख योनियों में भटकता फिरता है । **भावार्थ**–यह जीव बहिरात्मा बना हुआ है और चौरासी लाख योनियों में अनेक दुःख सहता हुआ भटक रहा है । निज परमात्मतत्त्व के ध्यान से उत्पन्न वीतराग परम आनन्दरूप निर्व्याकुल अतीन्द्रिय सुख से विमुख शरीर और मन के अनेक सुख-दुःखो को यह सहता है । निज परमात्मा की भावना के शत्रु जो देह सम्बन्धी माता, पिता, भ्राता, मित्र, पुत्र कलत्रादि है उनसे मोहित है, तब तक यह अज्ञानी है; वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से रहित है । ज्ञान मोक्ष का साधन है, ज्ञान ही से मोक्ष की सिद्धि होती है अतः हमेशा ज्ञान की ही भावना करनी चाहिए ।।१२२।।

अथ हे जीव गृहपरिजनशरीरादिममत्वं मा कुर्विति संबोधयति—

अब समझाते है कि हे जीव ! तू घर, परिजन, शरीरादि में ममता मत कर—

जीव म जाणहि अप्पणउँ घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिँ दिट्ठु ।।१२३।।

जीव मा जानीहि आत्मीयं गृहं परिजन तनु. इष्टम् ।
कर्मायत्तं कृत्रिमं आगमे योगिभिः दृष्टम् ।।१२३।।

जीव इत्यादि । **जीव म जाणहि** हे जीव मा जानीहि **अप्पणउँ** आत्मीयम् । किम् । **घरु परियणु तणु इट्ठु** गृहं परिजनं शरीरमिष्टमित्रादिकम् । कथंभूतमेतत् । **कम्मायत्तउ** शुद्धचेतनास्वभावादमूर्तात्परमात्मनः सकाशाद्विलक्षण यत्कर्म तदुदयेन निर्मितत्वात् कर्मायत्तम् । पुनरपि कथंभूतम् । **कारिमउ** अकृत्रिमात् टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतत्वात् कृत्रिमं विनश्वरम् । इत्थंभूत **दिट्ठु** दृष्टम् । कैः । **जोईहि** परमज्ञानसंपन्नदिव्ययोगिभि. । क्व दृष्टम् । **आगमि** वीतरागसर्वज्ञप्रणीत-परमागमे इति । अत्रेदमध्रुवव्याख्यानं ज्ञात्वा ध्रुवे स्वशुद्धात्मस्वभावे स्थित्वा गृहादि-परद्रव्ये ममत्वं न कर्तव्यमिति भावार्थः ।।१२३।।

जीव ! घरु परियणु तणु इट्ठु अप्पणउँ म जाणहि । आगमि जोइहिँ दिट्ठु कम्मायत्तउ कारिमउ ।।१२३।। हे जीव ! तू घर, परिवार, शरीर और इष्ट पदार्थो को अपने मत जान क्योंकि परमागम मे योगियो ने ऐसा दिखलाया है कि ये कर्माधीन है और विनाशीक है । ये गृहादिक पदार्थ शुद्धचेतनस्वभाव अमूर्त निज आत्मा से भिन्न जो शुभाशुभ कर्म हैं, उनके उदय से उत्पन्न

होने के कारण कर्माधीन हैं और अकृत्रिम टंकोत्कीर्णज्ञायक स्वभाव शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत होने के कारण कृत्रिम और विनाशीक हैं। ऐसा वीतरागसर्वज्ञप्रणीत परमागम में परमज्ञानसम्पन्न दिव्य योगियों ने देखा है। यहाँ ऐसा व्याख्यान जानकर यानी सब पर-पदार्थों को अनित्य जान कर नित्यानन्दरूप निज शुद्धात्म स्वभाव में ठहर कर गृहादिक परद्रव्य में ममता नहीं करनी चाहिए। यह भावार्थ है ॥१२३॥

अथ गृहपरिवारादिचिन्तया मोक्षो न लभ्यत इति निश्चिनोति—

अब यह निश्चय करते हैं कि घर-परिवारादि की चिन्ता से मोक्ष नहीं मिलता—

मुक्खु ण पावहि जीव तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु।
तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंतु ॥१२४॥

मोक्षं न प्राप्नोषि जीव त्वं गृहं परिजनं चिन्तयन्।
ततः वरं चिन्तय तपः एव तपः प्राप्नोषि मोक्षं महान्तम् ॥१२४॥

मुक्खु इत्यादि। **मुक्खु** कर्ममलकलङ्करहितकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं मोक्षं **ण पावहि** न प्राप्नोषि न केवलं मोक्षं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च **जीव** हे मूढ जीव **तुहुँ** त्वम्। किं कुर्वन् सन्। **घरु परियणु चिंतंतु** गृहपरिवारादिकं परद्रव्यं चिन्तयन् सन् **तो** ततः कारणात् **वरि** वरं किंतु **चिंतहि** चिन्तय ध्याय। किम्। **तउ जि तउ** तपस्तप एव विचिन्तय नान्यत्। तपश्चरणचिन्तनात् किं फलं भवति। **पावहि** प्राप्नोषि। कम्। **मोक्खु** पूर्वोक्तलक्षणं मोक्षम्। कथंभूतं। **महंतु** तीर्थकरपरमदेवादिमहापुरुषैराश्रितत्वान्महान्तमिति। अत्र बहिर्द्रव्येच्छानिरोधेन वीतरागतात्त्विकानन्दपरमात्मरूपे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा गृहादि-ममत्वं त्यक्त्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१२४॥

जीव! तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु मुक्खु ण पावहि। तो वरि तउ जि तउ चिंतहि, महंतु मोक्खु पावहि ॥१२४॥ हे जीव! तू घर-परिवार की चिन्ता करते हुए मोक्ष कभी नहीं पा सकता अतः उत्तम तप का ही बार-बार चिन्तन कर क्योंकि तप से ही श्रेष्ठ मोक्षसुख को पा सकेगा। भावार्थ—तू गृहादि पर-वस्तुओं की चिन्ता रखते हुए कर्मकलंक रहित केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित मोक्ष को नहीं पा सकेगा और मोक्षमार्ग-निश्चय व्यवहाररत्नत्रय को भी नहीं पा सकेगा। अतः इनका चिन्तन छोड़कर तप का चिन्तन कर। तप से ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। कैसा है मोक्ष? वह मोक्ष तीर्थंकर परमदेवादिक महापुरुषों से आश्रित है अतः महान् है, उत्कृष्ट है। यहाँ परद्रव्य की इच्छा को रोक कर वीतराग तात्त्विकानन्द परमात्मरूप में निर्विकल्प समाधि में ठहर कर, गृहादि का ममत्व त्याग कर निजस्वरूप की भावना करनी चाहिए, यह तात्पर्य है। आत्मभावना के अतिरिक्त कुछ भी करने योग्य नहीं ॥१२४॥

अथ जीवहिंसादोषं दर्शयति—

अब जीवहिंसा के दोष दिखाते हैं—

मारिवि जीवहँ लक्खडा जं जिय पाउ करीसि।
पुत्त-कलत्तहँ कारणइँ तं तुहुँ एक्कु सहीसि ॥१२५॥

मारयित्वा जीवानां लक्षाणि यत् जीव पापं करिष्यसि।
पुत्रकलत्राणां कारणेन तत् त्वं एकः सहिष्यसे ॥१२५॥

मारिवि इत्यादि। **मारिवि जीवहं लक्खडा** रागादिविकल्परहितस्य स्वस्वभावनालक्षणस्य शुद्धचैतन्यप्राणस्य निश्चयेनाभ्यन्तरं वधं कृत्वा वहिर्भागे चानेकजीवलक्षाणाम्। केन हिंसोपकरणेन। **पुत्तकलत्तहं कारणइं** पुत्रकलत्रममत्वनिमित्तोत्पन्नदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्वरूपतीक्ष्णशस्त्रेण। **जं जिय पाउ करीसि** हे जीव यत्पापं करिष्यसि **तं तुहुँ एक्कु सहीसि** तत्पापफलं त्वं कर्ता नरकादिगतिष्वेकाकी सन् सहिष्यसे हि। अत्र रागाद्यभावो निश्चयेनाहिंसा भण्यते। कस्मात् निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणत्वात्, रागाद्युत्पत्तिस्तु निश्चयहिंसा। तदपि कस्मात्। निश्चयशुद्धप्राणस्य हिंसाकारणात्। इति ज्ञात्वा रागादिपरिणामरूपा निश्चयहिंसा त्याज्येति भावार्थः। तथा चोक्तं निश्चयहिंसालक्षणम्—**"रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेत्ति देसिदं समए। तेसिं चेवुप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥"** ॥१२५॥

जिय! पुत्तकलत्तहँ कारणइँ लक्खडा जीवहँ मारिवि जं पाउ करीसि तं तुहुँ एक्कु सहीसि ॥१२५॥ हे जीव! पुत्र-कलत्रादि परिजनों के कारण जो तू लाखो जीवों को मार कर पापार्जन करता है उसके फल को तू अकेला ही सहेगा। भावार्थ—पुत्रादि कुटुम्ब के ममत्व के निमित्त से उत्पन्न—देखे, सुने और अनुभूत भोगाकाक्षा रूपी तीक्ष्ण शस्त्र से निश्चय से तू रागादिविकल्परहित अपने शुद्धचैतन्यप्राणो का अभ्यन्तर मे वध करता है और वाह्य मे अनेक जीवों का घात करता है। इसमे हे जीव! तू जो पापार्जन करता है, उस पाप के फल को तू नरकादि गतियों में अकेला ही सहेगा। यहाँ रागादि के अभाव को निश्चय अहिंसा कहा गया है क्योंकि रागादि के अभाव से शुद्धचैतन्य प्राणों की रक्षा होती है और रागादि की उत्पत्ति से आत्मस्वभाव का घात होता है अतः वह निश्चयहिंसा कही गई है। ऐसा जान कर रागादिपरिणाम रूप निश्चयहिंसा का त्याग करना चाहिए। निश्चयहिंसा का लक्षण अन्यत्र भी ऐसा कहा है—"रागादिक का अभाव ही शास्त्र में अहिंसा कहा गया है। जिनशासन में जिनेश्वर देवों ने रागादिक की उत्पत्ति को ही हिंसा कहा है।" ॥१२५॥

अथ तमेव हिंसादोषं द्रढयति—

अब उसी हिंसादोष को दृढ करते हैं—

मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुँ दुक्खु करीसि ।
तं तह पासि अणंत-गुण अवसइँ जीव लहीसि ॥१२६॥

मारयित्वा चूर्णयित्वा जीवान् यत् त्वं दुःखं करिष्यसि ।
तत्तदपेक्षया अनन्तगुणं अवश्यमेव जीव लभसे ॥१२६॥

मारिवि इत्यादि । **मारिवि** वहिर्विषये अन्यजीवान् प्राणिप्राणवियोगलक्षणेन मारयित्वा **चूरिवि** हस्तपादाद्येकदेशच्छेदरूपेण चूरयित्वा । कान् । **जीवडा** जीवान् निश्चयेनाभ्यन्तरे तु मिथ्यात्वरागादिरूपतीक्ष्णशस्त्रेण शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयप्राणांश्च **जं तुहुँ दुक्खु करीसि** यद्दुःखं त्वं कर्ता करिष्यसि तेषु पूर्वोक्तस्वपरजीवेषु **तं तह पासि अणंतगुणु** तद्दुःखं तदपेक्षया अनन्तगुणं **अवसइं** अवश्यमेव **जीव** हे मूढजीव **लहीसि** प्राप्नोषीति । अत्रायं जीवो मिथ्यात्वरागादिपरिणतः पूर्वं स्वयमेव निजशुद्धात्मप्राणं हिनस्ति वहिर्विषये अन्यजीवानां प्राणघातो भवतु मा भवतु नियमो नास्ति । परघातार्थं तप्तायःपिण्डग्रहणेन स्वहस्तदाहवत् इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—**"स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान् । पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥"** ॥१२६॥

जीव ! जं तुहुँ जीवडा मारिवि चूरिवि दुक्खु करीसि तं तह पासि अणंतगुण अवसइँ लहीसि ॥१२६॥ हे जीव ! जो तू पर जीवों को मारकर, चूर कर उन्हें दुःखी करता है, तो तू उसका फल उसकी अपेक्षा अनन्तगुणा निश्चय से प्राप्त करेगा । **भावार्थ**—निर्दय होकर अन्य जीवों के प्राणों का उनसे वियोग करना—उन्हे मारना है और हाथ-पैर आदि अंगों को काटना सो उन्हे चूरना है । वाह्य में तो इस प्रकार जीवों को दुःखित करके और अन्तरंग में मिथ्यात्वरागादिरूपतीक्ष्णशस्त्र से शुद्धात्मानुभूति रूप निश्चय प्राणों का घात करके जिस दुःख को तू करता है, वह दुःख उसकी अपेक्षा अनन्तगुणा होकर तुझे अवश्य मिलेगा । यहाँ यह कहा गया है कि मिथ्यात्वरागादिरूप परिणत यह जीव पहले स्वयं ही निजशुद्धात्मप्राणों का घात करता है, वाह्य में अन्य जीवों के प्राणों का घात हो या न हो, ऐसा नियम नहीं है । जैसे दूसरे को मारने के लिए गर्म लोहे का गोला पकड़ने से अपने हाथ तो पहले निस्सन्देह जल ही जाते हैं । कहा भी है—"कपायवान् आत्मा पहले तो आप ही अपना घात करता है, वाद में परजीव का घात हो या न भी हो ।" ॥१२६॥

अथ जीववधेन नरकगतिस्तद्रक्षणे स्वर्गो भवतीति निश्चिनोति—

अव यह निश्चय करते हैं कि जीववध से नरकगति मिलती है और उसकी रक्षा करने से स्वर्ग मिलता है—

जीव वहंतहँ णरय-गइ अभय-पदाणेँ सग्गु ।
वे पह जवला दरिसिया जहिँ रुच्चइ तहिँ लग्गु ॥१२७॥

जीवं घ्नतां नरकगतिः अभयप्रदानेन स्वर्गः।
द्वौ पन्थानौ समीपौ दर्शितौ यत्र रोचते तत्र लग ॥१२७॥

जीव वहंतहं इत्यादि। **जीव वहंतहँ** निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणामरूपं वधं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेणेन्द्रियवलायुःप्राणापानविनाशरूपमन्यजीवानां च वधं कुर्वतां **णरयगइ** नरकगतिर्भवति **अभयपदाणें** निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवानां च कुर्वतां **सग्गु** स्वस्याभयप्रदानेन मोक्षो भवत्यन्यजीवानामभयदानेन स्वर्गश्चेति **बे पह जवला दरिसिया** एवं द्वौ पन्थानौ समीपे दर्शितौ। **जहिं रुच्चइ तहिं लग्गु** हे जीव यत्र रोचते तत्र लग्नो भव त्वमिति। कश्चिदज्ञानी प्राह। प्राणा जीवादभिन्ना भिन्ना वा, यद्यभिन्नाः तर्हि जीववत्प्राणानां विनाशो नास्ति, अथ भिन्नास्तर्हि प्राणवधेऽपि जीवस्य वधो नास्त्यनेन प्रकारेण जीवहिंसैव नास्ति कथं जीववधे पापवन्धो भविष्यतीति। परिहारमाह। कथंचिद्भेदाभेदः। तथाहि—स्वकीयप्राणे हृते सति दुःखोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेदः सैव दुःखोत्पत्तिस्तु हिंसा भण्यते ततश्च पापवन्धः। यदि पुनरेकान्तेन देहात्मनोर्भेद एव तर्हि परकीयदेहघाते दुःखं न स्यान्न च तथा। निश्चयेन पुनर्जीवे गतेऽपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव। ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता पापवन्धोऽपि न च निश्चयेन इति। सत्यमुक्तं त्वया, व्यवहारेण पाप तथैव नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेति। तदिष्टं भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूयमिति ॥१२७॥

जीव वहंतहँ णरयगइ अभयपदाणें सग्गु, बे पह जवला दरिसिया जहिँ रुच्चइ तहिँ लग्गु ॥१२७॥ जीवों को मारने वालों की नरकगति होती है और उन्हे अभय देने मे स्वर्ग होता है। ये दो मार्ग दिखाये है—अव जिसमें तेरी रुचि हो उसी में लग। **भावार्थ**–निश्चय से मिथ्यात्व विषयकपायरूप परिणाम निजघात है और व्यवहारनय से पर जीवो के इन्द्रिय, वल, आयु, श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का विनाश पर-प्राणघात है। ऐसा करने वालो को नरकगति मिलती है। हिंसक नरक के ही पात्र होते है। निश्चयापेक्षा वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन परिणामरूप जो निजभावों का अभयदान निज जीव की रक्षा और व्यवहारापेक्षा परप्राणियों के प्राणों की रक्षारूप अभयदान-यह स्वदया-परदयारूप अभयदान है। यह करने वालों को स्वर्ग-मोक्ष मिलता है, इसमे सन्देह नही। ये दो मार्ग हैं—इनमें से जो अच्छा लगे उसी का अनुसरण करो। यहाँ कोई अज्ञानी तर्क करता है कि ये प्राण जीव से भिन्न हैं कि अभिन्न ? यदि जीव से अभिन्न हैं तो जैसे जीव का नाश नही होता, वैसे प्राणो का भी नाश नहीं हो सकता और यदि जीव से भिन्न हैं तो प्राणो का वध होने पर भी जीव का वध नही हो सकता, इस प्रकार से जीवहिंसा है ही नही। तुम कैसे जीववध में पाप मानते हो ? **समाधान** करते हैं—कथंचित् प्राण जीव से भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी। अपने प्राणों का हरण होने पर दुःखोत्पत्ति देखी जाती है अतः व्यवहारनय से प्राण जीव से अभिन्न हैं। वही दुःखोत्पत्ति हिंसा कही जाती है, उसी से पापवन्ध होता है। यदि एकान्ततः देह

और जीव का सर्वथा भेद ही माने तो फिर जैसे दूसरे की देह का घात होने पर अपने को दुःख नहीं होता वैसे ही अपनी देह का घात होने पर भी दुःख नहीं होना चाहिए था—परन्तु ऐसा नहीं है। व्यवहारनय से जीव और देह की एकता दिखाई देती है परन्तु निश्चय से एकता नहीं है। यदि निश्चय से भी एकता होवे तो जीव के जाने पर (परभव में) इस देह को भी उसके साथ जाना चाहिए—पर देह नही जाती है अतः जीव और देह में भेद भी है। यद्यपि निश्चयनय से भेद है तथापि व्यवहारनय से प्राणो के चले जाने से जीव दुःखी होता है। सो जीव को दुःखी करना ही हिंसा है और हिंसा से पाप का बन्ध होता है। निश्चयनयापेक्षा जीव का घात नहीं होता, यह तुम्हारा कथन सत्य है परन्तु व्यवहारनय से प्राणवियोगरूप हिंसा है ही और व्यवहारनय से पाप भी है। पाप के फल नरकादि के दुःख है, वे भी व्यवहारनय से ही हैं। यदि तुझे नरक के दुःख इष्ट लगते हैं तो तू हिंसा कर ॥१२७॥

अथ मोक्षमार्गे रतिं कुर्विति शिक्षां ददाति—

अब यह शिक्षा देते है कि तू मोक्षमार्ग मे प्रीति कर—

मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि।
सिव-पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥१२८॥

मूढ सकलमपि कृत्रिमं भ्रान्तः मा तुषं कण्डय।
शिवपथे निर्मले कुरु रतिं गृहं परिजनं लघु त्यज ॥१२८॥

मूढा इत्यादि। **मूढा सयलु वि कारिमउ** हे मूढजीव शुद्धात्मानं विहायान्यत् पञ्चेन्द्रियविषयरूपं समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं **भुल्लउ मं तुस कंडि** भ्रान्तो भूत्वा तुषकण्डनं मा कुरु। एवं विनश्वरं ज्ञात्वा **सिवपहि णिम्मलि** शिवशब्दवाच्यविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो मुक्तात्मा तस्य प्राप्त्युपायः पन्था निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपः स च रागादिरहितत्वेन निर्मलः **करहि रइ** इत्थंभूते मोक्षे मोक्षमार्गे च रतिं प्रीतिं कुरु **घरु परियणु लहु छंडि** पूर्वोक्तमोक्षमार्गप्रतिपक्षभूतं गृहं परिजनादिकं शीघ्रं त्यजेति तात्पर्यम् ॥१२८॥

मूढ ! सयलु वि कारिमउ भुल्लउ तुस मं कंडि। णिम्मलि सिवपहि रइ करहि। घरु परियणु लहु छंडि ॥१२८॥ हे मूढ़ जीव ! शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य सब विषयादिक पदार्थ विनाशीक है, तू भ्रम से भूसे का खण्डन मत कर। तू परमपवित्र मोक्षमार्ग में प्रीति कर और घर परिवार आदि को शीघ्र ही छोड़। **भावार्थ**—हे मूढ ! शुद्धात्मस्वरूप के सिवाय पचेन्द्रियों के विषयरूप सब पदार्थ नाशवान है। तू भ्रम से, असार भूसे को कूटने की तरह का काम मत कर। अतः शीघ्र ही मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षभूत घर-परिवार आदि को छोड़कर मोक्षमार्ग का उद्यमी होकर, ज्ञानदर्शन स्वभाव को धारण करने वाले शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, उसमें प्रीति कर ॥१२८॥

अथ पुनरप्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति—

पुनः अनित्यानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं—

जोइय सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीविं जंति कुडि ण गय इहु पडिछंदा जोइ ।।१२९।।

योगिन् सकलमपि कृत्रिम नि.कृत्रिमं न किमपि ।
जीवेन यातेन देहो न गतः इमं दृष्टान्तं पश्य ।।१२९।।

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **सयलु वि कारिमउ** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावादकृत्रिमाद्वीतरागनित्यानन्दैकस्वरूपात् परमात्मनः सकाशाद् यदन्यन्मनोवाक्कायव्यापाररूपं तत्समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं **णिक्कारिमउ ण कोइ** अकृत्रिमं नित्यं पूर्वोक्त-परमात्मसदृशं संसारे किमपि नास्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । **जीविं जंति कुडि ण गय** शुद्धात्मतत्त्वभावनारहितेन मिथ्यात्वविषयकषायासक्तेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तत्कर्मसहितेन जीवेन भवान्तरं प्रति गच्छतापि कुडिशब्दवाच्यो देहः सहैव न गत इति हे जीव **इहु पडिछंदा जोइ** इमं दृष्टान्तं पश्येति । अत्रेदमध्रुवं ज्ञात्वा देहममत्वप्रभृतिविभावरहितनिजशुद्धात्मपदार्थभावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः ।।१२९।।

जोइय ! सयलु वि कारिमउ, णिक्कारिमउ ण कोइ । जीविं जंति कुडि ण गय । इहु पडिछंदा जोइ ।।१२९।। हे योगी ! सब कुछ नश्वर है । अविनश्वर अकृत्रिम कुछ भी नही । जीव के जाने पर उसके साथ शरीर भी नही जाता—इस दृष्टान्त को प्रत्यक्ष देखो । **भावार्थ**–हे योगी ! टंकोत्कीर्ण, अमूर्त, केवल ज्ञायकस्वभावअकृत्रिम वीतराग परमानन्द स्वरूप परमात्मा से अन्य जो मन-वचन-काय के व्यापारादि सभी पदार्थ हैं, वे कृत्रिम हैं, विनश्वर हैं । अकृत्रिम परमात्मा के सदृश संसार में कुछ भी नहीं है । सब क्षणभंगुर हैं । शुद्धात्मतत्त्व की भावना से रहित जो मिथ्यात्व विषयकषाय हैं, उनमें आसक्त होकर जीव ने जो कर्म उपार्जित किये हैं, उन कर्मों से जब यह जीव परभव में गमन करता है, तब शरीर भी साथ नही जाता । अतः इन देहादिक सबको विनश्वर जान कर देहादि की ममता छोड़नी चाहिए तथा सकल विभावरहित निज शुद्धात्मपदार्थ की भावना करनी चाहिए ।।१२९।।

अथ तपोधनं प्रत्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति—

अब तपस्वियों के लिए अनित्यानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं—

देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कव्वु ।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ।।१३०।।

देवकुलं देवोऽपि शास्त्रं गुरुः तीर्थमपि वेदोऽपि काव्यम् ।
वृक्षः यद् दृश्यते कुसुमित इन्धनं भविष्यति सर्वम् ।।१३०।।

देउलु इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **देउलु** निर्दोषिपरमात्मस्थापनाप्रतिमाया रक्षणार्थं देवकुलं मिथ्यात्वदेवकुलं वा, **देउ वि** तस्यैव परमात्मनोऽनन्तज्ञानादिगुणस्मरणार्थ धर्मप्रभावनार्थ वा प्रतिमास्थापनारूपो देवो रागादिपरिणतदेवताप्रतिमारूपो वा, **सत्थु** वीतरागनिर्विकल्पात्मतत्त्वप्रभृतिपदार्थप्रतिपादकं शास्त्रं मिथ्याशास्त्रं वा, **गुरु** लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानादिगुणसमृद्धस्य परमात्मन: प्रच्छादको मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपो महाऽज्ञानान्धकारदर्प: तद्‌व्यापियद्वचनदिनकरकिरणविदारित: सन् क्षणमात्रेण च विलयं गत: स च जिनदीक्षादायक: श्रीगुरु: तद्विपरीतो मिथ्यागुर्वा, **तित्थु वि** संसारतरणोपायभूतनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारूपनिश्चयतीर्थं तत्स्वरूपरत: परमतपोधनानां आवासभूतं तीर्थकदम्वकमपि मिथ्यातीर्थसमूहो वा, **वेउ वि** निर्दोषिपरमात्मोपदिष्टवेदशव्दवाच्य: सिद्धान्तोऽपि परकल्पितवेदो वा **कव्वु** शुद्धजीवपदार्थादीनां गद्यपद्याकारेण वर्णकं काव्यं लोकप्रसिद्धविचित्रकथाकाव्यं वा, **वच्छु** परमात्मभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं वनस्पतिनामकर्म तदुदयजनितं वृक्षकदम्वकं **जो दीसइ कुसुमियउ** यद् दृश्यते कुसुमितं पुष्पितं **इंधणु होसइ सव्वु** तत्सर्वं कालाग्नेरिन्धनं भविष्यति विनाशं यास्यतीत्यर्थ: । अत्र तथा तावत् पञ्चेन्द्रियविषये मोहो न कर्तव्य: प्राथमिकानां यानि धर्मतीर्थवर्तनादिनिमित्तानि देवकुलप्रतिमादीनि तत्रापि शुद्धात्मभावना कालेन कर्तव्येति संवध: ॥१३०॥

देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कव्वु जु वच्छु कुसुमियउ दीसइ सव्वु इंधणु होसइ ॥१३०॥ जिनालय, जिनेन्द्रदेव, शास्त्र, गुरु, तीर्थक्षेत्र, वेद (सिद्धान्त), काव्य, कुसुमित वृक्ष इत्यादि जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सव काल का ईंधन हो जाएगा । **भावार्थ**–निर्दोष परमात्मा की स्थापना रूप प्रतिमा की रक्षा के लिए जो **देवालय** वनाया है, वह विनाशीक है । परमात्मा के अनन्त ज्ञानादिगुणों के स्मरण के लिए और धर्म की प्रभावना के लिए **देव** रूप में जिस प्रतिमा की स्थापना की गई है, वह भी विनश्वर है । इसी तरह अन्य देव-प्रतिमाये भी विनाशीक है । वीतरागनिर्विकल्प आत्मतत्त्व आदि पदार्थो के प्रतिपादक जैन **शास्त्र** अथवा अन्य मिथ्याशास्त्र भी विनश्वर ही है । लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञानादिगुणों से समृद्ध परमात्मा का प्रच्छादक जो मिथ्यात्व रागादिपरिणतिरूप महा अज्ञानरूप अन्धकारदर्प को दूर करने के लिए सूर्य के समान यानी जिनकी वचनरूपी किरणों से मोहान्धकार दूर हो गया है, ऐसे महामुनि **गुरु** भी विनश्वर है और इनके आचरण से विपरीत जो पाखण्डी, मिथ्यागुरु है वे भी क्षणभगुर है । संसारसमुद्र के तरने का कारण जो निज शुद्धात्मतत्त्व, उसकी भावनारूप जो निश्चयतीर्थ, उसमें लीन परम तपोधन के आवासभूत **तीर्थ** क्षेत्रादि वा मिथ्यातीर्थादि सव विनश्वर है । निर्दोष परमात्मा जो सर्वज्ञ वीतरागदेव है उनसे उपदिष्ट द्वादशाग सिद्धान्त रूप **वेद** यद्यपि सनातन है तथापि क्षेत्र की अपेक्षा विनश्वर है, किसी समय है, किसी क्षेत्र में पाया जाता है, किसी समय नही पाया जाता, परमतियो का वेद भी विनश्वर है । शुद्ध जीवादि पदार्थो का गद्य-पद्यरूप मे वर्णन करने वाले **काव्य** अथवा लोकप्रसिद्ध कथाकाव्य भी विनश्वर है । परमात्मभावना से रहित जीव के द्वारा उपार्जित वनस्पतिनामकर्म के उदय से उत्पन्न

वृक्षसमूह जो अभी पुष्पित दिखाई देते हैं वे भी विनश्वर है। ये सभी पदार्थ कालरूपी अग्नि का ईंधन हो जाएंगे अर्थात् नष्ट हो जायेंगे। संसार का सब वैभव क्षणभंगुर है, ऐसा जान कर पंचेन्द्रियों के विषयों में मोह नहीं करना चाहिए। प्रथमावस्था में यद्यपि धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त जैन-मन्दिर, जिनप्रतिमा, जिनधर्म और जैनधर्मी आदि में प्रेम करना योग्य है तथापि काल पाकर मात्र शुद्धात्मभावना ही करनी चाहिए ॥१३०॥

अथ शुद्धात्मद्रव्यादन्यत्सर्वमध्रुवमिति प्रकटयति—

अब कहते हैं कि शुद्धात्मद्रव्य के अतिरिक्त अन्य सब नश्वर है—

एक्क जि मेल्लिवि बंभु परु भुवणु वि एहु असेसु।
पुहविहिं णिम्मिउ भंगुरउ एहउ बुज्झि विसेसु ॥१३१॥

एवमेव मुक्त्वा ब्रह्म परं भुवनमपि एतद् अशेषम्।
पृथिव्यां निर्मापितं भंगुरं एतद् बुध्यस्व विशेषम् ॥१३१॥

एक्कु जि इत्यादि **एक्कु जि** एकमेव **मेल्लिवि** मुक्त्वा। किम्। **बंभु परु** परमब्रह्मशब्दवाच्यं नानावृक्षभेदभिन्नवनमिव नानाजीवजातिभेदभिन्नं शुद्धसंग्रहनयेन शुद्ध-जीवद्रव्यं **भुवणु वि** भुवनमपि **एहु** इद प्रत्यक्षीभूतम्। कतिसंख्योपेतम्। **असेसु** अशेषं समस्तमपि। कथभूतमिदं सर्वं **पुहविहिं णिम्मिउ** पृथिव्यां लोके निर्मापितं **भंगुरउ** विनश्वरं **एहउ बुज्झि विसेसु** इमं विशेष बुध्यस्व जानीहि त्वं **हे प्रभाकरभट्ट**। अयमत्र भावार्थः। विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परब्रह्मशब्दवाच्य शुद्धजीवतत्त्वं मुक्त्वान्यत्पञ्चेन्द्रिय-विषयभूतं विनश्वरमिति ॥१३१॥

एक्कु परु बंभु जि मेल्लिवि पुहविहिं एहु असेसु भुवणु वि णिम्मिउ भंगुरउ एहउ विसेसु बुज्झि ॥१३१॥ एक शुद्ध जीवद्रव्यरूप परब्रह्म को छोड कर पृथ्वी पर जो लोक के पदार्थों की रचना है वह सब क्षणभगुर है, इस विशेष बात को तुम जानो। शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा समस्त जीवराशि एक है। जैसे अनेक वृक्षों से भरा हुआ वन एक कहा जाता है, उसी तरह नाना प्रकार के जीव जाति की अपेक्षा एक कहे जाते हैं वे सब जीव अविनाशी है और सब रचना विनाशीक है। हे प्रभाकर भट्ट! तू ऐसा विशेष जान। भावार्थ-यह है कि निर्मल ज्ञानदर्शन स्वभावी परब्रह्म शब्द से वाच्य शुद्ध जीव तत्त्व को छोड कर अन्य जो पचेन्द्रियो के विषय है, वे सब क्षणिक हैं, नाशवान हैं ॥१३१॥

अथ पूर्वोक्तमध्रुवत्वं ज्ञात्वा धनयौवनयोस्तृष्णा न कर्तव्येति कथयति—

अब कहते है कि पूर्वोक्त पदार्थो को अनित्य जान कर धन-यौवन की तृष्णा नही करनी चाहिए —

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ।
तें कारणिं वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥१३२॥

ये दृष्टाः सूर्योद्गमने ते अस्तमने न दृष्टाः ।
तेन कारणेन वत्स धर्मं कुरु धने यौवने का तृष्णा ॥१३२॥

जे दिट्ठा इत्यादि । **जे दिट्ठा** ये केचन दृष्टाः । क्व । **सूरुग्गमणि** सूर्योदये **ते अत्थवणि ण दिट्ठ** ते पुरुषा गृहधनधान्यादिपदार्था वा अस्तमने न दृष्टाः, एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा । **तें कारणि वढ धम्मु करि** तेन कारणेन वत्स पुत्र सागारानगारधर्मं कुरु । **धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ** धने यौवने वा का तृष्णा न कापीति । तद्यथा । गृहस्थेन धने तृष्णा न कर्तव्या तर्हि किं कर्तव्यम् । भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानां सर्वतात्पर्येणाहारादिचतुर्विधं दानं दातव्यम् । नो चेत् सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पपरमसमाधौ स्थातव्यम् । यौवनेऽपि तृष्णा न कर्तव्या, यौवनावस्थायां यौवनोद्रेकजनितविषयरागं त्यक्त्वा विषयप्रतिपक्षभूते वीतरागचिदानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥१३२॥

वढ ! जे सूरुग्गमणि दिट्ठा ते अत्थवणि ण दिट्ठ । ते कारणिं धम्मु करि, धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥१३२॥ हे शिष्य ! जो कुछ पदार्थ सूर्योदय के समय देखे थे वे सूर्यास्त के समय नहीं देखे जाते (क्योंकि नष्ट हो जाते हैं) अतः तू धर्म कर, धन और यौवन में क्या तृष्णा कर रहा है । **भावार्थ**–धन-धान्य, घर, मनुष्यादि पदार्थ जो प्रातःकाल देखे गए थे, वे सध्यासमय नही दीखते, नष्ट हो जाते है । ऐसी क्षणभंगुरता को देख कर इन पदार्थों की तृष्णा छोड़नी चाहिए और सागार या अनगार धर्म धारण करना चाहिए । यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि गृहस्थ धन की तृष्णा न करे तो क्या करे ? **उत्तर**–गृहस्थ को चाहिए कि वह निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के आराधक जो मुनि हैं उनकी सब प्रकार से सेवा करे, चार प्रकार का दान उन्हे दे । धर्म की इच्छा करे, धन की नही । जो किसी दिन प्रत्याख्यान की चौकड़ी के उदय से श्रावक के व्रत मे भी रहे तो देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, दान, शील, उपवासादि अणुव्रतरूप धर्म करे और जो शक्ति होवे तो सर्व परिग्रह का त्याग कर यति के व्रत धारण कर निर्विकल्प परमसमाधि में रहे । विवेकी गृहस्थ धन की तृष्णा न करे । धन-यौवन असार है । यौवनावस्था में भी विषयतृष्णा न करे । विषय का राग छोड़ कर विषयों से पराङ्मुख जो वीतराग निजानन्द एक अखण्डस्वभावरूप शुद्धात्मा है, उसमें लीन होकर सदैव उसी की भावना करनी चाहिए ॥१३२॥

अथ धर्मतपश्चरणरहितानां मनुष्यजन्म वृथेति प्रतिपादयति—

अब कहते हैं कि धर्माचरण और तपश्चरण से रहितों का मनुष्य-जन्म वृथा है—

धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ रुक्खें चम्ममएण ।
खज्जिवि जर-उद्देहियए णरइ पडिव्वउ तेण ॥१३३॥

धर्मो न सचितः तपो न कृतं वृक्षेण चर्ममयेन ।
खादयित्वा जरोद्रेहिकया नरके पतितव्यं तेन ॥१३३॥

धम्मु इत्यादि । **धम्मु ण संचिउ** धर्मसचयो न कृत गृहस्थावस्थाया दानशील-पूजोपवासादिरूपसम्यक्त्वपूर्वको गृहिधर्मो न कृत , दर्शनिकव्रतिकाद्येकादशविधश्रावक-धर्मरूपो वा । **तउ ण किउ** तपश्चरण न कृत तपोधनेन तु समस्तबहिर्द्रव्येच्छानिरोध कृत्वा अनशनादिद्वादशविधतपश्चरणबलेन निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा निरन्तरं भावना न कृता । केन कृत्वा । **रुक्खें चम्ममएण** वृक्षेण मनुष्यशरीरचर्मनिर्वृत्तेन । येनैव न कृत गृहस्थेन तपोधनेन वा **णरइ पडिव्वउ तेण** नरके पतितव्य तेन । कि कृत्वा । **खज्जिवि** भक्षयित्वा । कया कर्तृभूतया । **जरउद्देहियए** जरोद्रेहिकया । इदमत्र तात्पर्यम् । गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेय कृत्वा भेदरत्नत्रयात्मक श्रावकधर्मं कर्तव्य , यतिना तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन विशिष्टतपश्चरण कर्तव्य नो चेत् दुर्लभपरपरया प्राप्त मनुष्यजन्म निष्फलमिति ।।१३३।।

चम्ममएण रुक्खें धम्मु ण संचिउ, तउ ण किउ । जर-उद्देहियए खज्जिवि तेण णरइ पडिव्वउ ।।१३३।। जिसने मनुष्य-शरीररूपी चर्ममयी वृक्ष पाकर धर्म नही किया, तप भी नही किया, उसका शरीर वृद्धावस्थारूपी दीमक मे खाया जाएगा, फिर वह नरक मे पडेगा । **भावार्थ**—गृहस्थावस्था मे जिसने सम्यक्त्वपूर्वक दान, शील, पूजा, उपवासादिरूप गृहस्थधर्म का पालन नही किया, दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमा के भेदरूप श्रावक का धर्म नही धारण किया तथा मुनि होकर सब पदार्थों की इच्छा का निरोध कर अनशन वगैरह बारह प्रकार का तप नही किया और तपश्चरण के बल मे शुद्धात्मा के ध्यान मे ठहरकर निरन्तर भावना नही की, मनुष्य देहरूपी चर्ममयी वृक्ष को पाकर जिसने श्रावक का या मुनि का धर्म नही किया, उसका शरीर जरारूपी दीमक खाएगी फिर वह मर कर नरक मे गिरेगा । अत गृहस्थ को निश्चयरत्नत्रय की श्रद्धा कर निजस्वरूप को उपादेय जान कर व्यवहार रत्नत्रय रूप श्रावक का धर्म पालना चाहिए और यति को निश्चय रत्नत्रय म ठहर कर व्यवहाररत्नत्रय के बल से विशेष तपश्चरण करना चाहिए—अन्यथा बडी दुर्लभता मे प्राप्त यह मनुष्य-जन्म निष्फल ही होगा ।।१३३।।

अथ हे जीव जिनेश्वरपदे परमभक्ति कुर्विति शिक्षा ददाति—

अब शिक्षा देते हैं कि हे जीव ! तू जिनपद की भक्ति कर—

अरि जिय जिण-पइ भत्ति करि सुहि सज्जणु अवहेरि ।
तिं बप्पेण वि कज्जु णवि जो पाडइ ससारि ।।१३४।।

अरे जीव जिनपदे भक्ति कुरु सुख स्वजन अपहर ।
तेन पित्रापि कार्य नैव य पातयति ससारे ।।१३४।।

अरि जिय इत्यादि । **अरि जिय** अहो भव्यजीव **जिणपइ भत्ति करि** जिनपदे भक्ति कुरु गुणानुरागवचननिमित्त जिनेश्वरेण प्रणीतश्रीधर्मे रतिं कुरु **सुहि सज्जणु**

अवहेरि संसारसुखसहकारिकारणभूतं स्वजनं सुखं गोत्रमप्यपहर त्यज । कस्मात् । **तिं वप्पेण** वि तेन स्नेहितपित्रापि **कज्जु णवि** कार्यं नैव । यः किं करोति । **जो पाडइ** यः पातयति । क्व । **संसारि** संसारसमुद्रे । तथा च । हे आत्मन्, अनादिकाले दुर्लभे वीतरागसर्वज्ञप्रणीते रागद्वेषमोहरहिते जीवपरिणामलक्षणे शुद्धोपयोगरूपे निश्चयधर्मे व्यवहारधर्मे च पुनः षडावश्यकादिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रतिं कुरु । इत्थंभूते धर्मे प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोत्रजमपि त्यज तदनुकूलं परगोत्रजमपि स्वीकुर्विति । अत्रायं भावार्थः । विषयसुखनिमित्तं यथानुरागं करोति जीवस्तथा जिनधर्मं करोति तर्हि संसारे न पततीति । तथा चोक्तम्–"**विसयहं कारणि सव्वु जणु जिम अणुराउ करेइ । तिम जिणभासिए धम्मि जइ ण उ संसारि पडेइ ॥**" ॥१३४॥

अरि जिय ! जिणपइ भत्ति करि, सुहि सज्जणु अवहेरि । तिं वप्पेण वि कज्जु णवि जो संसारि पाडइ ॥१३४॥ हे भव्य जीव ! तू जिनपद में भक्ति कर । संसार सुख के निमित्त अपने स्वजनों का भी परित्याग कर । उन पिता से भी क्या प्रयोजन है जो ससारसमुद्र में इस जीव को गिरा दे । हे आत्मन् ! अनादिकाल से दुर्लभ जो वीतराग सर्वज्ञकथित रागद्वेषमोह-रहित शुद्धोपयोगरूप निश्चय धर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म है, उनमें भी षड़ावश्यकरूप यतिधर्म तथा दानपूजादि श्रावकधर्म—यह शुभोपयोगरूप धर्म है, इसमें प्रीति कर । इस धर्म से विमुख जो कोई अपने कुल का मनुष्य हो उसे भी छोड़ और इस धर्म के सन्मुख जो कोई पर कुटुम्ब का मनुष्य हो, उससे भी प्रीति कर । तात्पर्य यह है कि यह जीव विषयसुख में जैसी प्रीति करता है, वैसी जो जिनधर्म से करे तो संसार में नहीं भटके । अन्यत्र भी कहा है—"जैसे विषयों के कारणों में यह जीव वार-वार प्रेम करता है, वैसे जो जिनधर्म में करे तो संसार में परिभ्रमण नहीं करे ।" ॥१३४॥

अथ येन चित्तशुद्धिं कृत्वा तपश्चरणं न कृतं तेनात्मा वञ्चित इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

जिसने चित्त को शुद्ध करके तपश्चरण नहीं किया, उसने अपने आत्मा को ठग लिया, यह अभिप्राय मन में रख कर व्याख्यान करते हैं—

जेण ण चिण्णउ तव-यरणु णिम्मलु चित्तु करेवि ।
अप्पा वंचिउ तेण पर माणुस-जम्मु लहेवि ॥१३५॥

येन न चीर्णं तपश्चरणं निर्मलं चित्तं कृत्वा ।
आत्मा वञ्चितः तेन परं मनुष्यजन्म लब्ध्वा ॥१३५॥

जेण इत्यादि । **जेण** येन जीवेन **ण चिण्णउ** न चरितं न कृतम् । किम् । **तवयरणु** बाह्याभ्यन्तरतपश्चरणम् । किं कृत्वा । **णिम्मलु चित्तु करेवि** कामक्रोधादि-

रहितं वीतरागचिदानन्दैकसुखामृततृप्तं निर्मलं चित्तं कृत्वा । **अप्पा वंचिउ तेण** आत्मा वञ्चितः तेन नियमेन । किं कृत्वा । **लहेवि** लब्ध्वा । किम् । **माणुसजम्मु** मनुष्यजन्मेति । तथाहि । दुर्लभपरंपरारूपेण मनुष्यभवे लब्धे तपश्चरणेऽपि च निर्विकल्पसमाधिबलेन रागादिपरिहारेण चित्तशुद्धिः कर्तव्येति । येन चित्तशुद्धिर्न कृता स आत्मवञ्चक इति भावार्थः । तथा चोक्तम्--"**चित्ते बद्धे बद्धो मुक्के मुक्को त्ति णत्थि संदेहो । अप्पा विमलसहावो मइलिज्जइ मइलिए चित्ते ।।**" ।।१३५।।

जेण णिम्मलु चित्तु करेवि तवयरणु ण चिण्णउ तेण पर माणुस-जम्मु लहेवि अप्पा वंचिउ ।।१३५।। जिस मनुष्य ने अपने चित्त को निर्मल करके बाह्याभ्यन्तर तप नहीं किया उसने श्रेष्ठ मनुष्य-जन्म को प्राप्त कर भी केवल अपना आत्मा ही ठगा । **भावार्थ**–परम दुर्लभ इस मानवदेह को पाकर कामक्रोधादि रहित वीतराग चिदानन्द सुखरूपी अमृत से अपना चित्त निर्मल करके जिसने बाह्याभ्यन्तर तप नहीं किया, उसने निश्चय ही अपने आत्मा को ठगा है । दुर्लभपरम्परा से प्राप्त मनुष्यदेह पाकर, तपश्चरण अंगीकार करके निर्विकल्प समाधि के बल से रागादि का त्याग कर परिणाम निर्मल करने चाहिए । जिन्होंने चित्त की शुद्धि नहीं की, वे आत्मवंचक हैं । अन्यत्र भी कहा है- चित्त के बँधने से यह जीव बँधता है, जिनका चित्त परिग्रह से—धनधान्यादिक से आसक्त हुआ, वे ही कर्मबन्धन से बँधते है और जिनका चित्त परिग्रह से छूट गया, आशा-तृष्णा से अलग हो गया, वे ही मुक्त हुए । इसमें सन्देह नहीं है । यह आत्मा निर्मल स्वभाव है, सो चित्त के मैले होने से मैला होता है ।।१३५।।

अत्र पञ्चेन्द्रियविजयं दर्शयति—

अब पञ्चेन्द्रियों को जीतने की बात कहते हैं—

ए पंचिंदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि ।
चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिँ संसारि ।।१३६।।

एते पञ्चेन्द्रियकरभकाः जीव मुक्तान् मा चारय ।
चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पातयन्ति संसारे ।।१३६।।

ए इत्यादि । **ए** एते प्रत्यक्षीभूताः **पंचिंदियकरहडा** अतीन्द्रियसुखास्वादरूपात्परमात्मन. सकाशात् प्रतिपक्षभूताः पञ्चेन्द्रियकरहटा उष्ट्राः **जिय** हे मूढजीव **मोक्कला म चारि** स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखपराङ्मुखो भूत्वा स्वेच्छया मा चारय व्याघुट्टय । यतः किं कुर्वन्ति । **पाडहिं** पातयन्ति । कम् । जीवम् । क्व । **संसारे** निःसंसारशुद्धात्मप्रतिपक्षभूते पञ्चप्रकारसंसारे पुणु पश्चात् । किं कृत्वा पूर्वम् । **चरिवि** चरित्वा भक्षणं कृत्वा । किम् । **विसयवणु** पञ्चेन्द्रियविषयवनमित्यभिप्रायः ।।१३६।।

जिय ! ए पंचिंदिय करहडा मोक्कला म चारि । असेसु वि विसयवणु चरिवि पुणु संसारि

पाडहिं ॥१३६॥ हे जीव ! इन पंचेन्द्रिय रूप ऊँटों को अपनी इच्छा से मत चरने दे। क्योंकि सम्पूर्ण विषयवन को चर के फिर ये तुझे संसार में ही गिरा देंगे। ये पाँचों इन्द्रियाँ अतीन्द्रियसुख के आस्वादनरूप परमात्मा में पराङ्मुख हैं। तू इनको स्वच्छन्द मत कर, अपने वश में रख, अन्यथा ये तुझे संसार में पटक देंगी। संसार से रहित जो शुद्धात्मा उससे विपरीत जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार का संसार उसमें ये पंचेन्द्रिय रूपी ऊँट स्वच्छन्द हुए विषयवन को चर कर जगत् के जीवों को जगत् में ही पटक देंगे, यह अभिप्राय है ॥१३६॥

अथ ध्यानवैषम्यं कथयति—

अब, ध्यान की कठिनता बताते हैं—

जोइय विसमी जोय-गइ मणु संठवण ण जाइ।
इंदिय-विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥१३७॥

योगिन् विषमा योगगतिः मनः संस्थापयितुं न याति।
इन्द्रियविषयेषु एव सुखानि तत्र एव पुनः पुनः याति ॥१३७॥

जोइय इत्यादि। **जोइय** हे योगिन् **विसमी जोयगइ** विषमा योगगतिः। कस्मात्। **मणु संठवण ण जाइ** निजशुद्धात्मन्यतिचपलं मर्कटप्रायं मनो धर्तुं न याति। तदपि कस्मात्। **इंदियविसय जि सुक्खडा** इन्द्रियविषयेषु यानि सुखानि **वलि वलि तित्थु जि जाइ** वीतरागपरमाह्लादसमरसीभावपरमसुखरहितानां अनादिवासनावासित-पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादासक्तानां जीवानां पुनः पुनः तत्रैव गच्छतीति भावार्थः ॥१३७॥

जोइय ! जोयगइ विसमी मणु संठवण ण जाइ। इंदिय-विसय जि सुक्खडा, तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥१३७॥ हे योगी ! ध्यान की गति महाविषम है। क्योंकि चित्तरूपी बन्दर चपल होने से निजशुद्धात्मा में स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि इन्द्रियविषयों में ही सुख मान रहा है, इसलिए उन्हीं विषयों में बार-बार जाता है। वीतराग परमआनन्द समरसी भावरूप अतीन्द्रिय सुख से रहित यह संसारी जीव है, उसका मन अनादिकाल की अविद्या की वासना में बस रहा है, इसलिए वह पंचेन्द्रियों के विषयसुखों में आसक्त है और बार-बार उन्हीं विषयसुखों में दौड़ता है। यह भावार्थ है कि ध्यान की गति बड़ी कठिन है ॥१३७॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

अब स्थलसंख्या से बाह्य प्रक्षेपक दोहे कहते हैं—

सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु।
होयवि पंचहँ बाहिरउ झायंतउ परमत्थु ॥१३७*५॥

स योगी यः पालयति (?) दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्।
भूत्वा पञ्चभ्यः बाह्यः ध्यायन् परमार्थम् ॥१३७*५॥

सो इत्यादि । **सो जोइउ** स योगी ध्यानी भण्यते । यः किं करोति । **जो जोगवइ** यः कर्ता प्रतिपालयति रक्षति । किम् । **दंसणु णाणु चरित्तु** निजशुद्धात्मद्रव्य-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयम् । किं कृत्वा । **होयवि** भूत्वा । कथंभूतम् । **बाहिरउ** बाह्यः । केभ्यः । **पंचहं** पञ्चपरमेष्ठिभावनाप्रतिपक्षभूतेभ्यः पञ्चमगतिसुख-विनाशकेभ्यः पञ्चेन्द्रियेभ्यः । किंकुर्वाणः । **झायंतउ** ध्यायन् सन् । कम् । **परमत्थु** परमार्थशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानमिति तात्पर्यम् । योगशब्दस्यार्थः कथ्यते--'युज्' समाधौ इति धातुनिष्पन्नेन योगशब्देन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरुच्यते । अथवानन्तज्ञानादिरूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः, स इत्थंभूतो योगो यस्यास्तीति स तु योगी ध्यानी तपोधन इत्यर्थः ॥१३७*५॥

जो पंचहँ बाहिरउ होयवि परमत्थु झायंतउ दंसणु णाणु चरित्तु जोगवइ सो जोइउ ॥१३७*५॥ जो पंचेन्द्रियों से बाहर होकर निज परमात्मा का ध्यान करते हुए दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय को पालता है, वह योगी होता है। **भावार्थ**-जिसके परिणाम निज शुद्धात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय में ही लीन है, जो पंचमगतिरूपी मोक्ष के सुख को विनाश करने वाली और पाँच परमेष्ठी की भावना से रहित ऐसी पंचेन्द्रियो से पृथक् हो गया है, वही योगी है। योग शब्द का अर्थ ऐसा है- युज् धातु है जिसका अर्थ है जोडना, उससे बने योग शब्द का अर्थ है— अपना मन अपनी चेतना मे जोड़ना यानी वीतरागनिर्विकल्प समाधि । अथवा अनन्तज्ञानादिरूप स्वशुद्धात्मा में परिणमन करना– सो योग है । ऐसा योग जिसके है वही ध्यानी है, वही तपोधन है, वही योगी है ॥१३७*५॥

अथ पञ्चेन्द्रियसुखस्यानित्यत्वं दर्शयति--

अब पंचेन्द्रियों के सुख की अनित्यता बताते है --

विसय-सुहइँ बे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि ॥१३८॥

विषयसुखानि द्वे दिवसके पुनः दुःखाना परिपाटी ।
भ्रान्त जीव मा वाहय त्व आत्मनः स्कन्धे कुठारम् ॥१३८॥

विसय इत्यादि । **विसयसुहइं** निर्विषयान्नित्याद्वीतरागपरमानन्दैकस्वभावात् परमात्मसुखात्प्रतिकूलानि विषयसुखानि **बे दिवहडा** दिनद्वयस्थायीनि भवन्ति । **पुणु** पुनः पश्चाद्दिनद्वयानन्तरं **दुक्खहं परिवाडि** आत्मसुखबहिर्मुखेन, विषयासक्तेन जीवेन यान्युपार्जितानि पापानि तदुदयजनितानां नारकादिदुःखानां पारिपाटी प्रस्तावः एवं ज्ञात्वा **भुल्लउ जीव** हे भ्रांत जीव **म वाहि तुहं** मा निक्षिप त्वम् । कम् **कुहाडि**

कुठारम् । क्व । अप्पण खंधि आत्मीयस्कन्धे । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा विषयसुखं त्यक्त्वा वीतरागपरमात्मसुखे च स्थित्वा निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ।।१३८।।

विसय-सुहइँ बे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि । भुल्लउ जीव ! तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि म वाहि ।।१३८।। विषयसुख दो दिन के हैं फिर (ये विषय) दुःख की परिपाटी है । हे भोले जीव ! तू अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी मत मार। निर्विषय नित्य वीतराग परमानन्द-स्वभावी परमात्मसुख से विपरीत ये विषयसुख दो दिन के हैं यानी क्षणिक हैं, नश्वर हैं । फिर इन विषयसुखों को प्राप्त करने हेतु विषयासक्त जीव के द्वारा उपार्जित पापकर्मों के उदय से नारकादिदुःखों की लम्बी परम्परा है— यह जानकर हे भ्रान्त जीव ! विषयों का सेवन कर तू अपने कन्धे पर स्वयं कुल्हाड़ी मत चला । भावार्थ–विषयसुखों का त्याग कर वीतरागपरमात्मसुख मे ठहरकर निरन्तर शुद्धोपयोग की भावना करनी चाहिए ।।१३८।।

अथात्मभावनार्थं योऽसौ विद्यमानविषयान् त्यजति तस्य प्रशंसां करोति—

अब, आत्मभावना के लिए जो इन विद्यमान विषयसुखों का त्याग करता है, उसकी प्रशंसा करते हैं —

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ।।१३९।।

मतः विषयान् यः परिहरति बलिं करोमि अहं तस्य ।
स दैवेन एव मुण्डितः शीर्षं खल्वाटं यस्य ।।१३९।।

संता इत्यादि । **संता विसय** कटुकविषप्रख्यान् किंपाकफलोपमानलब्धपूर्वनिरुपरागशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भरूपनिश्चयधर्मचौरान् विद्यमानविषयान् **जु परिहरइ** यः परिहरति **बलि किज्जउं हउं तासु** बलिं पूजां करोमि तस्याहमिति । श्रीयोगीन्द्रदेवाः स्वकीयगुणानुरागं प्रकटयन्ति । विद्यमानविषयत्यागे दृष्टान्तमाह । **सो दइवेण जि मुंडियउ** स दैवेन मुण्डितः । स कः । **सीसु खडिल्लउ जासु** शिरः खल्वाटं यस्येति । अत्र पूर्वकाले देवागमनं दृष्ट्वा । सप्तर्द्धिरूपं धर्मातिशयं दृष्ट्वा अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानोत्पत्तिं दृष्ट्वा भरतसगररामपाण्डवादिकमनेकराजाधिराजमणिमुकुटकिरणकलापचुम्बितपादारविन्दजिनधर्मरतं दृष्ट्वा च परमात्मभावनार्थं केचन विद्यमानविषयत्यागं कुर्वन्ति तद्भावनारतानां दानपूजादिकं च कुर्वन्ति तत्राश्चर्यं नास्ति इदानीं पुनर् **"देवागमपरिहीणे कालेऽतिशयवर्जिते । केवलोत्पत्तिहीने तु हलचक्रधरोज्झिते ।।"** इति श्लोककथितलक्षणे दुष्षमकाले यत्कुर्वन्ति तदाश्चर्यमिति भावार्थः ।।१३९।।

जु संता विसय परिहरइ, तासु हउँ बलि किज्जउँ । जासु सीसु खडिल्लउ सो दइवेण जि मुंडियउ ।।१३९।। जो विद्यमान विषयों का परित्याग कर देता है, उसकी मैं पूजा करता हूँ ।

क्योंकि जिसका सिर गंजा है, वह तो दैव द्वारा ही मूंडा हुआ है, वह मुण्डित नहीं हो सकता। **विशेषार्थ**–देखने में मनोज्ञ ऐसे किंपाक विषफल के समान विद्यमान विषय हैं, ये वीतराग शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्तिरूप निश्चयधर्म स्वरूप रत्न के चोर हैं। जो कोई इनका परित्याग करता है, योगीन्दुदेव उसकी बलिहारी करते हैं अर्थात् प्रशंसा करते हैं, सम्मान देते हैं, अपना गुणानुराग प्रकट करते हैं। जो वर्तमान विषयों के प्राप्त होने पर भी उनका त्याग करते हैं, वे प्रशंसनीय होते हैं। चतुर्थकाल में तो इस क्षेत्र में देवों का आगमन था, उनको देखकर; नाना प्रकार की ऋद्धियों के धारक महामुनियों के अतिशय देख कर; अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान की उत्पत्ति देखकर; जिनके चरणारविन्दों को बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा नमस्कार करते थे ऐसे भरत, सगर, राम, पाण्डवादि अनेक चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण तथा मण्डलीक राजाओं को जिनधर्म में रत देखकर भव्यजीवों को जिनधर्म की रुचि उपजती थी तब वे परमात्म भावना के लिए विद्यमान विषयों का त्याग करते थे। जब तक गृहस्थपने में रहते थे तब तक दानपूजादि शुभ क्रियायें करते थे, चार प्रकार के संघ की सेवा करते थे। इस प्रकार पहले समय में तो ज्ञानोत्पत्ति के अनेक कारण थे, ज्ञान उत्पन्न होने का आश्चर्य नहीं था लेकिन आज पंचमकाल में यह सब नहीं है। कहा भी है– "इस पंचमकाल में देवों का आगमन तो बन्द हो गया है[1] और कोई अतिशय देखा नहीं जाता। यह काल केवलज्ञान की उत्पत्ति से रहित है तथा हलधर चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषों से रहित है।" ऐसे दुःखमकाल में जो भव्य जीव धर्म धारण करते हैं, यही आश्चर्य की बात है, यह भावार्थ है ॥१३९॥

अथ मनोजये कृते सतीन्द्रियजयः कृतो भवतीति प्रकटयति—

अब कहते हैं कि मन को जीत लेने पर इन्द्रियों का जय होता है—

पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरु-वरहँ अवसइँ सुक्कहिं पण्ण ॥१४०॥

पञ्चानां नायकं वशीकुरुत येन भवन्ति वशे अन्यानि।
मूले विनष्टे तरुवरस्य अवश्यं शुष्यन्ति पर्णानि ॥१४०॥

पंचहं इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **पंचहं** पञ्चज्ञानप्रतिपक्षभूतानां पञ्चेन्द्रियाणां **णायकु** रागादिविकल्परहितपरमात्मभावनाप्रतिकूलं दृष्टश्रुतानुभूत-भोगाकांक्षारूपप्रभृतिसमस्तापध्यानजनितविकल्पजालरूपं मनोनायकं हे भव्याः **वसिकरहु** विशिष्टभेदभावनाङ्कुशबलेन स्वाधीनं कुरुत। येन स्वाधीनेन किं भवति। **जेण होंति वसि अण्ण** येन वशीकृतेनान्यानीन्द्रियाणि वशीभवन्ति। दृष्टान्तमाह। **मूल विणट्ठइ तरुवरहं** मूले विनष्टे तरुवरस्य **अवसइं सुक्कहिं पण्ण** अवश्यं नियमेन शुष्यन्ति पर्णानि इति। अयमत्र भावार्थः। निजशुद्धात्मतत्त्वभावनार्थं येन केनचित्प्रका-

---

१. देखिए ति प अधिकार ४ गाथा १५३७ पृ ४४६।

रेण मनोजयः कर्तव्यः तस्मिन् कृते जितेन्द्रियो भवति । तथा चोक्तम्—"**येनोपायेन शक्येन सन्नियन्तुं चलं मनः । स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥**" ॥१४०॥

पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण अण्ण वसि होंति । तरुवरहँ मूल विणट्ठइ पण्ण अवसइँ सुक्कहिं ॥१४०॥ पंचेन्द्रियों के नायक मन को वश में करो । उस मन के वश में होने से अन्य सब इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाएगी । जैसे वृक्ष की जड़ नष्ट हो जाने पर पत्ते निश्चय से सूख जाते हैं । **विशेषार्थ**–केवलज्ञान से पराङ्मुख पंचेन्द्रियों का स्वामी मन है । यह मन रागादिविकल्परहित परमात्मा की भावना से विमुख और देखे, सुने, भोगे हुए भोगों की वांछा रूप आर्त रौद्र खोटे ध्यान से युक्त विकल्पजालमयी है । इसको भेद विज्ञान की भावना रूप अंकुश से वश में करो । इसको वशीभूत करने से सब इन्द्रियाँ वश में हो जावेगी जैसे जड़ के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के पत्ते स्वयं ही सूख जाते हैं । **भावार्थ** यह है कि निजशुद्धात्म की भावना के लिए जिस किसी प्रकार से मन को अवश्यमेव जीतना चाहिए, उसको जीतने पर जितेन्द्रिय होता है । अन्यत्र भी कहा है—"जिस उपाय से चंचल मन को नियंत्रित किया जा सकता है, वही उपाय करना चाहिए, इस उपाय से उदास नहीं होना चाहिए" ॥१४०॥

अथ हे जीव विषयासक्तः सन् कियन्तं कालं गमिष्यसीति संबोधयति—

अब सम्बोधित करते हैं कि हे जीव ! तू विषयों में आसक्त हुआ कितना काल व्यतीत करेगा ?

विसयासत्तउ जीव तुहुँ कित्तिउ कालु गमीसि ।
सिव-संगमु करि णिच्चलउ अवसइँ मुक्खु लहीसि ॥१४१॥

विषयासक्तः जीव त्वं कियन्तं कालं गमिष्यसि ।
शिवसंगमं कुरु निश्चलं अवश्यं मोक्षं लभसे ॥१४१॥

विसय इत्यादि । **विसयासत्तउ** शुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दस्यन्दिपारमार्थिकसुखानुभवरहितत्वेन विषयासक्तो भूत्वा **जीव** हे अज्ञानिजीव **तुहुँ** त्वं **कित्तिउ कालु गमीसि** कियन्तं कालं गमिष्यसि बहिर्मुखभावेन नयसि । तर्हि किं करोमीत्यस्य प्रत्युत्तरमाह । **सिवसंगमु करि** शिवशब्दवाच्यो योऽसौ केवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वकीयशुद्धात्मा तत्र संगमं संसर्गं कुरु । कथंभूतम् **णिच्चलउ** घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि मेरुवन्निश्चलं तेन निश्चलात्मध्यानेन **अवसइं मुक्खु लहीसि** नियमेनानन्तज्ञानादिगुणास्पदं मोक्षं लभसे त्वमिति तात्पर्यम् ॥१४१॥

जीव ! तुहुँ विसयासत्तउ कित्तिउ कालु गमीसि । णिच्चलउ सिवसंगमु करि, अवसइँ मुक्खु लहीसि ॥१४१॥ हे जीव ! तू विषयासक्त होकर कितना काल बितायेगा, अब तो निश्चल रूप शुद्धात्मा का अनुभव कर जिससे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा । शुद्धात्मभावना से उत्पन्न वीतराग परमानन्द प्रवाही पारमार्थिक सुख के अनुभव से रहित, विषयों में आसक्त होकर हे जीव ! तू कितना समय यों ही बहिर्मुखी होकर बिताएगा ? 'तो क्या करूँ' इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं – शिव

शब्द से वाच्य जो यह केवलज्ञानदर्शनरूप स्वकीय शुद्धात्मा है, उसका संसर्ग कर। किस प्रकार से ? घोर उपसर्ग और परीषहों की विद्यमानता में भी मेरु के समान निश्चल आत्मध्यान को धारण कर, जिससे नियम से अनन्तज्ञानादि गुणों के आस्पद मोक्ष को प्राप्त करेगा, यह तात्पर्य है ॥१४१॥

अथ शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मसंसर्गत्यागं मा कार्षीस्त्वमिति पुनरपि संबोधयति—

पुनः सम्बोधित करते हैं कि तू शिवशब्द से वाच्य स्वशुद्धात्मा के संसर्ग का त्याग मत कर—

इहु सिव-संगमु परिहरिवि गुरुवड कहिँ वि म जाहि।
जे सिव-संगमि लीण णवि दुक्खु सहंता वाहि ॥१४२॥

इमं शिवसंगमं परिहृत्य गुरुवर क्वापि मा गच्छ।
ये शिवसंगमे लीना नैव दुःखं सहमानाः पश्य ॥१४२॥

इहु इत्यादि। इहु इमं प्रत्यक्षीभूतं **सिवसंगमु** शिवसंसर्गं शिवशब्दवाच्योऽनन्त ज्ञानादिस्वभावः स्वशुद्धात्मा तस्य रागादिरहितं संबन्धं **परिहरिवि** परिहृत्य त्यक्त्वा **गुरुवड** हे तपोधन **कहिं वि म जाहि** शुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ क्वापि गमनं मा कार्षीः। **जे सिवसंगमि लीण णवि** ये केचन विषयकषायाधीनतया शिवशब्दवाच्ये स्वशुद्धात्मनि लीनास्तन्मया न भवन्ति **दुक्खु सहंता वाहि** व्याकुलत्वलक्षणं दुःखं सहमानास्सन्तः पश्येति। अत्र स्वकीयदेहे निश्चयनयेन तिष्ठति योऽसौ केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितः परमात्मा स एव शिवशब्दत्वेन सर्वत्र ज्ञातव्यो नान्यः कोऽपि शिवनामा व्याप्येको जगत्कर्तेति भावार्थः ॥१४२॥

गुरुवड ! इहु सिवसंगमु परिहरिवि कहिं वि म जाहि। जे सिवसंगमि णवि लीण दुक्खु सहंता वाहि ॥१४२॥ हे तपोधन ! शिवसंगम स्वशुद्धात्मा को छोड कर तू कहीं मत जा। जो निज स्वभाव में लीन नहीं होते हैं, वे दुःख सहन करते हैं, ऐसा तू देख ! **भावार्थ–**हे तपोधन ! इस प्रत्यक्षभूत शिवशब्द से वाच्य अनन्त ज्ञानादि स्वभाव स्वशुद्धात्मा के रागादिरहित सम्बन्ध को छोड़ कर तू शुद्धात्मभावना के प्रतिपक्षी मिथ्यात्वरागादि भावों में गमन मत कर। जो कोई अज्ञानी जीव विषयकषायों की आधीनता वश स्वशुद्धात्मा में लीन नहीं होते हैं उन्हें तू दुःख सहन करते हुए ही देख। यहाँ अभिप्राय यह है कि निजदेह में निश्चयनय से जो रह रहा है, वह केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित परमात्मा ही 'शिव' शब्द से जानना चाहिए, अन्य कोई शिव नाम का जगत्कर्त्ता (नैयायिक वैशेषिकों की मान्यता वाला) नहीं है ॥१४२॥

अथ सम्यक्त्वदुर्लभत्वं दर्शयति—

अब सम्यक्त्व की दुर्लभता दर्शाते हैं—

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायरु वि अणंतु।
जीविं विण्णि ण पत्ताइँ जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥१४३॥

काल: अनादि: अनादि: जीव: भवसागरोऽपि अनन्त: ।
जीवेन द्वे न प्राप्ते जिन: स्वामी सम्यक्त्वम् ।।१४३।।

कालु इत्यादि । **कालु अणाइ** गतकालो अनादि: **अणाइ जिउ** जीवोऽप्यनादि: **भवसायरु वि अणंतु** भव: संसारस्य एव समुद्र: सोऽप्यनादिरनन्तश्च । **जीविं बिण्णि ण पत्ताइं** एवमनादिकाले मिथ्यात्वरागाद्यधीनतया निजशुद्धात्मभावनाच्युतेन जीवेन द्वयं न लब्धम् । द्वयं किम् । **जिणु सामिउ सम्मत्तु** अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित: क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितो जिनस्वामी परमाराध्य: **'सिवसंगमु सम्मत्तु'** इति पाठान्तरे स एव शिवशब्दवाच्यो न चान्य: पुरुषविशेष:, सम्यक्त्वशब्देन तु निश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वम्, व्यवहारेण तु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसद्द्रव्यादिश्रद्धानरूपं सरागसम्यक्त्वं चेति भावार्थ: ।।१४३।।

कालु अणाइ, जिउ अणाइ, भवसायरु वि अणंतु । जीविं जिणु सामिउ सम्मत्तु बिण्णि ण पत्ताइँ ।।१४३।। काल अनादि है और जीव भी अनादि है, संसारसमुद्र भी अनन्त है किन्तु इस जीव ने आज तक जिनस्वामी और सम्यक्त्व इन दो को प्राप्त नहीं किया है । **भावार्थ**–काल, जीव और संसार ये तीनों अनादि हैं । इस अनादि संसार में मिथ्यात्वरागादि की आधीनता से निजशुद्धात्मा की भावना से च्युत हुए जीव ने दो चीजे प्राप्त नहीं की—जिनस्वामी और सम्यक्त्व । अनन्तज्ञानादि चतुष्टय सहित क्षुधादि अठारह दोषों से रहित परमाराध्य जिनेन्द्र की प्राप्ति नही हुई—'सिवसगमु सम्मत्तु' यह पाठान्तर होने पर शिव शब्द से वाच्य वह जिनस्वामी ही है, अन्य कोई पुरुपविशेप नही है । सम्यक्त्व शब्द का अभिप्राय है—निश्चय से शुद्धात्मानुभूति लक्षणरूप वीतरागसम्यक्त्व और व्यवहार से वीतरागसर्वज्ञप्रणीत सद्द्रव्यादि श्रद्धानरूप सरागसम्यक्त्व । ऐसा सम्यक्त्व नही हुआ, सम्यक्त्व होवे तो परमात्मा का भी परिचय होवे ।।१४३।।

अथ शुद्धात्मसंवित्तिसाधकतपश्चरणप्रतिपक्षभूतं गृहवासं दूषयति—

अब शुद्धात्मज्ञान के साधक तपश्चरण के प्रतिपक्षी गृहवास को दोष देते हैं—

घर-वासउ मा जाणि जिय दुक्किय-वासउ एहु ।
पासु कयंतेँ मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ।।१४४।।

गृहवास मा जानीहि जीव दुष्कृतवास एष: ।
पाश: कृतान्तेन मण्डित: अविचल: निस्सन्देहम् ।।१४४।।

घरवासउ इत्यादि । **घरवासउ** गृहवासम् अत्र गृहशब्देन वासमुख्यभूता स्त्री ग्राह्या । तथा चोक्तम्–**"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।" मा जाणि जिय** हे जीव त्वमात्महितं मा जानीहि । कथंभूतो गृहवास: । **दुक्कियवासउ एहु** समस्तदुष्कृतानां पापानां वास: स्थानमेष:, **पासु कयंतें मंडियउ** अज्ञानिजीवबन्धनार्थं पाशो

मण्डित । केन । कृतान्तनाम्ना कर्मणा । कथभूत । **अविचलु** शुद्धात्मतत्त्वभावना-प्रतिपक्षभूतेन मोहवन्धनेनावद्धत्वादविचल **णिस्सदेहु** सदेहो न कर्तव्य इति । अयमत्र भावार्थ । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मपदार्थभावनाप्रतिपक्षभूतै कपायेन्द्रियै व्याकुलीक्रियते मन , मन शुद्धयभावे गृहस्थाना तपोधनवत् शुद्धात्मभावना कर्तुं नायातीति । तथा चोक्तम्—**"कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैर्व्याकुलीक्रियते मनः । यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिभिः ।।"** ।।१४४।।

जिय ! घरवासउ मा जाणि, एहु दुक्किय वासउ । कयंतें मडियउ पासु अविचलु णिस्सदेहु ।।१४४।। हे जीव ! तू इसको गृहवास मत जान ! यह दुष्कृतवास है यानी पाप का स्थान है। यमराज के द्वारा मण्डित यह पाश बहुत मजबूत है, इसमे कोई मन्देह नही है। यहाँ 'गृह' (घर) शब्द से मुख्यरूप मे 'स्त्री' ग्रहण करनी चाहिए। कहा भी है—घर को घर मत जानो, गृहिणी ही घर कही जाती है। हे जीव ! तू इस गृहवास को आत्महितकारी मत समझ। कैसा है यह गृहवास ? यह पापों का स्थान है। अज्ञानी जीवो को बाँधने के लिए बनाया गया पाश है। किसने बनाया है ? कृतान्त रूपी कर्मो ने शुद्धात्मतत्त्वभावना के प्रतिपक्षी मोहनामक बन्धनो से यह दृढ पाश बनाया है, इसमे कोई सन्देह नही है। **भावार्थ**-विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावरूप परमात्मपदार्थ की भावना के प्रतिपक्षी कपायो और इन्द्रियविपयो से मन व्याकुल होता है। मन शुद्धि के अभाव मे गृहस्थो को तपोवन के समान शुद्धात्मभावना करनी नही आती। कहा भी है—"दुष्ट कपायो और इन्द्रियो से मन व्याकुल होता है। अत गृहस्थ आत्मभावना नही कर पाते" ।।१४४।।

अथ गृहममत्वत्यागानन्तर देहममत्वत्याग दर्शयति—

अब घर की ममता का त्याग कराने के बाद देह के ममत्व का त्याग दर्शाते हैं—

देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहिँ अप्पणउ किं अण्णु ।
पर-कारणि मण गुरुव तुहुँ सिव-संगमु अवगण्णु ।।१४५।।

देहोऽपि यत्र नात्मीय तत्रात्मीय किमन्यत् ।
परकारणे मा मुह्य (?) त्व शिवसगम अवगण्य ।।१४५।।

देहु वि इत्यादि । **देहु वि जित्थु ण अप्पणउ** देहोऽपि यत्र नात्मीय **तहिं अप्पणउ किं अण्णु** तत्रात्मीयाः किमन्ये पदार्था भवन्ति, किं तु नैव । एव ज्ञात्वा **परकारणि** परस्य देहस्य वहिर्भूतस्य स्त्रीवस्त्राभरणोपकरणादिग्रहनिमित्तेन **मण गुरुव तुहु सिवसंगमु अवगण्णु** हे तपोधन शिवशब्दवाच्यशुद्धात्मभावनात्याग मा कार्षीरिति । तथाहि । अमूर्तेन वीतरागस्वभावेन निजशुद्धात्मना सह व्यवहारेण क्षीरनीरवदेकीभूत्वा तिष्ठति योऽसौ देह सोऽपि जीवस्वरूप न भवति इति ज्ञात्वा वहि पदार्थे ममत्व त्यक्त्वा

शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्राय: ।।१४५।।

जित्थु देहु वि अप्पणउ ण तहिँ किं अण्णु अप्पणउ । तुहुँ सिवसंगमु अवगण्णु परकारणि मण गुरुव ।।१४५।। जिस संसार में शरीर भी अपना नहीं है, वहाँ क्या और कोई अपना हो सकता है ? अत: तू शिवसंगम को छोड़ कर अन्य कारणों में मोह मत कर । 'जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय' यह जान कर देहवाह्य स्त्री-वस्त्र-आभरण-उपकरण आदि के निमित्त से हे तपोधन ! तू शुद्धात्मभावना का त्याग मत कर । **भावार्थ–**अमूर्त वीतराग स्वभाव वाले निजशुद्धात्मा के साथ व्यवहारनय से दूध-पानी की तरह एकमेक होकर रहने वाला यह शरीर भी जब जीव का स्वरूप नहीं है तो अन्य पदार्थ कैसे अपने हो सकेंगे । यह जानकर बाह्य पदार्थों में ममता का त्याग कर शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित हो कर सब प्रकार से शुद्धोपयोग की भावना ही करनी चाहिए ।।१४५।।

अथ तमेवार्थं पुनरपि प्रकारान्तरेण व्यक्तीकरोति—

अव इसी अर्थ को अन्य विधि से व्यक्त करते हैं—

करि सिव-संगमु एक्कु पर जहिँ पाविज्जइ सुक्खु ।
जोइय अण्णु म चिंति तुहुं जेण ण लब्भइ मुक्खु ।।१४६।।

कुरु शिवसंगमं एक परं यत्र प्राप्यते सुखम् ।
योगिन् अन्यं मा चिन्तय त्वं येन न लभ्यते मोक्ष: ।।१४६।।

करि इत्यादि । **करि** कुरु । कम् । **सिवसंगमु** शिवशब्दवाच्यशुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मभावनासंसर्गं **एक्कु पर** तमेवैकं **जहिं पाविज्जइ सुक्खु** यत्र स्वशुद्धात्मसंसर्गे प्राप्यते । किम् । अक्षयानन्तसुखम् । **जोइय अण्णु म चिंति तुहुं** हे योगिन् स्वभावत्वादन्यचिन्तां मा कार्षीस्त्वं **जेण ण लब्भइ** येन कारणेन बहिश्चिन्तया न लभ्यते । कोऽसौ । **मुक्खु** अव्याबाधसुखादिलक्षणो मोक्ष इति तात्पर्यम् ।।१४६।।

जोइय ! तुहुँ एक्कु सिवसंगमु पर करि, जहिं सुक्खु पाविज्जइ । अण्णु म चिंति, जेण मुक्खु ण लब्भइ ।।१४६।। हे योगी ! तू एक निजशुद्धात्मा की भावना ही कर जिससे तुझे सुख प्राप्त हो, अन्य कुछ भी चिन्तन मत कर जिससे कि मोक्ष की प्राप्ति न हो । **भावार्थ–**शुद्धबुद्धैक स्वभाव निज शुद्धात्मा की भावना ही करने योग्य है, उसी से अक्षय अनन्त मोक्ष सुख प्राप्त होगा । अपने स्वभाव से अन्य किसी प्रकार की चिन्ता नही करनी चाहिए क्योंकि वाह्य चिन्ताओं से अव्यावाध अनन्तसुखरूप मोक्ष नही मिलता ।।१४६।।

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहितं मनुष्यजन्म निस्सारमिति निश्चिनोति—

अव कहते है कि भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से रहित मनुष्य-जन्म निरर्थक है—

वलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ।।१४७।।

वलिः क्रियते मनुष्यजन्म पश्यता परं सारम् ।
यदि अवष्टभ्यते ततः क्वथति अथ दह्यते तर्हि क्षारः ।।१४७।।

वलि किउ इत्यादि । **वलि किउ** वलिः क्रियते मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियते । किम् । **माणुसजम्मडा** मनुष्यजन्म । किंविशिष्टम् । **देक्खंतहँ पर सारु** बहिर्भागे व्यवहारेण पश्यतामेव सारभूतम् । कस्मात् । **जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ** यद्यवष्टभ्यते भूमौ निक्षिप्यते ततः कुत्सितरूपेण परिणमति । **अह डज्झइ तो छारु** अथवा दह्यते तर्हि भस्म भवति । तद्यथा । हस्तिशरीरे दन्ताश्चमरीशरीरे केशा इत्यादि सारत्वं तिर्यक्शरीरे दृश्यते, मनुष्यशरीरे किमपि सारत्वं नास्तीति ज्ञात्वा घुणभक्षितेक्षुदण्डवत्-परलोकवीजं कृत्वा निस्सारमपि सारं क्रियते । कथमिति चेत् । यथा घुणभक्षितेक्षुदण्डे बीजे कृते सति विशिष्टेक्षूणां लाभो भवति तथा निःसारशरीराधारेण वीतरागसहजानन्दैकस्वशुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयभावनावलेन तत्साधकव्यवहाररत्नत्रयभावनावलेन च स्वर्गापवर्गफलं गृह्यत इति तात्पर्यम् ।।१४७।।

माणुस-जम्मडा वलि किउ, देक्खंतहँ पर सारु । जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ।।१४७।। इस मनुष्य-जन्म को मस्तक के ऊपर वार डालो, यह देखने में ही सार दिखाई देता है । जो इसे भूमि में गाड दो तो यह सड जावे और यदि जला दो तो राख हो जावे । यह मनुष्यदेह व्यवहारनय से सारभूत दिखाई देती है परन्तु विचार करने पर कुछ भी इसमे सारभूत नही है । तिर्यञ्चो के शरीर में तो फिर भी कुछ सारभूत है जैसे—हाथी के शरीर में दाँत सार है, चमरी गाय के शरीर मे केश सार है परन्तु इस मनुष्य के शरीर में तो कुछ भी सार नही है । यह जान कर घुन खाये हुए इक्षुदण्ड के समान इसे परलोक का बीज बना कर इस निस्सार को भी सारवान बना लेना चाहिए । कैसे ? जैसे—घुन से खाये हुए ईख (गन्ना) को बोने से अनेक ईखों का लाभ होता है वैसे ही इस असार शरीर के आधार से वीतराग परमानन्द शुद्धात्मस्वभाव के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना के बल से और उसकी साधक व्यवहार रत्नत्रय की भावना के बल से स्वर्ग मिलता है और परम्परा से मोक्ष होता है, यह तात्पर्य है ।।१४७।।

अथ देहस्याशुचित्वानित्यत्वादिप्रतिपादनरूपेण व्याख्यानं करोति षट्कलेन तथाहि—

अब देह की अनित्यता और अपवित्रता का छह दोहों में व्याख्यान करते हैं—

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु मिट्ठाहार ।
देहहँ सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार ।।१४८।।

उद्वर्तय म्रक्षय चेष्टां कुरु देहि सुमृष्टाहारान्।
देहस्य सकलं निरर्थं गतं यथा दुर्जने उपकाराः ॥१४८॥

उव्वलि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **उव्वलि** उद्वर्तनं कुरु **चोप्पडि** तलादिम्रक्षणं कुरु, **चिट्ठ करि** मण्डनरूपां चेष्टां कुरु, **देहि सुमिट्ठाहार** देहि सुमृष्टाहारान्। कस्य। **देहहं** देहस्य। **सयल णिरत्थ गय** सकला अपि विशिष्टाहारादयो निरर्थका गताः। केन दृष्टान्तेन। **जिमु दुज्जणि उवयार** दुर्जने यथोपकारा इति। तद्यथा। यद्यप्ययं कायः खलस्तथापि किमपि ग्रासादिकं दत्त्वा अस्थिरेणापि स्थिरं मोक्षसौख्यं गृह्यते। सप्तधातुमयत्वेनाशुचिभूः तेनापि शुचिभूतं शुद्धात्मस्वरूपं गृह्यते। निर्गुणेनापि केवलज्ञानादिगुणसमूहः साध्यत इति भावार्थः। तथा चोक्तम्—**"अथिरेण थिरा मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारं। काएण जा विढप्पइ सा किरिया किं ण कायव्वा॥"** ॥१४८॥[1]

देहहँ उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि, सु मिट्ठाहार देहि, सयल णिरत्थ गय, जिम दुज्जणि उवयार ॥१४८॥ इस शरीर का उवटन करो, तैलादि का मर्दन करो, शृंगार करो, इसे मिष्ट आहार दो, लेकिन जैसे दुर्जन का उपकार करना व्यर्थ है, वैसे ही इसके प्रति किये गये वे सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। भावार्थ-यद्यपि यह काया दुर्जन है फिर भी इसे कुछ ग्रासादि (अल्प भोजन) देकर इस अस्थिर अनित्य देह से भी स्थिर मोक्षसुख का साधन किया जा सकता है। सप्तधातुमयी यह शरीर अपवित्र है, फिर भी इससे पवित्र शुद्धात्मस्वरूप उपलब्ध किया जा सकता है। इस निर्गुण शरीर से केवलज्ञानादि गुणों का समूह सिद्ध किया जा सकता है। कहा भी है—"इस क्षणभंगुर शरीर से स्थिर पद मोक्ष की सिद्धि करनी चाहिए, इस मलिन शरीर से निर्मल वीतराग की, इस निर्गुण (गुणहीन) से सारभूत (ज्ञानादि) गुणों की सिद्धि करना योग्य है। इस शरीर से तप-सयमादि का साधन होता है और तप-संयमादि से सारभूत गुणों की सिद्धि होती है अतः जिस क्रिया से ऐसे गुणों की सिद्धि हो वह क्रिया क्यों नहीं करनी चाहिए, अपितु अवश्य करनी चाहिए॥" ॥१४८॥

जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ जोइय काउ।
णरइ णिरंतरु पूरियउ किम किज्जइ अणुराउ ॥१४९॥

यथा जर्जरं नरकगृहं तथा योगिन् कायः।
नरके निरन्तरं पूरितं कि क्रियते अनुरागः ॥१४९॥

जेहउ इत्यादि। **जेहउ जज्जरु** यथा जर्जरं शतजीर्णं **णरयघरु** नरकगृहं **तेहउ जोइउ काउ** तथा हे योगिन् कायः। यतः किम्। **णरइ णिरंतरु पूरियउ** नरके निरन्तरं

1. नामसिंह : दोहापाहुड १९।

पूरितम् । एवं ज्ञात्वा **किम किज्जइ अणुराउ** कथं क्रियते अनुरागो न कथमपीति । तद्यथा–यथा नरकगृहं शतजीर्णं तथा कायगृहमपि नवद्वारच्छिद्रितत्वात् शतजीर्णं, परमात्मा तु जन्मजरामरणादिच्छिद्रदोषरहितः । कायस्तु गूथमूत्रादिनरकपूरितः, भगवान् शुद्धात्मा तु भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहित इति । अयमत्र भावार्थः । एवं देहात्मनो भेदं ज्ञात्वा देहममत्वं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति ।।१४९।।

जोइय ! जेहउ जज्जरु णरयघरु तेहउ काउ णरइ णिरंतरु पूरियउ अणुराउ किं किज्जइ ।।१४९।। हे योगी ! जैसे सैकड़ों छिद्रो वाला नरक घर है, वैसे ही यह शरीर भी है । मल-मूत्रादि से हमेशा भरा हुआ है, ऐसे शरीर से क्या अनुराग करना । यह प्रीति करने योग्य नही है । जैसे नरक का घर सैकड़ों छिद्रो मे जीर्ण है वैसे ही यह काया रूपी घर नवद्वारो के कारण जीर्ण है । परमात्मा तो जन्म-जरा-मरणादि रूप छिद्र-दोपो से रहित है । काया तो मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थो से पूरित है, जबकि भगवान शुद्धात्मा भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म मल से रहित है । देह और आत्मा का यह भेद जान कर देह की ममता छोडकर वीतरागनिर्विकल्पसमाधि मे स्थित होकर निरन्तर शुद्धात्मा की भावना ही करनी चाहिए ।।१४९।।

दुक्खइँ पावइँ असुचियइँ ति-हुयणि सयलइँ लेवि ।
एयहिँ देहु विणिम्मियउ विहिणा वइरु मुणेवि ।।१५०।।

दु.खानि पापानि अशुचीनि त्रिभुवने सकलानि लात्वा ।
एतै· देह· विनिर्मित. विधिना वैरं मत्वा ।।१५०।।

दुक्खइं इत्यादि । **दुक्खइँ** दु.खानि **पावइं** पापानि **असुचियइं** अशुचिद्रव्याणि **तिहुयणि सयलइँ लेवि** भुवनत्रयमध्ये समस्तानि गृहीत्वा **एयहिं देहु विणिम्मियउ** एतैर्देहो विनिर्मितः । केन कर्तृभूतेन । **विहिणा** विधिशब्दवाच्येन कर्मणा । कस्मादेवंभूतो देहः कृतः **वइरु मुणेवि** वैरं मत्वेति । तथाहि । त्रिभुवनस्थदु·खैर्निर्मितत्वात् दु·खरूपोऽयं देहः, परमात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वादनाकुलत्वलक्षणसुखस्वभाव· । त्रिभुवनस्थपापैर्निर्मितत्वात् पापरूपोऽय देहः, शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन पापरूपदेहाद्भिन्नत्वादत्यन्तपवित्रः । त्रिभुवनस्थाशुचिद्रव्यैर्निर्मितत्वादशुचिरूपोऽय देहः, शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन देहात्पृथग्भूतत्वादत्यन्तनिर्मल इति । अत्रैव देहेन सह शुद्धात्मनो भेद ज्ञात्वा निरन्तर भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ।।१५०।।

तिहुयणि दुक्खइँ पावइँ असुचियइँ सयलइँ लेवि एयहि विहिणा वइरु मुणेवि देहु विणिम्मियउ ।।१५०।। तीनो लोको मे जितने दु.ख, पाप और अशुचि पदार्थ है उन सबको लेकर इनसे विधि

(कर्मों) ने वैर मान कर यह शरीर निर्मित किया है। तीन लोक में जितने भी दुःख हैं उनसे निर्मित यह देह दुःखरूप ही है। परमात्मा तो व्यवहारनय से देह में स्थित है, निश्चयनय से देह से भिन्न निराकुल लक्षण वाला सुखरूप है। त्रिभुवन में जितने पाप है उन पापों से निर्मित यह देह पापरूप ही है, शुद्धात्मा तो व्यवहारनय से देह में स्थित है, निश्चयनय से तो यह पापरूपदेह से भिन्न अत्यन्त पवित्र है। तीनों लोकों के अशुचिपदार्थो से निर्मित यह देह अशुचि ही है, शुद्धात्मा तो व्यवहारनय से इस देह में स्थित है, निश्चयनय से तो वह देह से पृथग्भूत अत्यन्त निर्मल है। इस प्रकार देह और शुद्धात्मा का भेद जानकर निरन्तर शुद्धात्मा की भावना ही करनी चाहिए—यह **भावार्थ**–है ॥१५०॥

जोइय देहु घिणावणउ लज्जहि किं ण रमंतु।
णाणिय धम्में रइ करहि अप्पा विमलु करंतु ॥१५१॥

योगिन् देहः घृणास्पदः लज्जसे किं न रममाणः।
ज्ञानिन् धर्मेण रतिं कुरु आत्मानं विमलं कुर्वन् ॥१५१॥

जोइय इत्यादि। **जोइय** हे योगिन् **देहु घिणावणउ** देहो घृणया दुगुञ्छया सहितः। **लज्जहि किं ण रमंतु** दुगुञ्छारहितं परमात्मानं मुक्त्वा देहं रममाणो लज्जां किं न करोषि। तर्हि किं करोमीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति। **णाणिय** हे विशिष्टभेदज्ञानिन् **धम्मिं** निश्चयधर्मशब्दवाच्येन वीतरागचारित्रेण कृत्वा **रइ करहि** रतिं प्रीतिं कुरु। किं कुर्वन् सन्। **अप्पा** वीतरागसदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं **विमलु करंतु** आर्तरौद्रादिसमस्तविकल्पत्यागेन विमलं निर्मलं कुर्वन्निति तात्पर्यम् ॥१५१॥

जोइय! देहु घिणावणउ, रमंतु किं ण लज्जहि, णाणिय! अप्पा विमलु करंतु धम्में रइ करहि ॥१५१॥ हे योगी! यह शरीर घिनौना है, इसमें रमते हुए तुझे लज्जा क्यों नहीं आती? हे ज्ञानी! तू आत्मा को निर्मल बनाते हुए धर्म में प्रीति कर। **भावार्थ**–हे योगी! तू आर्तरौद्रादि समस्त विकल्पों का त्याग कर आत्मा को निर्मल करते हुए वीतरागसदानन्दैकस्वभावरूप परमात्मा से प्रीति कर ॥१५१॥

जोइय देहु परिच्चयहि देहु ण भल्लउ होइ।
देह-विभिण्णउ णाणमउ सो तुहुँ अप्पा जोइ ॥१५२॥

योगिन् देहं परित्यज देहो न भद्रः भवति।
देहविभिन्नं ज्ञानमयं तं त्वं आत्मानं पश्य ॥१५२॥

जोइय इत्यादि। **जोइय** हे योगिन् **देहु परिच्चयहि** शुचिदेहान्नित्यानन्दैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणं देहं परित्यज। कस्मात्। **देहु ण भल्लउ होइ** देहो भद्रः समीचीनो न भवति। तर्हि किं करोमीति प्रश्ने कृते प्रत्युत्तर ददाति। **देह-विभिण्णउ** देहविभिन्नं **णाणमउ** ज्ञानेन निर्वृत्तं केवलज्ञानाविनाभूतानन्तगुणमयं **सो तुहुं अप्पा जोइ**

तं पूर्वोक्तलक्षणमात्मानं त्वं कर्ता पश्येति । अयमत्र भावार्थः । **"चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ । दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ।।"** इति गाथाकथितलक्षणा कृष्णलेश्या, धनधान्यादितीव्रमूर्च्छाविषयाकांक्षादिरूपा नीललेश्या, रणे मरणं प्रार्थयति स्तूयमानः संतोषं करोतीत्यादिलक्षणा कापोतलेश्या च, एवं लेश्या-त्रयप्रभृतिसमस्तविभावत्यागेन देहाद्भिन्नमात्मानं भावय इति ।।१५२।।

जोइय ! देहु परिच्चयहि, देहु भल्लउ ण होइ । देह विभिण्णउ णाणमउ सो अप्पा तुहुँ जोइ ।।१५२।। हे योगी ! इस शरीर का अनुराग त्याग दे क्योंकि यह शरीर भद्र नहीं है । अतः देह से भिन्न ज्ञानादि गुणमय ऐसे आत्मा को तू देख । नित्यानन्द, अखण्डस्वभाव शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न दुःख के मूल इस अशुचि शरीर से प्रीति का त्याग कर और देह से भिन्न ज्ञानमय, केवलज्ञानादि अनन्त गुणमय पूर्वोक्त लक्षणवाले आत्मा को तू जान । खोटी लेश्याओं का त्याग कर—"**कृष्णलेश्या** का धारक वह होता है जो तीव्र क्रोध करता है, शत्रुता को नहीं छोड़ता है, लडना जिसका स्वभाव हो जाता है, जो धर्म और दया से रहित है, दुष्ट है, और जो किसी के भी वश में नहीं आता है ।" धन-धान्यादि में तीव्र आसक्ति रखने वाले और विषयाभिलाषी पुरुष के **नील लेश्या** होती है । **कापोत-लेश्या** वाला पुरुष रण में मरना चाहता है, स्तुति करने से अति प्रसन्न होता है । इस प्रकार इन तीन लेश्यादि समस्त विभाव भावों का त्याग कर देह से भिन्न निज स्वरूप की भावना कर ।।१५२।।

दुक्खहँ कारणु मुणिवि मणि देहु वि एहु चयंति ।
जित्थु ण पावहिँ परमसुहु तित्थु कि संत वसंति ।।१५३।।

दुःखस्य कारणं मत्वा मनसि देहमपि इमं त्यजन्ति ।
यत्र न प्राप्नुवन्ति परमसुखं तत्र किं सन्तः वसन्ति ।।१५३।।

दुक्खहं इत्यादि । **दुक्खहं कारणु** वीतरागतात्त्विकानन्दरूपात् शुद्धात्मसुखाद्वि-लक्षणस्य नारकादिदुःखस्य कारणं **मुणिवि** मत्वा । क्व । **मणि** मनसि । कम् । **देहु वि** देहमपि **एहु** इमं प्रत्यक्षीभूतं **चयंति** देहममत्वं शुद्धात्मनि स्थित्वा त्यजन्ति **जित्थु ण पावहिं** यत्र देहे न प्राप्नुवन्ति । किम् । **परमसुहु** पञ्चेन्द्रियविषयातीतं शुद्धात्मानुभूति-संपन्नं परमसुखं **तित्थु कि संत वसंति** तत्र देहे सन्तः सत्पुरुषाः किं वसन्ति शुद्धात्मसुख-संतोषं मुक्त्वा तत्र किं रतिं कुर्वन्ति इति भावार्थः ।।१५३।।

दुक्खहँ कारणु एहु देहु वि मणि मुणिवि चयंति जित्थु परमसुहु ण पावहिं तित्थु कि संत वसंति ।।१५३।। ज्ञानी जीव इस देह को मन में दुःख का कारण मानकर इससे ममता छोड देते हैं । जिस देह में उत्तम सुख की प्राप्ति नहीं होती क्या सन्त पुरुष उसमें रह सकते हैं ? वीतराग परमानन्द-रूप जो आत्मसुख उससे विपरीत नरकादि के दुःख, उनका कारण यह शरीर, उसे बुरा समझ कर

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५०८ ।

ज्ञानी जीव देह से ममत्व छोड़ देते हैं। क्यों? क्योंकि जिस देह से पंचेन्द्रियविषयातीत शुद्धात्मानुभूति सम्पन्न परमसुख की प्राप्ति नहीं होती है, सत्पुरुष उस देह में कैसे रह सकते हैं अर्थात् शुद्धात्मा की उपलब्धि से प्राप्त सुख-सन्तोष को छोड़कर उसमें रति कैसे कर सकते हैं, यह भावार्थ है ॥१५३॥

अथात्मायत्तसुखे रतिं कुर्विति दर्शयति—

अब कहते हैं कि आत्म-सुख में प्रीति करो—

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु।
पर सुहु वढ चिंततांहँ हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥१५४॥

आत्मायत्तं यदेव सुखं तेनैव कुरु संतोषम्।
परं सुखं वत्स चिन्तयतां हृदये न नश्यति शोषः ॥१५४॥

अप्पायत्तउ इत्यादि। **अप्पायत्तउ** अन्यद्रव्यनिरपेक्षत्वेनात्माधीनं **जं जि सुहु** यदेव शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नं सुखं **तेण जि करि संतोसु** तेनैव तदनुभवेनैव संतोषं कुरु **पर सुहु वढ चिंततांहं** इन्द्रियाधीनं परसुखं चिन्तयतां वत्स मित्र **हियइ ण फिट्टइ सोसु** हृदये न नश्यति शोषोऽन्तर्दाह इति। अत्राध्यात्मरतिः स्वाधीना विच्छेदविघ्नौघरहिता च, भोगरतिस्तु पराधीना वह्नेरिन्धनैरिव समुद्रस्य नदीसहस्रैरिवातृप्तिकरा च। एवं ज्ञात्वा भोगसुखं त्यक्त्वा "**एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होदि णिच्चमेदम्हि। एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सुक्खं।।**"[१] इति गाथाकथितलक्षणे अध्यात्मसुखे स्थित्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यम्। तथा चोक्तम्—"**तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं। ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं।।**" अध्यात्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते—मिथ्यात्वविषयकषायादिबहिर्द्रव्ये निरालम्बनत्वेनात्मन्यनुष्ठानमध्यात्मम् ॥१५४॥

वढ! जं जि अप्पायत्तउ सुहु तेण जि संतोसु करि। परसुहु चिंततांहँ हियइ सोसु ण फिट्टइ ॥१५४॥ हे वत्स! जो आत्माधीन स्वाधीन अन्य द्रव्यनिरपेक्ष सुख है, उसी में सन्तोष कर। इन्द्रियाधीन-पराधीन सुख का चिन्तन करने वालों के चित्त का दाह नहीं मिटता। जो अध्यात्म की प्रीति है, वह स्वाधीन है और विच्छेद व विघ्नों से रहित है, भोगों की रति तो पराधीनता है। भोगों को भोगने कभी तृप्ति नहीं होती, जैसे अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती और हजारों नदियों से भी समुद्र तृप्त नहीं होता। यह जानकर भोगसुखों को छोड़कर अध्यात्म सुख में स्थित होकर शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिए—"हे जीव! तू इस आत्मस्वरूप में ही सदा लीन हो और इसी में सन्तुष्ट हो। इसी से तू तृप्त होगा और इसी से ही तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।" और भी कहा है—"जैसे

१. कुन्दकुन्द : समयसार २०६।

तृण-काष्ठ आदि से अग्नि तृप्त नहीं होती और हजारों नदियों से लवणसमुद्र तृप्त नहीं होता, उसी तरह यह जीव काम-भोगों से कभी तृप्त नहीं होता।" **अध्यात्म** शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— मिथ्यात्व विषयकषाय आदि बाह्य पदार्थों का अवलम्बन छोड़ना और आत्मा में तल्लीन होना अध्यात्म है ॥१५४॥

अथात्मनो ज्ञानस्वभावं दर्शयति—

अब आत्मा का ज्ञानस्वभाव दर्शाते हैं—

अप्पहँ णाणु परिच्चयवि अण्णु ण अत्थि सहाउ ।
इउ जाणेविणु जोइयहु परहँ म बंधउ राउ ॥१५५॥

आत्मनः ज्ञानं परित्यज्य अन्यो न अस्ति स्वभावः ।
इदं ज्ञात्वा योगिन् परस्मिन् मा बधान रागम् ॥१५५॥

अप्पहं इत्यादि । **अप्पहं** शुद्धात्मनः **णाणु परिच्चयवि** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं त्यक्त्वा **अण्णु ण अत्थि सहाउ** अन्यो ज्ञानाद्विभिन्नः स्वभावो नास्ति **इउ जाणेविणु** इदमात्मनः शुद्धात्मज्ञानं स्वभावं ज्ञात्वा **जोइयहु** योगिन् **परहं म बंधउ राउ** परस्मिन् शुद्धात्मनो विलक्षणे देहे रागादिकं मा कुरु तस्मात् । अत्रात्मनः शुद्धात्मज्ञानस्वरूपं ज्ञात्वा रागादिकं त्यक्त्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥१५५॥

अप्पहँ णाणु परिच्चयवि अण्णु सहाउ ण अत्थि । इउ जाणेविणु जोइयहु परहँ राउ म बंधउ ॥१५५॥ शुद्धात्मा के वीतरागस्वसंवेदनज्ञान को छोड़कर ज्ञान से भिन्न आत्मा का दूसरा कोई स्वभाव नहीं है। आत्मा के इस शुद्धात्मज्ञान स्वभाव को जानकर हे योगी! शुद्धात्मा से भिन्न देहादि में तू रागादि मत कर। भावार्थ–आत्मा के शुद्धज्ञानस्वरूप को जानकर रागादि का परित्याग करके निरन्तर आत्मा की ही भावना करनी चाहिए ॥१५५॥

अथ स्वात्मोपलम्भनिमित्तं चित्तस्थिरीकरणरूपेण परमोपदेशं पञ्चकलेन दर्शयति—

अब आत्मोपलब्धिनिमित्त चित्त को स्थिर करने रूप परमोपदेश पाँच गाथाओं में श्रीगुरु दर्शाते हैं—

विसय-कसायहिँ मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु ।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु ॥१५६॥

विषयकषायैः मनःसलिलं नैव क्षुभ्यति यस्य ।
आत्मा निर्मलो भवति लघु वत्स प्रत्यक्षोऽपि तस्य ॥१५६॥

विसय इत्यादि । **विसयकसायहिं मणसलिलु** ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मजलचराकीर्ण-

संसारसागरे निर्विपयकपायरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतैर्विषयकषायमहावातैर्मनःप्रचुरसलिलं **णवि डहुलिज्जइ** नैव क्षुभ्यति **जासु** यस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य **अप्पा णिम्मलु होइ लहु** आत्मा रत्नविशेषोऽनादिकालरूपमहापाताले पतितः सन् रागादिमल-परिहारेण लघु शीघ्रं निर्मलो भवति । **वढ** वत्स । न केवलं निर्मलो भवति **पच्चक्खु वि** शुद्धात्मा परम इत्युच्यते तस्य परमस्य कला अनुभूतिः परमकला एव दृष्टिः परम-कलादृष्टिः तया परमकलादृष्ट्या यावदवलोकनं सूक्ष्मनिरीक्षणं तेन प्रत्यक्षोऽपि स्वसंवेदनग्राह्योऽपि भवति । कस्य । **तासु** यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण निर्मलं मनस्तस्येति भावार्थः ॥१५६॥

जासु मणसलिलु विसय-कसायहिं णवि डहुलिज्जइ तासु अप्पा वढ ! णिम्मलु होइ लहु पच्चक्खु वि ॥१५६॥ जिसका मनरूपी जल विषय-कषायों रूपी पवन से क्षुब्ध नहीं होता है, हे वत्स ! उस भव्य जीव की आत्मा निर्मल होती है और शीघ्र ही उसे प्रत्यक्ष भी हो जाती है । ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूपी जलचर मगर-मच्छादि जल के जीवों से परिपूर्ण संसारसागर में विषयकषायरूप महा-प्रचण्ड पवन से—जो शुद्धात्मतत्त्व के विपरीत है—जिसका चित्त चलायमान नहीं हुआ, उसी का आत्मा निर्मल होता है । आत्मा रत्नविशेष है जो अनादिकाल से अज्ञानरूपी महापाताल में पड़ा है, सो रागादिमल के छोड़ने से शीघ्र ही निर्मल हो जाता है । हे वत्स ! उन भव्यजीवों का आत्मा न केवल निर्मल ही होता है अपितु शीघ्र उन्हें प्रत्यक्ष भी हो जाता है । परमकला जो आत्मा की अनुभूति, वही हुई निश्चय दृष्टि, उससे आत्मस्वरूप का अवलोकन होता है । जिसका मन विषयों में चंचल नहीं होता, उसी को आत्मा का दर्शन होता है, यह भावार्थ है ॥१५६॥

अप्पा परहँ ण मेलविउ मणु मारिवि सहस त्ति ।
सो वढ जोएँ किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥१५७॥

आत्मा परस्य न मेलितः मनो मारयित्वा सहसेति ।
स वत्स योगेन किं करोति यस्य न ईदृशी शक्तिः ॥१५७॥

अप्पा इत्यादि । **अप्पा** अयं प्रत्यक्षीभूतः सविकल्प आत्मा **परहं** ख्यातिपूजालाभ-प्रभृतिसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालरहितस्य विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनः **ण मेलविउ** न योजितः । किं कृत्वा । **मणु मारिवि** मिथ्यात्वविषयकषायादिविकल्पसमूह-परिणतं मनो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिशस्त्रेण मारयित्वा **सहस त्ति** झटिति **सो वढ जोएं किं करइ** स पुरुषः वत्स योगेन किं करोति । स कः । **जासु ण एही सत्ति** यस्येदृशी मनोमारणशक्तिर्नास्तीति तात्पर्यम् ॥१५७॥

सहसत्ति मणु मारिवि अप्पा परहँ ण मेलविउ, वढ ! जासु एही सत्ति ण सो जोएँ किं करइ ॥१५७॥ जिसने शीघ्र ही मन को वश में करके यह आत्मा परमात्मा में नहीं मिलाया, हे वत्स ! जिसकी ऐसी शक्ति नहीं है, वह योग से क्या कर सकता है ? जिसने इस प्रत्यक्षीभूत सविकल्प आत्मा

को ख्याति-पूजा-लाभादि समस्त मनोरथरूप विकल्पजाल से रहित, विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभाव वाले परमात्मा से नही जोडा। क्या करके ? मिथ्यात्वविषयकषायादि विकल्पो के समूह से परिणत मन को वीतरागनिर्विकल्पसमाधि के शस्त्र से शीघ्र ही मार कर परमात्मा से नही मिलाया, तो फिर वह योग से क्या कर सकता है ? यानी कुछ भी नहीं कर सकता। जिसमे अपने मन को मारने की शक्ति नही है वह योगी कैसा ? ।।१५७।।

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु जे झायहिँ झाणु।
वढ अण्णाण-वियंभियहँ कउ तहँ केवल-णाणु ।।१५८।।

आत्मान मुक्त्वा ज्ञानमय अन्यद् ये ध्यायन्ति ध्यानम्।
वत्स अज्ञानविजृम्भितानां कुतः तेषां केवलज्ञानम् ।।१५८।।

अप्पा इत्यादि। **अप्पा** स्वशुद्धात्मानं **मेल्लिवि** मुक्त्वा। कथंभूतमात्मानम्। **णाणमउ** सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणनिर्वृत्तं **अण्णु** अन्यद्बहिर्द्रव्यालम्बनं **जे** ये केचन **झायहिं** ध्यायन्ति। किम्। **झाणु** ध्यानं **वढ** वत्स मित्र **अण्णाणवियंभियहं** शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणाज्ञानविजृम्भितानां परिणतानां **कउ तहं केवलणाणु** कथं तेषां केवलज्ञानं किंतु नैवेति। अत्र यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकषायरूपदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति तथापि निश्चयध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव इति भावार्थः ।।१५८।।

णाणमउ अप्पा मेल्लिवि अण्णु जे झाणु झायहिं। वत्स ! तहँ अण्णाण-वियंभियहँ केवल-णाणु कउ ।।१५८।। जो ज्ञानमयी आत्मा को छोडकर अन्य पदार्थों का ध्यान करते है, उन अज्ञानियों को केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती। सकल विमल केवलज्ञानादि अनन्तगुण रूप स्वशुद्धात्मद्रव्य को छोडकर जो अन्य बाह्य पदार्थो का ध्यान लगाते है हे वत्स ! शुद्धात्मा के ज्ञान मे विमुख कुमति-कुश्रुत-कुअवधिरूप अज्ञान से परिणत उन जीवो को केवलज्ञान की उपलब्धि कैसे हो सकती है। **भावार्थ**—यद्यपि विकल्पसहित अवस्था मे शुभोपयोगियो को चित्त की स्थिरता के लिए और विषयकषायरूप खोटे ध्यान को रोकने के लिए जिनप्रतिमा तथा णमोकार मंत्र के अक्षरादिक ध्याने योग्य है तथापि निश्चय ध्यान के समय शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है, अन्य नही ।।१५८।।

सुण्णउँ पउँ झायंताहँ वलि वलि जोइयडाहँ।
समरसि-भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहँ ।।१५९।।

शून्यं पदं ध्यायतां पुनः पुनः (?) योगिनाम्।
समरसीभाव परेण सह पुण्यमपि पाप न येषाम् ।।१५९।।

सुण्णउं पउं इत्यादि। **सुण्णउं** शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैः शून्यं **पउं** वीतरागपरमानन्दैकसुखामृतरसास्वादरूपा स्वसंवित्तिमयी या सा परमकला तया भरिता-

वस्थापदं निजशुद्धात्मस्वरूपं **झायंताहं** वीतरागत्रिगुप्तिसमाधिबलेन ध्यायतां **वलि वलि जोइयडाहं श्रीयोगीन्दुदेवाः** स्वकीयाभ्यन्तरगुणानुरागं प्रकटयन्ति, वलिं क्रियेऽहमिति परमयोगिनां प्रशंसां कुर्वन्ति । येषां किम् । **समरसिभाउ** वीतरागपरमाह्लादसुखेन परमसमरसीभावम् । केन सह । **परेण सहु** स्वसंवेद्यमानपरमात्मना सह । पुनरपि किं येषाम् । **पुण्णु वि पाउ ण जाहं** शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनो विलक्षणं पुण्यपापद्वयमिति न येषामित्यभिप्रायः ।।१५६।।

सुण्णउँ पउँ झायंताहँ जोइयडाहँ वलि वलि जाहँ परेण सहु समरसि भाउ पुण्णु वि पाउ ण ।।१५६।। विकल्परहित ब्रह्मपद का ध्यान करने वाले योगियों की मैं बार-बार मस्तक नमा कर पूजा करता हूँ, जिनके अन्य पदार्थों के साथ समरसीभाव है और जिनके पाप-पुण्य दोनों ही उपादेय नहीं हैं। शुभाशुभ मन-वचन-काय के व्यापारों से रहित वीतराग परमानन्दमयी सुखामृत रस के आस्वादरूप जो आत्मज्ञानमयी परमकला है, उससे भरपूर जो ब्रह्मपद-शून्यपद-निजशुद्धात्मस्वरूप उसको ध्यानी योगी रागरहित होकर त्रिगुप्तिरूप समाधि के बल से ध्याते है, मैं उन पर बार-बार बलिहारी जाता हूँ। इस प्रकार श्री योगीन्दुदेव अपने अन्तरंग का धर्मानुराग प्रकट करते है, तथा परमयोगियों की प्रशंसा करते हैं। किनकी ? उनकी जिनके वीतराग परमाह्लाद सुख पूर्वक समरसी-भाव है और शुद्ध-बुद्ध चैतन्य स्वभाव परमात्मा से भिन्न पुण्य-पाप दोनों ही नहीं है ।।१५६।।

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।
वलि किज्जउँ तसु जोइयहिँ जासु ण पाउ ण पुण्णु ।।१६०।।

उद्वसान् वसितान् यः करोति वसितान् करोति यः शून्यान् ।
वलिं कुर्वेऽहं तस्य योगिनः यस्य न पापं न पुण्यम् ।।१६०।।

उव्वस इत्यादि । **उव्वस** उद्वसान् शून्यान् । कान् । वीतरागतात्त्विकचिदानन्दोच्छलननिर्भरानन्दशुद्धात्मानुभूतिपरिणामन् परमानन्दनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेनेदानीं विशिष्टज्ञानकाले **वसिया करइ** तेनैव स्वसंवेदनज्ञानेन वसितान् भरितावस्थान् करोति **जो** यः परमयोगी **सुण्णु** निश्चयनयेन शुद्धचैतन्यनिश्चयप्राणस्य हिंसकत्वान्मिथ्यात्वविकल्पजालमेव निश्चयहिंसा तत्प्रभृतिसमस्तविभावपरिणामान् स्वसंवेदनज्ञानलाभात्पूर्वं वसितानिदानीं शून्यान् करोतीति **बलि किज्जउं तसु जोइयहिं** बलिर्मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियेऽहमिति तस्य योगिनः । एवं **श्रीयोगीन्दुदेवाः** गुणप्रशंसां कुर्वन्ति । पुनरपि किं यस्य योगिनः । **जासु ण** यस्य न । किम् । **पाउ ण पुण्णु** वीतरागशुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं न पुण्यपापद्वयमिति तात्पर्यम् ।।१६०।।

जो उव्वस वसिया करइ, जु वसिया सुण्णु करइ । तसु जोइयहिं वलि किज्जउँ जासु ण पाउ ण पुण्णु ।।१६०।। जो पहले कभी नहीं बसे ऐसे शुद्धोपयोगरूप परिणामों को स्वसंवेदनज्ञान के

वल से बसाता है और जो पहले के बसे हुए मिथ्यात्वादि परिणामों को हरा देता है, उस योगी की मैं पूजा करता हूँ जिसके पुण्य-पाप दोनों नहीं हैं। वीतरागतात्त्विक चिदानन्दस्वरूप शुद्धात्मानुभूति-रूप शुद्धोपयोग परिणामों को जो परमानन्द निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के बल से बसाता है अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान से शुद्ध परिणामों की बस्ती अपने घटरूपीनगर में बसाता है और अनादिकाल के जो शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राणों के घातक ऐसे मिथ्यात्व रागादिरूप विकल्प जाल हैं, उन्हें अपने घट-नगर से निष्कासित कर देता है, ऐसे परमयोगी पर मैं बलिहारी जाता हूँ अर्थात् इस प्रकार योगीन्दुदेव उन परमयोगियों के गुणों की प्रशंसा करते हैं। उन योगियों के वीतराग शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत पुण्य-पाप दोनों ही नहीं होते हैं ॥१६०॥

अथैकसूत्रेण प्रश्नं कृत्वा सूत्रचतुष्टयेनोत्तरं दत्त्वा च तमेव पूर्वसूत्रपञ्चकेनोक्तं निर्विकल्पसमाधिरूपं परमोपदेशं पुनरपि विवृणोति पञ्चकलेन—

अब एक दोहे में प्रश्न करके, फिर चार दोहासूत्रों में उत्तर देकर निर्विकल्प समाधिरूप परम उपदेश को पुनः विस्तार से पाँच दोहों में कहते हैं—

तुट्टइ मोहु तडित्ति जहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ।
सो सामइ उवएसु कहि अण्णें देविं काइँ ॥१६१॥

त्रुटयति मोहः झटिति यत्र मनः अस्तमनं याति।
तं स्वामिन् उपदेशं कथय अन्येन देवेन किम् ॥१६१॥

तुट्टइ इत्यादि। **तुट्टइ** नश्यति। कोऽसौ। **मोहु** निर्मोहशुद्धात्मद्रव्यप्रतिपक्षभूतो मोहः **तडित्ति** झटिति **जहिं** मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्परहिते यत्र परमात्मपदार्थे। पुनरपि किं यत्र। **मणु अत्थवणहं जाइ** निर्विकल्पात् शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतं नाना-विकल्पजालरूपं मनोवास्तं गच्छति **सो सामिय उवएसु कहि** हे स्वामिन् तदुपदेशं कथयेति **प्रभाकरभट्टःश्रीयोगीन्दुदेवान्** पृच्छति। **अण्णें देविं काइं** निर्दोषिपरमात्मनः परमाराध्या-त्सकाशादन्येन देवेन किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥१६१॥ इति प्रभाकरभट्टप्रश्नसूत्रमेकं गतम्।

सामइ सो उवएसु कहि जहिं मोहु तडित्ति तुट्टइ, मणु अत्थवणहँ जाइ, अण्णे देविं काइँ ॥१६१॥ हे स्वामिन्! मुझे वह उपदेश दीजिए जिससे मेरा मोह शीघ्र छूट जावे और चंचल मन स्थिरता को प्राप्त हो जावे, अन्य देवताओं से मुझे क्या प्रयोजन है? प्रभाकरभट्ट योगीन्दुदेव से प्रश्न करते हैं कि हे स्वामिन्! मुझे वह उपदेश कहिए जिससे निर्मोह शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत मोह शीघ्र छूट जावे अर्थात् मोह के उदय से उत्पन्न समस्त विकल्प जालों से रहित जो परमात्मपदार्थ है, उसमें मोहजाल का लेश भी न रहे और निर्विकल्प शुद्धातम भावना से विपरीत नाना विकल्पजाल-रूपी चंचल मन अस्त हो जावे। निर्दोष परमाराध्य परमात्मा से अन्य जो (मिथ्यात्वी) देव है, उनसे मेरा क्या प्रयोजन है ॥१६१॥ प्रभाकरभट्ट के प्रश्न को एक दोहासूत्र में कहा।

अथोत्तरम्—

अब, श्री गुरु उत्तर देते हैं—

णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ।
तुट्टइ मोहु तड त्ति तहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ॥१६२॥

नासाविनिर्गतः श्वासः अम्बरे यत्र विलीयते।
त्रुटयति मोहः झटिति तत्र मनः अस्तं याति ॥१६२॥

णासविणिग्गउ इत्यादि। **णासविणिग्गउ** नासिकाविनिर्गतः। **सासडा** उच्छ्वासः **अंबरि** मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहिते शून्ये अम्बरशब्दवाच्ये **जित्थु** यत्र तात्त्विकपरमानन्दभरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ **विलाइ** पूर्वोक्तः श्वासो विलयं गच्छति नासिकाद्वारं विहाय तालुरन्ध्रेण गच्छतीत्यर्थः। **तुट्टइ** त्रुटयति नश्यति। कोऽसौ। **मोहु** मोहोदयेनोत्पन्नरागादिविकल्पजालः **तड त्ति झटिति तहिं** तत्र बहिर्बोधशून्ये निर्विकल्पसमाधौ **मणु** मनः पूर्वोक्तरागादिविकल्पाधारभूतं तन्मयं वा **अत्थवणहं जाइ** अस्तं विनाशं गच्छति स्वस्वभावेन तिष्ठति इति। अत्र यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्पसमाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् शेषाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनन्तरं क्षणमात्रं नासिकया तदनन्तरं रन्ध्रेण कृत्वा निर्गच्छतीति। न च परकल्पितवायुधारणारूपेण श्वासनाशो ग्राह्यः। कस्मादिति चेत् वायुधारणा तावदीहापूर्विका, ईहा च मोहकार्यरूपो विकल्पः। स च मोहकारणं न भवतीति न परकल्पितवायुः। किं च। कुम्भकपूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किन्तु अभ्यासवशेन घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देहारोगत्वलघुत्वादिकं न च मुक्तिरिति। यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणाकारकाणामिदानीन्तनपुरुषाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थ ॥१६२॥

णास-विणिग्गउ सासडा जेत्थु अंबरि विलाइ तहिँ मोहु तड त्ति तुट्टइ, मणु अत्थवणहँ जाइ ॥१६२॥ नाक से निकला श्वास जिस निर्विकल्पसमाधि में मिल जावे, उसी जगह मोह शीघ्र नष्ट हो जाता है और मन स्थिरता को प्राप्त होता है। नासिका से निकले जो श्वासोच्छ्वास है वे आकाश के समान निर्मल मिथ्यात्व विकल्पजाल रहित शुद्ध भावों मे विलीन हो जाते हैं अर्थात् तत्त्वस्वरूप परमानन्द से परिपूर्ण निर्विकल्पसमाधि में चित्त स्थिर हो जाता है तब श्वासोच्छ्वास रूप पवन रुक जाती है और नासिकाद्वार को छोड़कर तालुरन्ध्ररूपी द्वार में से निकलती है, तब मोह टूटता है, उसी समय मोहोदय से उत्पन्न हुए रागादिविकल्पजाल नष्ट हो जाते है, बाह्यज्ञान से शून्य निर्विकल्प समाधि में विकल्पो का आधारभूत जो मन है, वह अस्त हो जाता है अर्थात् मन को

चंचलता नही रहती। जब यह जीव रागादि परभावों से शून्य निर्विकल्पसमाधि मे ठहरता है तब यह उच्छ्वास रूप पवन नासिका के दोनो छिद्रो को छोड़ कर स्वयमेव अवांछीक वृत्ति से तालुवा के बाल की अनी के आठवे भाग प्रमाण अतिसूक्ष्म छिद्र मे–दसवे द्वार मे से होकर बारीक निकलती है, नासा के छेद को छोड़ कर तालुरन्ध्र मे (छेद मे से) होकर निकलती है। अन्य मत (पातजल मत) वाले वायुधारणारूप श्वासोच्छ्वास मानते है, सो ठीक नही है क्योकि वायुधारणा वाछापूर्वक होती है और वांछा मोह से उत्पन्न विकल्परूप है, वांछा का कारण मोह है। संयमी के वायु का निरोध वांछापूर्वक नही होता है, स्वाभाविक ही होता है। जिनशासन मे ऐसा कहा है कि कुम्भक (पवन को खीचना), पूरक (पवन को रोकना), रेचक (पवन को निकालना) ये तीन भेद प्राणायाम के है। इसी को वायुधारणा कहते है। यह क्षणमात्र होती है, परन्तु अभ्यास के वश से घडी, पहर, दिवस आदि तक भी होती है। उस वायुधारणा का कार्य है—देह का आरोग्य और देह का हलकापन न कि मुक्ति-मोक्ष। क्योंकि वायुधारणा शरीर का धर्म है, आत्मा का स्वभाव नही। यदि वायुधारणा से मुक्ति हो जाती तो फिर वायुधारणा करने वालों को अभी मोक्ष क्यो नही होता ? यह भावार्थ है ॥१६२॥

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु-णिसासु।
केवल-णाणु वि परिणमइ अंबरि जाहँ णिवासु ॥१६३॥

मोहो विलीयते मनो म्रियते त्रुटयति श्वासोच्छ्वास.।
केवलज्ञानमपि परिणमति अम्बरे येषा निवास· ॥१६३॥

मोहु विलिज्जइ इत्यादि। **मोहु** मोहो ममत्वादिविकल्पजालं **विलिज्जइ** विलयं गच्छति **मणु मरइ** इहलोकपरलोकाशाप्रभृतिविकल्पजालरूपं मनो म्रियते। **तुट्टइ** नश्यति। कोऽसौ। **सासुणिसासु** अनीहितवृत्त्या नासिकाद्वार विहाय क्षणमात्रं तालुरन्ध्रेण गच्छति पुनरप्यन्तरं नासिकया कृत्वा निर्गच्छति पुनरपि रन्ध्रेणेत्युच्छ्वासनि:श्वासलक्षणो वायु:। पुनरपि किं भवति। **केवलणाणु वि परिणमइ** केवलज्ञानमपि परिणमति समुत्पद्यते। येषां किम्। **अंबरि जाहं णिवासु** रागद्वेषमोहरूपविकल्पजालशून्यं अम्बरे अम्बरशब्दवाच्ये शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपे निर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ येषां निवास इति। अयमत्र भावार्थ:। अम्बरशब्देन शुद्धाकाश न ग्राह्यं किंतु विषयकषायविकल्पशून्य: परमसमाधिर्ग्राह्य:, वायुशब्देन च कुम्भकरेचकपूरकादिरूपो वायुनिरोधो न ग्राह्य: किंतु स्वयमनीहितवृत्त्या निर्विकल्पसमाधिबलेन दशमद्वारसंज्ञेन ब्रह्मरन्ध्रसंज्ञेन सूक्ष्माभिधानरूपेण च तालुरन्ध्रेण योऽसौ गच्छति स एव ग्राह्य: तत्र। यदुक्तं केनापि––"**मणु मरइ पवणु जहिं खयहं जाइ। सव्वंगइ तिहुवणु तहिं जि ठाइ। मूढा अंतरालु परियाणहि। तुट्टइ मोहजालु जइ जाणहि**॥" अत्र पूर्वोक्तलक्षणमेव मनोमरणं ग्राह्यं पवनक्षयोऽपि पूर्वोक्तलक्षण एव त्रिभुवनप्रकाशक आत्मा तत्रैव निर्विकल्पसमाधौ तिष्ठतीत्यर्थ:। अन्तरालशब्देन तु रागादिपरभावशून्यत्वं ग्राह्यं न चाकाशे

ज्ञाते सति मोहजालं नश्यति न चान्यादृशं परकल्पितं ग्राह्यमित्यभिप्रायः ॥१६३॥

जाहँ अंबरि णिवासु मोहु विलिज्जइ, मणु मरइ, सासु-णिसासु तुट्टइ वि केवलणाणु परिणमइ ॥१६३॥ जिनका परमसमाधि में निवास है, उनका मोह नाश को प्राप्त हो जाता है, मन मर जाता है, श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। **भावार्थ**–परमसमाधि में निवास करने वाले योगियों के दर्शनमोह और चारित्रमोह आदि सब कल्पना जाल विलीन हो जाते हैं, इहलोक-परलोक आदि की आशाविकल्पजालरूप मन स्थिर हो जाता है और श्वासोच्छ्वास अवांछीकपने से नासिकाद्वार को छोड़कर तालुछिद्र में होकर निकलते हैं तथा कुछ देर के बाद नासिका से निकलते हैं, इस प्रकार श्वासोच्छ्वासरूप पवन वश में हो जाता है, चाहे जिस द्वार से निकालो। केवलज्ञान भी शीघ्र ही उन ध्यानी मुनियों के उत्पन्न होता है जिनका रागद्वेष मोहरूप विकल्पजाल से रहित शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प त्रिगुप्तिमयी परमसमाधि में निवास है। यहाँ अम्बर शब्द से आकाश का अर्थ नहीं लगाना चाहिए, किन्तु 'विषयकषायरूप विकल्पजालों से शून्य परमसमाधि' अर्थ ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार वायु शब्द से कुम्भक-पूरक-रेचकादिरूप वांछापूर्वक वायुनिरोध नहीं लेना चाहिए किन्तु स्वयमेव अवांछीक वृत्ति पर निर्विकल्पसमाधि के बल से ब्रह्मद्वार नामा सूक्ष्म छिद्र (जिसे तालुवे का रन्ध्र कहते हैं) से पवन निकलता है, वह अर्थ ग्रहण करना चाहिए। किसी ने कहा भी है—"जो मूढ़ हैं वे अम्बर का अर्थ आकाश जानते हैं, जो ज्ञानीजन हैं वे अम्बर का अर्थ परमसमाधिरूप निर्विकल्प जानते हैं। सो निर्विकल्पध्यान में मन मर जाता है, पवन का सहज ही निरोध होता है और सब अंग तीन भुवन के समान हो जाता है।" जो परमसमाधि को जानता है, उसी का मोह टूटता है। मन के विकल्पों का मिटना ही मन का मरना है और वही श्वास का रुकना है जो सब द्वारों से रुक कर दसवें द्वार से होकर निकले। निर्विकल्पसमाधि में ही आत्मा तीनलोक का प्रकाशक होता है। **अन्तराल** शब्द का अर्थ रागादिभावों से शून्यदशा लेना—आकाश का अर्थ नहीं। आकाश के जानने से मोहजाल नहीं नष्ट होता, आत्मस्वरूप के जानने से नष्ट होता है। यह अभिप्राय है ॥१६३॥

जो आयासइ मणु धरइ लोयालोय-पमाणु।
तुट्टइ मोहु तड त्ति तसु पावइ परहँ पवाणु ॥१६४॥

यः आकाशे मनो धरति लोकालोकप्रमाणम्।
त्रुट्यति मोहो झटिति तस्य प्राप्नोति परस्य प्रमाणम् ॥१६४॥

जो इत्यादि। जो यो ध्याता पुरुषः **आयासइ मणु धरइ** यथा परद्रव्यसंबन्धरहितत्वेनाकाशमम्बरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते तथा वीतरागचिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थोऽपि मिथ्यात्वरागादिपरभावरहितत्वान्निर्विकल्पसमाधिराकाशमम्बरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते। तत्राकाशसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ मनो धरति स्थिरं करोति। कथंभूतं मनः। **लोयालोय-पमाणु** लोकालोकप्रमाणं लोकालोकव्याप्तिरूपं अथवा प्रसिद्धलोकालोकाकाशे व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया न च प्रदेशापेक्षया लोकालोकप्रमाणं मनो मानसं धरति **तुट्टइ मोहु तड त्ति** तसु त्रुट्यति नश्यति। कोऽसौ। **मोहु** मोहः। कथम्। झटिति तस्य ध्यानात्। न केवलं

मोहो नश्यति । **पावइ** प्राप्नोति । किम् ।**परहं पवाणु** परस्य परमात्मस्वरूपस्य प्रमाणम् । कीदृशं तत्प्रमाणमिति चेत् । व्यवहारेण रूपग्रहणविषये चक्षुरिव सर्वगतः । यदि पुनर्निश्चयेन सर्वगतो भवति तर्हि चक्षुषो अग्निस्पर्शदाहः प्राप्नोति न च तथा । तथात्मनोऽपि परकीयसुखदु:खविषये तन्मयपरिणामत्वेन परकीयसुखदुःखानुभवं प्राप्नोति न च तथा । निश्चयेन पुनर्लोकमात्रासंख्येयप्रदेशोऽपि सन् व्यवहारेण पुनः शरीरकृतोपसंहारविस्तारवशाद्विवक्षितभाजनस्थप्रदीपवत् देहमात्र इति भावार्थः ।।१६४।।

जो आयासइ लोयालोयपमाणु मणु धरइ तसु मोहु तड त्ति तुट्टइ परहँ पवाणु पावइ ।।१६४।। जो ध्यानी पुरुष निर्विकल्पसमाधि मे लोकालोक प्रमाण अपना मन स्थिर करता है, उसी का मोह शीघ्र टूट जाता है और वह ज्ञान करके लोकालोक प्रमाण आत्मा को प्राप्त हो जाता है । **भावार्थ–** जैसे आकाश द्रव्य सब द्रव्यों से भरा हुआ है परन्तु सबसे शून्य अपने स्वरूप है, उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियो से रहित है, शून्यरूप है इसलिए आकाश शब्द का अर्थ यहाँ शुद्धात्मस्वरूप ग्रहण करना चाहिए । व्यवहारनयापेक्षा ज्ञान लोकालोक का प्रकाशक है और निश्चयनय मे अपने स्वरूप का प्रकाशक है । आत्मा का केवलज्ञान लोकालोक को जानता है, अतः ज्ञान की अपेक्षा आत्मा लोकालोक प्रमाण कहा जाता है, प्रदेशो की अपेक्षा लोकालोक प्रमाण नही है । ज्ञानगुण लोकालोक में व्याप्त है, परन्तु परद्रव्यो से भिन्न है, परवस्तु से जो तन्मयी हो जावे तो वस्तु का अभाव हो जावे । अत: यह निश्चय हुआ कि ज्ञानगुण से लोकालोक प्रमाण जो आत्मा, उसे आकाश भी कहते है, उसमे जो मन लगावे तब जगत् से मोह दूर हो और परमात्मा को पावे । व्यवहारनय से आत्मा ज्ञान से सबको जानता है, इसलिए सब जगत् में है । जैसे व्यवहारनय से नेत्र रूपी पदार्थ को जानता है परन्तु उन पदार्थों से भिन्न है । जो निश्चय से सर्वगत होवे तो परपदार्थो से तन्मयी हो जावे, जो उससे तन्मयी होवे तो नेत्रों को अग्नि का दाह होना चाहिए, इस कारण तन्मयी नही है । उसी प्रकार आत्मा जो पदार्थों को तन्मयी होके जाने तो पर के सुख-दु.ख से तन्मयी होने से इसको भी दूसरे का सुखदु.ख मालूम होना चाहिए, पर ऐसा होता नही है । अत. निश्चय से आत्मा असर्वगत है और व्यवहार नय से सर्वगत है, प्रदेशो की अपेक्षा निश्चय से लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है और व्यवहारनय से पात्र मे रखे हुए दीपक की तरह देहप्रमाण है, जैसा शरीरधारण करता है, वैसा ही प्रदेशो का सकोच-विस्तार हो जाता है ।।१६४।।

देहि वसंतु वि णवि मुणिउ अप्पा देउ अणंतु ।
अंबरि समरसि मणु धरिवि सामिय णट्ठु णिभंतु ।।१६५।।

देहे वसन्नपि नैव मत आत्मा देव. अनन्त ।
अम्बरे समरसे मनः धृत्वा स्वामिन् नष्ट निर्भ्रान्त ।।१६५।।

देहि वसंतु वि इत्यादि । **देहि वसंतु वि** व्यवहारेण देहे वसन्नपि **णवि मुणिउ** नैव ज्ञातः । कोऽसौ । **अप्पा** निजशुद्धात्मा । किंविशिष्टः । **देउ** आराधनायोग्यः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारत्वेन देव. परमाराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः । **अणंतु** अनन्त-

पदार्थपरिच्छित्तिकारणत्वादविनश्वरत्वादनन्तः । किं कृत्वा । **मणु धरिवि** मनो धृत्वा क्व । **श्रंबरि** अम्बरशब्दवाच्ये पूर्वोक्तलक्षणे रागादिशून्ये निर्विकल्पसमाधौ । कथंभूते । **समरसि** वीतरागतात्त्विकमनोहरानन्दस्यन्दिनि समरसीभावे साध्ये । **सामिय** हे स्वामिन् । **प्रभाकरभट्टः** पश्चात्तापमनुशयं कुर्वन्नाह । कि ब्रूते । **णट्ठु णिभंतु** इयन्तं कालमित्थभूतं परमात्मोपदेशमलभमानः सन् निर्भ्रान्तो नष्टोऽहमित्यभिप्रायः ॥१६५॥ एवं परमोपदेशकथनमुख्यत्वेन सूत्रदशकं गतम् ।

सामिय ! देहि वसंतु वि अप्पा देउ अणंतु समरसि श्रंबरि मणु धरिवि णवि मुणिउ णट्ठु णिभंतु ॥१६५॥ हे स्वामिन् ! व्यवहारनय से देह में रहते हुए भी अनन्तगुणो के आधार आत्मदेव को समभावरूप निर्विकल्पसमाधि मे मन लगाकर मैंने नही जाना इसलिए ही अब तक निस्सन्देह नष्ट हुआ हूँ । प्रभाकरभट्ट पश्चाताप करते हुए अपने गुरुदेव से कहते हैं कि हे स्वामिन् ! मैंने अब तक रागादिविभावरहित निर्विकल्पसमाधि मे मन लगाकर आत्मदेव को नहीं जाना, इसलिए इतने काल तक निजस्वरूप की प्राप्ति के बिना मैं नष्ट हुआ, यह **अभिप्राय है** ॥१६५॥ इस प्रकार परम उपदेश के कथन की मुख्यता से दस दोहासूत्र कहे ।

अथ परमोपशमभावसहितेन सर्वसंगपरित्यागेन संसारविच्छेदं भवतीति युग्मेन निश्चिनोति—

अब कहते है कि परमोपशम भावसहित सर्व परिग्रह का त्याग करने से संसारविच्छेद होता है, ऐसा दो दोहों में निश्चय करते हैं—

सयल वि संग ण मिल्लिया णवि किउ उवसम-भाउ ।
सिव-पय-मग्गु वि मुणिउ णवि जहिं जोइहिँ अणुराउ ॥१६६॥
घोरु ण चिण्णउ तव-चरणु जं णिय-बोहहँ सारु ।
पुण्णु वि पाउ वि दड्ढु णवि किमु छिज्जइ संसारु ॥१६७॥

सकला अपि संगा न मुक्ताः नैव कृत उपशमभाव ।
शिवपदमार्गोऽपि मतो नैव यत्र योगिनां अनुरागः ॥१६६॥
घोरं न चीर्णं तपश्चरणं यत् निजबोधस्य सारम् ।
पुण्यमपि पापमपि दग्धं नैव किं छिद्यते ससारः ॥१६७॥

सयल वि इत्यादि । **सयल वि** समस्ता अपि **संग** मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्ना आभ्यन्तराः क्षेत्रवास्त्वादिबहुभेदभिन्ना बाह्या अपि संगाः परिग्रहाः **ण मिल्लिया** न मुक्ताः । पुनरपि किं न कृतम् । **णवि किउ उवसमभाउ** जीवितमरणलाभालाभसुख-दुःखादिसमताभावलक्षणो नैव कृतः उपशमभावः । पुनश्च किं न कृतम् । **सिवपयमग्गु वि मुणिउ णवि** "शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम् । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स

शिवः परिकीर्तित. ।।" इति वचनात् शिवशब्दवाच्यो योऽसौ मोक्षस्तस्य मार्गोऽपि न ज्ञातः । कथंभूतो मार्गः । स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः । यत्र मार्गे किम् । **जहिं जोइहिं अणुराउ** यत्र निश्चयमोक्षमार्गे परमयोगिनामनुरागस्तात्पर्यम् । न केवलं मोक्षमार्गोऽपि न ज्ञातः । **घोरु ण चिण्णउ तवचरणु** घोर दुर्धरं परीषहोपसर्गजयरूपं नैव चीर्णं न कृतम् । किं तत् । अनशनादिद्वादशविध तपश्चरणम् । यत्कथंभूतम् । **जं णियबोहहं सारु** यत्तपश्चरणं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनलक्षणेन निजबोधेन सारभूतम् । पुनश्च किं न कृतम् । **पुण्णु वि पाउ वि** निश्चयनयेन शुभाशुभनिगलद्वयरहितस्य संसारिजीवस्य व्यवहारेण सुवर्णलोहनिगलद्वयसदृश पुण्यपापद्वयमपि **दड्ढु णवि** शुद्धात्मद्रव्यानुभवरूपेण ध्यानाग्निना दग्धं नैव । **किमु छिज्जइ संसारु** कथं छिद्यते संसार इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निरन्तरं शुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ।।१६६-१६७।।

सयल वि संग ण मिल्लिया, उवसमभाउ णवि किउ । जहँ जोइहिँ अणुराउ सिवपयमग्गु णवि मुणिउ । घोरु तवचरणु ण चिण्णउ, ज णिय-बोहहँ सारु, पुण्णु वि पाउ वि णवि दड्ढु, किमु संसारु छिज्जइ ।।१६६-१६७।। सव परिग्रह भी नही छोडे, समभाव भी नही किया और जहाँ योगियों का अनुराग है ऐसे मोक्षमार्ग को भी नही जाना, आत्मज्ञान से शोभायमान घोर तप भी नही किया और पुण्य तथा पाप भी भस्म नही किये तो संसार कैसे छूट सकता है ? **भावार्थ**–मिथ्यात्वादि चौदह अन्तरंग परिग्रह (मिथ्यात्व, राग, द्वेप, वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) और क्षेत्रवास्तु आदि दस वहिरंग परिग्रह (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड) इन चौवीस परिग्रहो को नही छोड़ा । जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःखादि में समान भाव कभी नही किया, कल्याणरूप मोक्ष के मार्ग रत्नत्रय को भी नही जाना । योगियों को प्रिय निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय को भी नही जाना—निजस्वरूप का श्रद्धान, निज स्वरूप का ज्ञान और निजस्वरूप के आचरणरूप निश्चय रत्नत्रय तथा नव पदार्थों का श्रद्धान, नव पदार्थों का ज्ञान और अशुभ क्रिया के त्याग रूप व्यवहाररत्नत्रय—ये दोनों मोक्ष के मार्ग हैं । निश्चयरत्नत्रय तो साक्षात् मोक्ष का मार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय परम्परा से मोक्ष का मार्ग है । इनसे भी कभी परिचय नही प्राप्त किया । अनशनादि बारह प्रकार का तप नही किया, परीषह भी सहन नही किये और शुद्धात्म द्रव्य के अनुभवरूप ध्यानाग्नि से पुण्यरूप सुवर्ण की बेडी और पापरूप लोहे की वेडी को भस्म नही किया । यह सव किए विना कैसे ससार का विच्छेद होता ? ससार से मुक्त होने मे ये कारण है । ऐसा व्याख्यान जानकर सदैव शुद्धात्म स्वरूप की भावना करनी चाहिए ।।१६६-१६७।।

अथ दानपूजापञ्चपरमेष्ठिवन्दनादिरूपं परम्परया मुक्तिकारण श्रावकधर्मं कथयति—

अव दान-पूजा, पंचपरमेष्ठी की वन्दना रूप परम्परा से मुक्ति के कारणभूत श्रावकधर्म का कथन करते हैं—

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु ।
पंच ण वंदिय परम-गुरु किमु होसइ सिव-लाहु ॥१६८॥

दानं न दत्तं मुनिवरेभ्यः नापि पूजितः जिननाथः ।
पञ्च न वन्दिताः परमगुरवः किं भविष्यति शिवलाभः ॥१६८॥

दाणु इत्यादि । **दाणु ण दिण्णउ** आहाराभयभैषज्यशास्त्रभेदेन चतुर्विधदानं भक्तिपूर्वकं न दत्तम् । केषाम् । **मुणिवरहं** निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकानां मुनिवरादिचतुर्विधसंघस्थितानां पात्राणां **ण वि पुज्जिउ** जलधारया सह गन्धाक्षतपुष्पाद्यष्टविधपूजया न पूजितः । कोऽसौ । **जिणणाहु** देवेन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रपूजितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिपूर्णः पूज्यपदस्थितो जिननाथः **पंच ण वंदिय** पञ्च न वन्दिताः । के ते । **परमगुरु** त्रिभुवनाधीशवन्द्यपदस्थिता अर्हत्सिद्धाः त्रिभुवनेशवन्द्यमोक्षपदाराधकाः आचार्योपाध्यायसाधवश्चेति पञ्च गुरवः, **किमु होसइ सिवलाहु** शिवशब्दवाच्यमोक्षपदस्थितानां तदाराधकानामाचार्यादीनां च यथायोग्यं दानपूजावन्दनादिकं न कृतम्, कथं शिवशब्दवाच्यमोक्षसुखस्य लाभो भविष्यति न कथमपीति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा उपासकाध्ययनशास्त्रकथितमार्गेण विधिद्रव्यदातृपात्रलक्षणविधानेन दानं दातव्यं पूजावन्दनादिकं च कर्तव्यमिति भावार्थः ॥१६८॥

दाणु मुणिवरहँ ण दिण्णउ, जिणणाहु ण वि पुज्जिउ, पंच परमगुरु ण वंदिय, किमु सिवलाहु होसइ ॥१६८॥ मुनिवरों को दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान की पूजा भी नहीं की, पंच परमेष्ठियों की भी वन्दना नहीं की, तब मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? **भावार्थ**–औषध, शास्त्र, अभय और आहार ये चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक उत्तम पात्रों को नहीं दिए अर्थात् निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय के आराधक मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विधसंघ को चार प्रकार का दान भक्ति से नहीं दिया और दीन-दुःखी को करुणाभाव से दान नहीं दिया; देवेन्द्र-धरणेन्द्र और नरेन्द्रों से पूजित केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण परमपूज्य जिनदेव की जलचन्दनादि अष्टद्रव्यों से पूजा नहीं की और त्रिलोकवन्द्य अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठियों की आराधना नहीं की, सो हे जीव ! तुझे मोक्ष-सुख का लाभ कैसे होगा ? अर्थात् कभी नहीं होगा । यहाँ यह व्याख्यान जानकर 'उपासकाध्ययन' नामक सातवें अंग में कथित मार्ग से विधि-द्रव्य-दाता-पात्र के लक्षण जानकर दान देना चाहिए और पचपरमेष्ठी की पूजा-वन्दनादि करनी चाहिए, यह भावार्थ है ॥१६८॥

अथ निश्चयेन चिन्तारहितध्यानमेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेन—

अब निश्चय से चिन्तारहितध्यान ही मुक्ति का कारण है, यह चार दोहा सूत्रों में प्रतिपादित करते हैं—

अद्ध ुम्मीलिय-लोयणिहिँ जोउ कि झंपियएहिँ ।
एमुइ लब्भइ परम-गइ णिच्चिंति ठियएहिँ ॥१६९॥

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं आच्छादिताभ्याम् ।
एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चिन्तं स्थितैः ॥१६९॥

अद्धुम्मीलियलोयणिहि अर्धोन्मीलितलोचनपुटाभ्यां **जोउ** किं योगो ध्यानं किं भवति अपि तु नैव । न केवलमर्धोन्मीलिताभ्याम् । **झंपियएहि** झंपिताभ्यामपि लोचनाभ्यां नैवेति । तर्हि कथं लभ्यते । **एमुइ लब्भइ** एवमेव लभ्यते लोचनपुटनिमीलनोन्मीलननिरपेक्षैः । का लभ्यते । **परमगइ** केवलज्ञानादिपरमगुणयोगात्परमगतिर्मोक्षगतिः । कैः लभ्यते । **णिच्चिंति ठियएहि** ख्यातिपूजालाभप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालरहितैः पुरुषैश्चिन्तारहितैः स्वशुद्धात्मरूपस्थितैश्चेत्यभिप्रायः ॥१६९॥

अद्धुम्मीलिय लोयणिहिँ झंपियएहि कि जोउ, णिच्चिंति ठियएहिँ एमुइ परमगइ लब्भइ ॥१६९॥ आधे उघड़े हुए नेत्रों से अथवा बन्द नेत्रों से क्या ध्यान की सिद्धि होती है, कभी नही । जो चिन्तारहित एकाग्र में स्थित हैं, उनको इसी तरह स्वयमेव परमगति मिलती है । **भावार्थ–**ख्याति, पूजा, लाभ, आदि समस्त चिन्ताओं से रहित जो निश्चिन्त पुरुष है, वे ही स्वशुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता पाते हैं, उन्ही के ध्यान की सिद्धि है और वे ही केवलज्ञानादि परम गुणों के योग से मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१६९॥

जोइय मिल्लहि चिन्त जइ तो तुट्टइ संसारु ।
चिंतासत्तउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु ॥१७०॥

योगिन् मुञ्चसि चिन्तां यदि ततः त्रुटयति संसारः ।
चिन्तासक्तो जिनवरोऽपि लभते न हंसचारम् ॥१७०॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **मिल्लहि** मुञ्चसि । काम् । **चिन्त** चिन्तारहिताद्विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विलक्षणां चिन्तां **जइ** यदि चेत् **तो** ततश्चिन्ताभावात् । किं भवति । **तुट्टइ** नश्यति । स कः । **संसारु** निःसंसारात् शुद्धात्मद्रव्याद् विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालादिभेदभिन्नः पञ्चप्रकारः संसारः । यतः कारणात् । **चिंतासत्तउ जिणवरु वि** छद्मस्थावस्थायां शुभाशुभचिन्तासक्तो जिनवरोऽपि **लहइ ण** लभते न । कम् । **हंसाचारु** संशयविभ्रमविमोहरहितानन्तज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन हंस इव हंसः परमात्मा तस्य आचारं रागादिरहित शुद्धात्मपरिणाममिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालं त्यक्त्वापि चिन्तारहिते शुद्धात्मतत्त्वे सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१७०॥

जोइय ! जइ चिन्त मिल्लहि तो ससारु तुट्टइ, चितासत्तउ जिणवरु वि हसाचारु ण लहइ ॥१७०॥ हे योगी ! यदि तू चिन्ताओ को छोड दे तो तेरा ससार-भ्रमण समाप्त हो जाएगा । क्योकि चिन्तासक्त तो जिनवर (छद्मस्थावस्था मे तीर्थंकर देव) भी परमात्मा के आचरण रूप शुद्ध भावो को नही पाते । हे योगी ! शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभाव परमात्म पदार्थ से विपरीत चिन्ताजाल को तू छोडेगा तभी चिन्ता के अभाव से शुद्धात्मद्रव्य से विमुख द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार का तेरा ससार नष्ट होगा । छद्मस्थावस्था मे शुभाशुभ की चिन्ता मे आसक्त जिनवर भी शुद्धात्मपरिणामो को नही पा सकते । सशय, विमोह, विभ्रमरहित अनन्तज्ञानादिनिर्मलगुण सहित हस के समान उज्ज्वल परमात्मा के शुद्ध भाव हैं, वे चिन्ता के बिना छोडे, कदापि नही होते । तीर्थंकरदेव भी मुनि होकर निश्चिन्त होकर व्रत धारण करते है तभी परमहसदशा को उपलब्ध होते हैं । यहाँ ऐसा व्याख्यान जान कर देखे-सुने-भोगे हुए भोगो की आकाक्षादि समस्त चिन्ताजाल को छोड कर चिन्तारहित होकर सब प्रकार से शुद्धात्म तत्त्व की भावना ही करनी चाहिए, यह भावार्थ है ॥१७०॥

जोइय दुम्मइ कवुण तुहुँ भवकारणि ववहारि ।
बंभु पवंचहिँ जो रहिउ सो जाणिवि मणु मारि ॥१७१॥

योगिन् दुर्मति का तव भावकारणे व्यवहारे ।
ब्रह्म प्रपचैर्यद् रहित तत् ज्ञात्वा मनो मारय ॥१७१॥

जोइय इत्यादि । **जोइय** हे योगिन् **दुम्मइ कवुण तुहं** दुर्मति का तवेय **भवकारणि ववहारि** भवरहितात् शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपव्यवहारविलक्षणाच्च स्वशुद्धात्मद्रव्यात्प्रतिपक्षभूते पञ्चप्रकारसंसारकारणे व्यवहारे । तर्हि कि करोमीति चेत् । **बंभु** ब्रह्मशब्दवाच्य स्वशुद्धात्मान ज्ञात्वा । कथभूत यत् । **पवंचहिं जो रहिउ** प्रपचैर्मायापाखण्डै यद्रहितम् । **सो जाणिवि** त निजशुद्धात्मान वीतरागस्वसवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा पश्चात्कि कुरु । **मणु मारि** अनेकमानसविकल्पजालरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभविकल्पजालरूप मनो मारय विनाशयेति भावार्थ ॥१७१॥

जोइय ! तुहुँ कवुण दुम्मइ भवकारणि ववहारि पवचहि रहिउ जो बभु सो जाणिवि मणु मारि ॥१७१॥ हे योगी ! तेरी कैसी दुर्बुद्धि है जो तू ससार के कारण रूप व्यवहार करता है । अब तू प्रपचो से रहित जो शुद्धात्मा-ब्रह्म है, उसको जान कर अपने मन को मार । वीतरागस्वसवेदन ज्ञान से अपनी आत्मा को जान कर, मानसिक विकल्पजालो से रहित परमात्मा मे स्थित होकर तू शुभाशुभविकल्पजालरूप मन को मार अर्थात् निर्विकल्प दशा को प्राप्त हो । यह भावार्थ है ॥१७१॥

सव्वहिँ रायहिँ छहिँ रसहिँ पंचहिँ रूवहिँ जंतु ।
चित्तु णिवारिवि झाहि तुहुँ अप्पा देउ अणंतु ॥१७२॥

सर्वैः रागैः षड्भिः रसैः पञ्चभिः रूपैः गच्छत् ।
चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनन्तम् ॥१७२॥

सव्वहिं इत्यादि । **झाहि** ध्याय चिन्तय **तुहुँ** त्वं हे **प्रभाकरभट्ट** । कम् । **अप्पा** स्वशुद्धात्मानम् । कथंभूतम् । **देउ** वीतरागपरमानन्दसुखेन दीव्यति क्रीडति इति देवस्तं देवम् । पुनरपि कथंभूतम् । **अणंतु** केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारत्वादनन्तसुखास्पदत्वादविनश्वरत्वाच्चानन्तस्तमनन्तम् । किं कृत्वा पूर्वम् । **चित्तु णिवारिवि** चित्तं निवार्य व्यावृत्य । किं कुर्वन् सन् । **जंतु** गच्छत्परिणममानं सत् । कैः करणभूतैः **सव्वहिं रायहिं** वीतरागात्स्वशुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणैः सर्वशुभाशुभरागैः । न केवलं रागैः । **छहिं रसहिं** रसरहिताद्वीतरागसदानन्दैकरसपरिणतादात्मनो विपरीतैः गुडलवणदधिदुग्धतैलघृतषड्रसैः । पुनरपि कैः । **पंचहिं रूवहिं** अरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूतैः कृष्णनीलरक्तश्वेतपीतपञ्चरूपैरिति तात्पर्यम् ॥१७२॥

तुहुँ सव्वहिं रायहिं, छहिं रसहिं, पंचहिं रूवहिं जंतु चित्तु णिवारिवि अणंतु अप्पा देउ झाहि ॥१७२॥ हे प्रभाकरभट्ट ! तू सब शुभाशुभ रागों से, छहों रसों से, पाँचों रूपों से चलायमान चित्त को रोक कर अनन्त गुणों वाले आत्मदेव का ध्यान कर । वीतराग परम आनन्द सुख में क्रीड़ा करने वाले, केवलज्ञानादि अनन्तगुण वाले अविनाशी शुद्ध आत्मा का एकाग्रचित्त होकर ध्यान कर । क्या करके ? वीतराग शुद्धात्मद्रव्य से विमुख जो समस्त शुभाशुभराग, निजरस से विपरीत जो घी, दूध, दही, तेल, नमक, मीठा—ये छह रस और जो अरूप शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न काला, सफेद, नीला, पीला और लाल—पाँच तरह का रूप है– इनमे जो निरन्तर चित्त जाता है, उसे रोक कर आत्मदेव की आराधना कर ॥१७२॥

अथ येन स्वरूपेण चिन्त्यते परमात्मा तेनैव परिणमतीति निश्चिनोति—

अब कहते हैं कि आत्मा का जिस रूप से चिन्तन किया जाता है, आत्मा उसी रूप में परिणमता है—

जेण सरूविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु ।
तेण सरूविं परिणवइ जह फलिहउ-मणि मंतु ॥१७३॥

येन स्वरूपेण ध्यायते आत्मा एषः अनन्तः ।
तेन स्वरूपेण परिणमति यथा स्फटिकमणिः मन्त्रः ॥१७३॥

जेण इत्यादि । **तेण सरूविं परिणवइ** तेन स्वरूपेण परिणमति । कोऽसौ कर्ता । **अप्पा** आत्मा **एहु** एष प्रत्यक्षीभूतः । पुनरपि किंविशिष्टः । **अणंतु** वीतरागानाकुलत्वलक्षणानन्तसुखाद्यनन्तशक्ति परिणतत्वादनन्तः । तेन केन । **जेण सरूविं झाइयइ** येन शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण ध्यायते चिन्त्यते । दृष्टान्तमाह । **जह फलिहउमणि मंतु** यथा

स्फटिकमणिः जपापुष्पाद्युपाधिपरिणतः गारुडादिमन्त्रो वेति । अत्र विशेषव्याख्यानं तु–
"येन येन स्वरूपेण युज्यते यन्त्रवाहकः । तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥"[1]
इति श्लोकार्थकथितदृष्टान्तेन ध्यातव्यः । इदमत्र तात्पर्यम् । अयमात्मा येन येन स्वरूपेण चिन्त्यते तेन तेन परिणमतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मपदप्राप्त्यर्थिभिः समस्तरागादिविकल्पसमूहं त्यक्त्वा शुद्धरूपेणैव ध्यातव्य इति ॥१७३॥

एहु अणंतु अप्पा जेण सरूवि झाइयइ तेण सरूवि परिणवइ जह फलिहउ मणि मंतु ॥१७३॥
यह अविनाशी आत्मा जिस रूप में ध्याया जाता है, उसी स्वरूप परिणमता है जैसे स्फटिक मणि और गारुड़ी आदि मंत्र। यह आत्मा शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोगरूप परिणमन करता है अतः जिस रूप में ध्याया जाता है, उसी रूप परिणमन करता है जैसे स्फटिक मणि के नीचे जैसा डंक लगाओ (लाल, हरा, पीला आदि) वह उसी रूप परिणमता है, जैसे गारुड़ी आदि मंत्रों में मंत्र गरुड रूप भासता है। अन्यत्र भी कहा है—"जिस-जिस रूप से आत्मा परिणमता है उस-उस रूप से आत्मा तन्मयी हो जाता है। जैसे स्फटिक मणि उज्ज्वल है, उसके नीचे जैसा डंक लगाओ, वह वैसा ही भासता है।" जो शुद्धात्मपद की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे समस्त रागादि विकल्प समूह को छोड़ कर आत्मा के शुद्ध रूप को ध्यावे ॥१७३॥

अथ चतुष्पादिकां कथयति—

अब चतुष्पद छंद में आत्मा का स्वरूप कहते हैं—

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसें जायउ जप्पा ।
जामइँ जाणइ अप्पें अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा ॥१७४॥

एषः यः आत्मा स परमात्मा कर्मविशेषेण जातः जाप्यः ।
यदा जानाति आत्मना आत्मानं तदा स एव देवः परमात्मा ॥१७४॥

एहु इत्यादि । **एहु जु** एष यः प्रत्यक्षीभूतः **अप्पा** स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा । स कथंभूतः । **सो परमप्पा** शुद्धनिश्चयेनानन्तचतुष्टयस्वरूपः क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः स निर्दोषिपरमात्मा **कम्मविसेसें जायउ जप्पा** व्यवहारनयेनानादिकर्मबन्धनविशेषेण स्वकीयबुद्धिदोषेण जात उत्पन्नः कथंभूतो जातः जाप्यः पराधीनः **जामइं जाणइं** यदा काले जानाति । केन कम् । **अप्पें अप्पा** वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनात्मना निजशुद्धात्मानं **तामइं** तस्मिन् स्वशुद्धात्मानुभूतिकाले **सो जि** स एवात्मा **देउ** निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानुभवेन दीव्यति क्रीडतीति देवः परमाराध्यः । किंविशिष्टो देवः । **परमप्पा** शुद्धनिश्चयेन मुक्तिगतपरमात्मसमानः । अयमत्र भावार्थः । यद्येवंभूतः परमात्मा

---
१. अमितगति : योगसार ९-५१ ।

शक्तिरूपेण देहमध्ये नास्ति तर्हि केवलज्ञानोत्पत्तिकाले कथं व्यक्तीभविष्यतीति ॥१७४॥

एहु जु अप्पा सो परमप्पा, कम्मविसेसे जप्पा जायउ, जामइँ अप्पेँ अप्पा जाणइ, तामइँ सो जि परमप्पा देउ ॥१७४॥ यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदनज्ञान से प्रत्यक्ष आत्मा ही शुद्धनिश्चयनय से अनन्तचतुष्टयस्वरूप और अठारह दोषों से रहित निर्दोष परमात्मा है। यह व्यवहारनय से अनादिकर्मबन्ध के कारण पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है परन्तु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से अपने को जानता है, उस समय यह आत्मा ही परमात्मा है, देव है। **भावार्थ**—निजशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो परम आनन्द, उसके अनुभव मे क्रीड़ा करने से देव कहा जाता है, वही आराध्य है। यह आत्मदेव शुद्धनिश्चयनय मे भगवान केवली के समान है। यहाँ यह अभिप्राय है कि परमात्मदेव शक्तिरूप से देह में है, जो देह मे न होवे तो केवलज्ञान के समय कैसे प्रकट होवे ? ॥१७४॥

अथ तमेवार्थं व्यक्तीकरोति—

पुनः उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु ।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥१७५॥

य: परमात्मा ज्ञानमयः स अहं देवः अनन्तः ।
यः अहं स परमात्मा परः इत्थं भावय निर्भ्रान्तः ॥१७५॥

जो परमप्पा इत्यादि । **जो परमप्पा** यः कश्चित् प्रसिद्धः परमात्मा सर्वोत्कृष्टानन्तज्ञानादिरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमश्चासावात्मा च परमात्मा **णाणमउ** ज्ञानेन निर्वृत्तः ज्ञानमयः **सो हउं** यद्यपि व्यवहारेण कर्मावृतस्तिष्ठामि तथापि निश्चयेन स एवाहं पूर्वोक्तः परमात्मा । कथंभूतः । **देउ** परमाराध्य. । पुनरपि कथंभूतः । **अणंतु** अनन्तसुखादिगुणास्पदत्वादनन्तः । **जो हउं सो परमप्पु** योऽहं स्वदेहस्थो निश्चयेन परमात्मा स एव तत्सदृश एव मुक्तिगतपरमात्मा । कथंभूतः । **परु** परमगुणयोगात् पर उत्कृष्टः **एहउ भावि** इत्थंभूतं परमात्मानं भावय । **हे प्रभाकरभट्ट** । कथंभूतः सन् । **णिभंतु** भ्रान्तिरहितः संशयरहितः सन्निति । अत्र स्वदेहेऽपि शुद्धात्मास्तीति निश्चयं कृत्वा मिथ्यात्वाद्युपशमवशेन केवलज्ञानाद्युत्पत्तिबीजभूतां कारणसमयसाराख्यामागमभाषया वीतरागसम्यक्त्वादिरूपां शुद्धात्मैकदेशव्यक्ति लब्ध्वा सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥१७५॥

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ अणंतु देउ । जो हउँ सो परु परमप्पु, एहउ णिभंतु भावि ॥१७५॥ जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मैं ही हूँ जो अविनाशी देवस्वरूप हूँ। जो मैं हूँ, वही उत्कृष्ट परमात्मा है, इस प्रकार निस्सन्देह तू भावना कर। जो कोई प्रसिद्ध परमात्मा सर्वोत्कृष्ट

अनन्तज्ञानादि रूप लक्ष्मी का निवास है, ज्ञानमय है, वैसा ही मैं हूँ। यद्यपि व्यवहार नय से मैं कर्मों से बंधा हुआ हूँ तो भी निश्चयनय की अपेक्षा मेरे बन्ध-मोक्ष नहीं हैं। जैसा भगवान का स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वरूप है। जो आत्मदेव महामुनियों के द्वारा आराधने योग्य है और अनन्त सुख आदि गुणों का निवास है। जो मैं यह देह में स्थित निश्चयनय से परमात्मा हूँ, उसी के समान वह मुक्तिगत परमात्मा है। यही ध्यान हमेशा करना। वह परमात्मा परमगुण के सम्बन्ध से उत्कृष्ट है। आचार्य योगीन्दुदेव प्रभाकरभट्ट से कहते हैं कि हे शिष्य! तू सब भ्रान्तियों को छोड़ कर केवल परमात्मा का ध्यान कर। इस देह में ही शुद्धात्मा है, ऐसा निश्चय कर। मिथ्यात्वादि सब विभावों की उपशमता के वश से केवलज्ञानादि उत्पत्ति का जो कारण समयसार निज आत्मा है, उसी की निरन्तर भावना करनी चाहिए। वीतराग सम्यक्त्वादिरूप शुद्ध आत्मा के एकदेश प्रकटपने को पाकर सब तरह से ज्ञान की भावना करनी योग्य है, यह **अभिप्राय** है ॥१७५॥

अथामुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से पुष्ट करते हैं—

णिम्मल-फलिहहँ जेम जिय भिण्णउ परकिय-भाउ।
अप्प-सहावहँ तेम मुणि सयलु वि कम्म-सहाउ ॥१७६॥

निर्मलस्फटिकाद् यथा जीव भिन्नः परकृतभावः।
आत्मस्वभावात् तथा मन्यस्व सकलमपि कर्मस्वभावम् ॥१७६॥

भिण्णउ भिन्नो भवति **जिय** हे जीव **जेम** यथा। कोऽसौ कर्त्ता। **परकियभाउ** जपापुष्पाद्युपाधिरूपः परकृतभावः कस्मात्सकाशात्। **णिम्मलफलिहहं** निर्मलस्फटिकात् **तेम** तथा भिन्नं **मुणि** मन्यस्व जानीहि। कम्। **सयलु वि कम्मसहाउ** समस्तमपि भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मस्वभावम् कस्मात्। सकाशात्। **अप्पसहावहं** अनन्तज्ञानादि-गुणस्वभावात् परमात्मन इति भावार्थः ॥१७६॥

जिय! जेम परकिय भाउ णिम्मल फलिहहँ भिण्णउ तेम अप्पसहावहँ सयलु वि कम्मसहाउ मुणि ॥१७६॥ हे जीव! जैसे परकृत भाव यानी अनेक जाति के डंक महानिर्मल स्फटिकमणि से भिन्न हैं, वैसे ही आत्मस्वभाव से सब शुभाशुभ कर्म भिन्न जानो। **भावार्थ**—आत्मस्वभाव महानिर्मल है, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म उससे सर्वथा भिन्न हैं। आत्मा चिद्रूप है। अनन्तज्ञानादि गुणस्वभाव परमात्मा है, उससे तू सकल प्रपंचों को भिन्न ही मान ॥१७६॥

अथ तामेव देहात्मनोर्भेदभावनां द्रढयति—

अब आत्मा और देह भिन्न-भिन्न हैं, यह भेदभावना दृढ़ करते हैं—

जेम सहावि णिम्मलउ फलिहउ तेम सहाउ ।
भंतिए मइलु म मण्णि जिय मइलउ देक्खवि काउ ।।१७७।।

यथा स्वभावेन निर्मल: स्फटिक: तथा स्वभाव: ।
भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व जीव मलिनं दृष्ट्वा कायम् ।।१७७।।

जेम इत्यादि । जेम सहावि णिम्मलउ यथा स्वभावेन निर्मलो भवति । कोऽसौ । फलिहउ स्फटिकमणि: तेम तथा निर्मलो भवति । कोऽसौ कर्ता । सहाउ विशुद्धज्ञानरूपस्य परमात्मन: स्वभाव: भंतिए मइलु म मण्णि पूर्वोक्तमात्मस्वभावं कर्मतापन्नं भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व जिय हे जीव । किं कृत्वा । मइलउ देक्खवि मलिनं दृष्ट्वा कम् काउ निर्मलशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मपदार्थाद्विलक्षण कायमित्यभिप्राय: ।।१७७।।

जेम फलिहउ सहावि णिम्मलउ तेम सहाउ जिय ! काउ मइलउ देक्खवि भंतिए मइलु म मण्णि ।।१७७।। जैसे स्फटिक मणि स्वभाव से निर्मल है, उसी तरह आत्मा भी ज्ञानदर्शनस्वभावरूप निर्मल है। ऐसे आत्मस्वभाव को हे जीव ! शरीर की मलिनता देखकर भ्रम से मलिन मत मान । भावार्थ-निर्मल शुद्ध बुद्धैक स्वभाव परमात्म पदार्थ काया से सर्वथा भिन्न है, काया मलिन है, आत्मा निर्मल है ।।१७७।।

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्तादिवस्त्रदृष्टान्तेन व्यक्तिकरोति चतुष्कलेन—

अब पूर्वोक्त भेदविज्ञान की भावना को लाल-पीले वस्त्र के दृष्टान्त से चार दोहों में प्रकट करते हैं—

रत्तें वत्थें जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहिं रत्ति णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ।।१७८।।

जिण्णि वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहिं जिण्णि णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ।।१७९।।

रक्तेन वस्त्रेन यथा बुध. देहं न मन्यते रक्तम् ।
देहेन रक्तेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ।।१७८।।

जीर्णेन वस्त्रेण यथा बुध: देहं न मन्यते जीर्णम् ।
देहेन जीर्णेन ज्ञानी तथा आत्मान न मन्यते जीर्णम् ।।१७९।।

वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ।।१८०।।

भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहँ मण्णइ णाणि ।
देहु वि भिण्णउँ णाणि तहँ अप्पहँ मण्णइ जाणि ।।१८१।।

वस्त्रे प्रणष्टे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।
नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ।।१८०।।
भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।
देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीहि ।।१८१।।

यथा कोऽपि व्यवहारज्ञानी रक्ते वस्त्रे जीर्णे वस्त्रे नष्टेऽपि स्वकीयवस्त्रे स्वकीयं देहं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे-नष्टेऽपि सति व्यवहारेण देहस्थमपि वीतरागचिदानन्दैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयनयेन देहाद्भिन्नं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः । अथ **मण्णइ** मन्यते । कोऽसौ । **णाणि** देहवस्त्रविषये भेदज्ञानी । किं मन्यते । **भिण्णउ** भिन्नम् । किम् । **वत्थु जि** वस्त्रमेव **जेम** यथा **जिय** हे जीव । कस्माद्भिन्नं मन्यते । **देहहं** स्वकीयदेहात् । दृष्टान्तमाह । **मण्णइ** मन्यते । कोऽसौ । **णाणि** देहात्मनोर्भेदज्ञानी **तहं** तथा भिन्नं मन्यते । कमपि । **देहु वि** देहमपि । कस्मात् । **अप्पहं** निश्चयेन देहविलक्षणाद् व्यवहारेण देहस्थात्सहज-शुद्धपरमानन्दैकस्वभावान्निजपरमात्मनः **जाणि** जानीहीति भावार्थः ।।१७८-८१।।

जेम बुहु रत्तें वत्थें देहु रत्तु ण मण्णइ, तहँ णाणि देहिं रत्तिं अप्पु ण रत्तु मण्णइ ।।१७८।। जेम बुहु जिण्णि वत्थि देहु जिण्णु ण मण्णइ, तहँ णाणि देहिं जिण्णिं अप्पु जिण्णु ण मण्णइ ।।१७९।। जेम बुहु वत्थु पणट्ठइ देहु णट्ठु ण मण्णइ, तहँ णाणि देहे णट्ठे अप्पु णट्ठु ण मण्णइ ।।१८०।। जिय ! जेम णाणि देहहँ भिण्णउ जि वत्थु मण्णइ, तहँ णाणि देहु वि अप्पहँ भिण्णउँ मण्णइ जाणि ।।१८१।। जैसे कोई बुद्धिमान् पुरुष लाल वस्त्र से शरीर को लाल नही मानता, उसी प्रकार वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानी शरीर के लाल होने से आत्मा को लाल नही मानता । जैसे कोई बुद्धिमान् कपड़े के जीर्ण होने पर शरीर को जीर्ण नही मानता, उसी प्रकार ज्ञानी भी शरीर के जीर्ण होने से आत्मा को जीर्ण नही मानता । जैसे कोई बुद्धिमान् वस्त्र के नष्ट होने पर शरीर का नाश नही मानता, उसी तरह ज्ञानी भी देह का नाश होने पर आत्मा का नाश नही मानता । हे जीव ! जैसे ज्ञानी कपड़े को शरीर से भिन्न ही मानता है, उसी तरह ज्ञानी शरीर को भी आत्मा से भिन्न मानता है, ऐसा तुम जानो । भावार्थ–यह आत्मा व्यवहारनय से देह मे स्थित है तो भी सहज शुद्ध परमानन्दरूप निजस्वभाव से देह से भिन्न ही है ।।१७८-१८१।।

अथ दुःखजनकदेहघातकं शत्रुमपि मित्रं जानीहीति दर्शयति—

अब कहते हैं कि दुःख उत्पन्न करने वाले इस शरीर के घातक शत्रु को भी मित्र ही जानो—

इहु तणु जीवउ तुज्झ रिउ दुक्खइँ जेण जणेइ ।
सो परु जाणहि मित्तु तुहुँ जो तणु एहु हणेइ ।।१८२।।

इयं तनुः जीव तव रिपुः दुःखानि येन जनयति ।
तं परं जानीहि मित्र त्वं यः तनुमेतां हन्ति ।।१८२।।

रिउ रिपुर्भवति । का । **इहु तणु** इयं तनुः कर्त्री **जीवउ** हे जीव **तुज्झ** तव । कस्मात् । **दुक्खइं जेण जणेइ** येन कारणेन दुःखानि जनयति **सो परु** तं परजनं **जाणहि** जानीहि । किम् । **मित्तु** परममित्रं तुहुं त्वं कर्ता । यः परः किं करोति । **जो तणु एहु हणेइ** यः कर्ता तनुमिमां प्रत्यक्षीभूतां हन्तीति । अत्र यदा वैरी देहविनाशं करोति तदा वीतरागचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृतसमरसीभावे स्थित्वा शरीरघातकस्योपरि यथा पाण्डवैः कौरवकुमारस्योपरि द्वेपो न कृतस्तथान्यतपोधनैरपि न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ।।१८२।।

जीवउ ! इहु तणु तुज्झ रिउ जेण दुक्खइँ जणेइ ! जो एहु तणु हणेइ सो परु मित्तु जाणहि ।।१८२।। हे जीव ! यह शरीर तेरा शत्रु है क्योंकि यह तुझे दुःख ही दुःख उत्पन्न करता है । जो इस शरीर का भी घात करे, उसे तुम परममित्र जानो । यह शरीर तेरा शत्रु होने से दु.ख उत्पन्न करता है, इससे तू अनुराग मत कर और जो तेरे शरीर की सेवा करता है, उससे भी राग मत कर, जो तेरे शरीर का घात भी करे तो भी उसको शत्रु मत जान । जब कोई तेरे इस शरीर का नाश करे तब वीतराग चिदानन्द ज्ञानस्वभाव परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न जो परम समरसीभाव है, उसमे लीन होकर शरीर के घातक पर भी द्वेप मत कर, जैसे पाण्डवो ने दुर्योधन पर द्वेप नही किया । उसी तरह अन्य तपस्वी साधुओं को भी नही करना चाहिए, यह **अभिप्राय है** ।।१८२।।

अथ उदयागते पापकर्मणि स्वस्वभावो न त्याज्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

पापकर्म के उदय मे आने पर भी आत्मस्वभाव को नही छोड़ना चाहिए, ऐसा अभिप्राय मन में धारण कर यह सूत्र कहते हैं—

उदयहँ आणिवि कम्मु मइँ जं भुंजेवउ होइ ।
तं सह आविउ खविउ मइँ सो पर लाहु जि कोइ ।।१८३।।

उदयमानीय कर्म मया यद् भोक्तव्यं भवति ।
तत् स्वयमागतं क्षपितं मया स परं लाभ एव कश्चित् ।।१८३।।

जं यत् **भुंजेवउ होइ** भोक्तव्य भवति । किं कृत्वा । **उदयहं आणिवि** विशिष्टात्मभावनाबलेनोदयमानीय । किम् । **कम्मु** चिरसंचितं । कर्म । केन । **मइं** मया **तं** तत् पूर्वोक्तं कर्म **सइ आविउ** दुर्धरपरीपहोपसर्गवशेन स्वयमुदयमागतं सत् **खविउ मइं** निजपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागसहजानन्दैकसुखरसास्वादद्रवीभूतेन परिणतेन मनसा क्षपितं मया **सो** स **परं** नियमेन **लाहु जि** लाभ एव **कोइ** कश्चिदपूर्व इति । अत्र

केचन महापुरुषा दुर्धरानुष्ठानं कृत्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च कर्मोदयमानीय तमनुभवन्ति, अस्माकं पुन: स्वयमेवोदयागतमिति मत्वा संतोष: कर्तव्य इति तात्पर्यम् ।।१८३।।

जं मइँ कम्मु उदयहँ आणिवि भुंजेवउ होइ तं सह आविउ मइँ खविउ सो कोइ जि पर लाहु ।।१८३।। जो मैं कर्म को उदय में लाकर भोगना चाहता था, वह कर्म स्वयं ही आ गया, इससे मैं शान्तचित्त से फल सहन कर क्षय करूँ, यह कोई महान् लाभ ही हुआ। कोई महापुरुष दुर्धर अनुष्ठान-तपादि करके वीतरागनिर्विकल्प समाधि में ठहर कर कर्मों को उदय में लाकर उनकी निर्जरा करते हैं; लेकिन वे कर्म दुर्धर परीषह या उपसर्ग के कारण स्वयमेव उदय में आए है; ऐसा मान कर सन्तोष धारण कर ज्ञानीजन उदयागत कर्मों को समभाव से भोगते है; रागद्वेष नहीं करते, यह भावार्थ है ।।१८३।।

अथ इदानीं परुषवचनं सोढुं न याति तदा निर्विकल्पात्मतत्त्वभावना कर्तव्येति प्रतिपादयति––

अव कहते है कि यदि कठोर वचन सहन न होते हों तो उस समय निर्विकल्प आत्मतत्त्व की भावना करनी चाहिए—

णिट्ठुर-वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ ।
तो लहु भावहि बंभु परु जिं मणु झत्ति विलाइ ।।१८४।।

निष्ठुरवचनं श्रुत्वा जीव यदि मनसि सोढुं न याति ।
ततो लघु भावय ब्रह्म परं येन मनो झटिति विलीयते ।।१८४।।

जइ यदि चेत् **सहण ण जाइ** सोढुं न याति । क्व **मणि** मनसि **जिय** हे मूढ जीव । किं कृत्वा । **सुणेवि** श्रुत्वा । किम् **णिट्ठुरवयणु** निष्ठुरं हृदयकर्णशूलवचनं **तो** तद्वचनश्रवणानन्तरं **लहु** शीघ्रं **भावहि** वीतरागपरमानन्दैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय कम् । **बंभु** ब्रह्मशब्दवाच्यनिजदेहस्थपरमात्मानम् । कथंभूतम् । **परु** परमानन्तज्ञानादि गुणाधारत्वात् परमुत्कृष्टं **जिं** येन परमात्मध्यानेन । किं भवति । **मणु झत्ति विलाइ** वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दैकरूपसुखामृतास्वादेन मनो झटिति शीघ्रं विलयं याति द्रवीभूतं भवतीति भावार्थ: ।।१८४।।

जिय णिट्ठुर-वयणु सुणेवि जइ सहण ण जाइ तो परु बंभु मणि लहु भावहि जिं मणु झत्ति विलाइ ।।१८४।। हे जीव ! निष्ठुर वचन सुनकर यदि उन्हें सहन नही किया जा सके तो कषाय को दूर करने के लिए देह में विराजमान इस परमब्रह्म का शीघ्र ध्यान करो, जिससे मन का विकार शीघ्र ही विलीन हो जाता है। भावार्थ यह है कि वीतरागनिर्विकल्पसमाधि से समुत्पन्न परमानन्द रूप सुखामृत के आस्वाद से मन का विकार-कषायभाव शीघ्र ही विलय को प्राप्त होता है, अत:

कठोर वचन सुनने पर यदि समभाव नहीं बना रह सके तो अनन्तगुणों के धारक परमात्मा का ध्यान करना चाहिए ।।१८४।।

अथ जीवः कर्मवशेन जातिभेदभिन्नो भवतीति निश्चिनोति—

अब यह निश्चित करते हैं कि जीव के कर्म के कारण ही जातिभेद होते हैं—

लोउ विलक्खणु कम्म-वसु इत्थु भवंतरि एइ ।
चुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ इत्थु जि भवि ण पडेइ ।।१८५।।

लोकः विलक्षणः कर्मवशः अत्र भवान्तरे आयाति ।
आश्चर्यं किं यदि अयं आत्मनि स्थितः अत्रैव भवे न पतति ।।१८५।।

लोउ इत्यादि । **विलक्खणु** षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणसदृशो न सर्वजीवराशिसदृशात् परमात्मतत्त्वाद्विलक्षणो विसदृशो भवति । केन । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिजातिभेदेन । कोऽसौ । **लोउ** लोको जनः । कथंभूतः सन् । **कम्मवसु** कर्मरहितशुद्धात्मानुभूतिभावनारहितेन यदुपार्जितं कर्म तस्य कर्मणः अधीनः कर्मवशः । इत्थंभूतः सन् किं करोति । **इत्थु भवंतरि एइ** पञ्चप्रकारभवरहिताद्वीतरागपरमानन्दैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विसदृशे अस्मिन् भवान्तरे संसारे समायाति **चुज्जु कि** इदं किमाश्चर्यं किंतु नैव, **जइ इहु अप्पि ठिउ** यदि चेदयं जीवः स्वशुद्धात्मनि स्थितो भवति तर्हि **इत्थु जि भवि ण पडेइ** अत्रैव भवे न पततीति इदमप्याश्चर्यं न भवतीति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा संसारभयभीतेन भव्येन भवकारणमिथ्यात्वादिपञ्चास्रवान् मुक्त्वा द्रव्यभावास्रवरहिते परमात्मभावे स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ।।१८५।।

विलक्खणु लोउ कम्मवसु इत्थु भवंतरि एइ । इहु जइ अप्पि ठिउ इत्थु जि भवि ण पडेइ कि चुज्जु ।।१८५।। सोलहवानी के स्वर्ण की भाँति केवलज्ञानादि गुणों से समान जो परमात्मतत्त्व है, उससे भिन्न जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातिभेदरूप जीवराशि है, वह कर्मों के कारण है । कर्मों के आधीन जातिभेद है और वे कर्म आत्मज्ञान की भावना से रहित अज्ञानी जीव द्वारा उपार्जित हैं । इनके कारण ही यह जीव ससार मे अनेक जातिभेद धारण करता है । यदि यह जीव स्वशुद्धात्मा मे लगे तो इसी भव मे नही पड़े भ्रमण नही करे, इसमे क्या आश्चर्य है, कुछ भी नही । भावार्थ–जब तक आत्मा निजस्वरूप मे नही रमता तब तक ससार मे परिभ्रमण करता है, लेकिन जब यह आत्मदर्शी हो जाता है तब कर्मोपार्जन के अभाव मे नहीं भटकता । इसमे आश्चर्य कुछ भी नहीं । यहाँ यह व्याख्यान जान कर ससार से भयभीत भव्य पुरुष को ससार के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और इन पाँच आस्रवो को छोडकर द्रव्यभावास्रवरहित परमात्मभाव में ठहर कर निरन्तर परमात्मतत्त्व की ही भावना करनी चाहिए, यह तात्पर्य है ।।१८५।।

अथ परेण दोषग्रहणे कृते कोपो न कर्तव्य इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

यदि कोई अपने दोष ग्रहण करे तो उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए—ऐसा अभिप्राय मन में रख कर यह दोहासूत्र कहते हैं—

अवगुण-गहणइँ महुतणइँ जइ जीवहँ संतोसु ।
तो तहँ सोक्खहँ हेउ हउँ इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥१८६॥

अवगुणग्रहणेन मदीयेन यदि जीवानां संतोषः ।
ततः तेषां सुखस्य हेतुरहं इति मत्वा त्यज रोषम् ॥१८६॥

जइ जीवहं संतोसु यदि चेदज्ञानिजीवानां संतोषो भवति । केन । **अवगुणगहणइं** निर्दोषिपरमात्मनो विलक्षणा ये दोषा अवगुणास्तेषां ग्रहणेन । कथंभूतेन **महुतणइं** मदीयेन **तो तहं सोक्खहं हेउ हउं** यतः कारणान्मदीयदोषग्रहणेन तेषां सुखं जातं ततस्तेषामहं सुखस्य हेतुर्जातः **इउ मण्णिवि चइ रोसु** केचन परोपकारनिरताः परेषां द्रव्यादिकं दत्त्वा सुखं कुर्वन्ति मया पुनर्द्रव्यादिकं मुक्त्वापि तेषां सुखं कृतमिति मत्वा रोषं त्यज । अथवा मदीया अनन्तज्ञानादिगुणा न गृहीतास्तैः किंतु दोषा एव गृहीता इति मत्वा च कोपं त्यज, अथवा ममैते दोषाः सन्ति सत्यमिदमस्य वचनं तथापि रोषं त्यज, अथवा ममैते दोषाः न सन्ति तस्य वचनेन किमहं दोषी जातस्तथापि, क्षमितव्यम्, अथवा परोक्षे दोषग्रहणं करोति न च प्रत्यक्षे समीचीनोऽसौ तथापि क्षमितव्यम्, अथवा वचनमात्रेणैव दोषग्रहणं करोति न च शरीरबाधां करोति तथापि क्षमितव्यम्, अथवा शरीरबाधामेव करोति न च प्राणविनाशं तथापि क्षमितव्यम्, अथवा प्राणविनाशमेव करोति न च भेदाभेदरत्नत्रयभावनाविनाशं चेति मत्वा सर्वतात्पर्येण क्षमा कर्त्तव्येत्यभिप्रायः ॥१८६॥

महुतणइँ अवगुण-गहणइँ जइ जीवहँ संतोसु तो हउँ-तहँ सोक्खहँ हेउ, इउ मण्णिवि रोसु चइ ॥१८६॥ यदि मेरे दोष ग्रहण करने से जीवों को सन्तोष होता है, तो मैं उनके सुख सन्तोष का कारण हुआ, ऐसा मान कर उन अवगुण ग्रहण करने वालों पर गुस्सा करना छोडो । ज्ञानी कोप नहीं करते —वे विचारते हैं कि परोपकारी जन तो धनादि देकर दूसरों को सुखी करते हैं, मैंने तो द्रव्यादि न देकर भी उन्हें सुखी किया है, तो इसके समान और क्या बात हो सकती है अतः गुस्सा नहीं करना चाहिए अथवा मेरे अनन्तज्ञानादिगुण तो उन्होंने नहीं लिए, दोष ही तो लिये हैं, यह मानकर गुस्सा छोड़ना चाहिए । अथवा मुझमें ये दोष हैं और इसका कथन सत्य है तो सत्यवादी पर क्या रोष करना । अथवा ये दोष मुझमें हैं हो नहीं, उसके कहने से क्या मैं दोषी हो गया ? नहीं हुआ अतः क्रोध छोड़कर उस पर क्षमा भाव धारण करना चाहिए । अथवा ऐसा विचारना चाहिए कि वह मेरे दोष मेरे समक्ष तो नहीं कहता, पीठ पीछे कहता है अतः क्षंतव्य है अथवा कदाचित् कोई समक्ष में दोष कहे तो यह विचार करना चाहिए कि वचनमात्र से मेरे दोष ग्रहण करता है, शरीर को तो बाधा नहीं पहुँचाता, ऐसा जानकर क्षमा करना चाहिए । अथवा जो कोई शरीर को भी बाधा पहुँचावे तो ऐसा विचारना चाहिए कि प्राण तो नहीं हरता । अथवा जो कभी कोई प्राणों का भी

विनाश करे तो यह विचार कर क्षमा करना चाहिए कि ये प्राण तो विनाशीक है, विनाशीक वस्तु के चले जाने की क्या बात है। मेरे ज्ञानभाव अविनश्वर है, उसको तो कोई हर नही सकता, इसने तो मेरे बाह्य प्राणो का हरण किया हैं, भेदाभेदरत्नत्रय की भावना का विनाश नही किया, ऐसा जानकर सब प्रकार से क्षमा ही करना चाहिए ॥१८६॥

अथ सर्वचिन्ता निषेधयति युग्मेन—

अब दो दोहो मे सब चिन्ताओ का निषेध करते हैं—

जोइय चिंति म किं पि तुहुँ जइ बीहउ दुक्खस्स ।
तिल-तुस-मित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥१८७॥

योगिन् चिन्तय मा किमपि त्व यदि भीत दु खस्य ।
तिलतुषमात्रमपि शल्य वेदना करोत्यवश्यम् ॥१८७॥

चिंति म चिन्ता मा कार्षीः **किं पि तुहुँ** कामपि त्व **जोइय** हे योगिन् । यदि किम् । **जइ बीहउ** यदि विभेषि । कस्य । **दुक्खस्स** वीतरागतात्त्विकानन्दैकरूपात् पारमार्थिकसुखात्प्रतिपक्षभूतस्य नारकादिदु खस्य । यत कारणात् **तिलतुसमित्तु वि सल्लडा** तिलतुष मात्रमपि शल्य **वेयण करइ अवस्स** वेदना बाधा करोत्यवश्य नियमेन । अत्र चिन्तारहितात्परमात्मन सकाशाद्विलक्षणा या विषयकषायादिचिन्ता सा न कर्तव्या । काण्डादिशल्यमिव दु खकारणत्वादिति भावार्थ ॥१८७॥

जोइय तुहुँ जइ दुक्खस्स वीहउ किं वि म चिंति ! तिल-तुस मित्तु वि सल्लडा अवस्स वेयण करइ ॥१८७॥ हे योगी ! तू जो वीतराग तात्त्विक आनन्द रूप पारमार्थिक सुख के प्रतिपक्षी नरकादिचारो गतियो के दु खो से डरता है तो तू किसी भी प्रकार की चिन्ता मत कर क्योकि तिल-तुस मात्र भी शल्य नियम से पीडा पहुँचाती ही है। भावार्थ—चिन्तारहित आत्मज्ञान से विपरीत जो विषयकषायादि है, उनकी चिन्ता कुछ भी नही करना। चिन्ता दु ख का ही कारण है। जैसे बाँस आदि की जरा सी भी फाँस महादु ख का कारण है, जब वह शल्य निकले, तभी सुख होता है ॥१८७॥

किंच—

अब कहते हैं कि मोक्ष की भी चिन्ता नही करनी चाहिए—

मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ ।
जेण णिवद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ ॥१८८॥[1]

मोक्ष मा चिन्तय योगिन् मोक्षो न चिन्तितो भवति ।
येन निवद्धो जीव मोक्ष करिष्यति तदेव ॥१८८॥

---

१ देखें—पद्मनन्दिपर्चावशति एकत्वसप्ततिक अधिकार गाथा ५३ ।

मोक्खु इत्यादि । **मोक्खु म चिंतहि** मोक्षचिन्तां मा कार्षीस्त्वं **जोइया** हे योगिन् । यतः कारणात् **मोक्खु ण चिंतिउ होइ** रागादिचिन्ताजालरहितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुण-व्यक्तिसहितो मोक्षः चिन्तितो न भवति । तर्हि कथं भवति । **जेण णिबद्धउ जीवडउ** येन मिथ्यात्वरागादिचिन्ताजालोपार्जितेन कर्मणा बद्धो जीवः **सोइ** तदेव कर्म शुभाशुभ-विकल्पसमूहरहिते शुद्धात्मतत्त्वस्वरूपे स्थितानां परमयोगिनां **मोक्खु करेसइ** अनन्त-ज्ञानादिगुणोपलम्भरूपं मोक्षं करिष्यतीति । अत्र यद्यपि सविकल्पावस्थायां विषय-कषायाद्यपध्यानवञ्चनार्थं मोक्षमार्गे भावनादृढीकरणार्थं च "**दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुण संपत्ती होउ मज्झं**" इत्यादि भावना-कर्तव्या तथापि वीतरागनिर्विकल्पपरसमामाधिकाले न कर्तव्येति भावार्थः ।।१८८।।

जोइया मोक्खु म चिंतहि, मोक्खु चिंतिउ ण होइ । जेण जीवडउ णिबद्धउ सोइ मोक्खु करेसइ ।।१८८।। हे योगी ! मोक्ष की भी चिन्ता मत कर । क्योंकि मोक्ष, चिन्ता करने से नहीं होता, रागादि चिन्ताजाल से रहित केवलज्ञानादि अनन्तगुणों की अभिव्यक्ति सहित मोक्ष चिन्ता के त्याग से होता है । जिन मिथ्यात्वरागादि चिन्तासमूहो से उपार्जित कर्मों से यह जीव बँधा हुआ है, वे ही कर्म शुभाशुभविकल्पसमूहरहित शुद्धात्मतत्त्व मे स्थित परमयोगियों की अनन्तज्ञानादिगुणोपलब्धिरूप मोक्ष करेंगे । यद्यपि सविकल्प अवस्था में विषय-कषायादि अपध्यान के निवारण के लिए और मोक्ष मार्ग में परिणाम दृढ करने के लिए ज्ञानीजन ऐसी भावना करते हैं कि—"चतुर्गति के दुःखों का क्षय हो, आठों कर्मों का नाश हो, ज्ञान का लाभ हो, पंचमगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनदेव के गुणों की सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो" तथापि वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधि के काल में यह भावना भी नहीं होती ।।१८८।।

अथ चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्क-मन्तरस्थलं कथ्यते । तद्यथा—

अब चौबीस दोहो के महास्थल में परमसमाधि के व्याख्यान की मुख्यता से छह दोहों का अन्तरस्थल कहते हैं—

परम-समाहि-महा-सरहिँ जे बुड्डहिँ पइसेवि ।
अप्पा थक्कइ विमलु तहँ भव-मल जंति वहेवि ।।१८९।।

परमसमाधिमहासरसि ये मज्जन्ति प्रविश्य ।
आत्मा तिष्ठति विमलः तेषां भवमलानि यान्ति ऊढ्वा ।।१८९।।

जे बुड्डहिं ये केचन पुरुषा मग्ना भवन्ति । क्व । **परमसमाहिमहासरहिं** परम-समाधिमहासरोवरे । किं कृत्वा मग्ना भवन्ति । **पइसेवि** प्रविश्य सर्वात्मप्रदेशैरवगाह्य **अप्पा थक्कइ** चिदानन्दैकस्वभावः परमात्मा तिष्ठति । कथंभूतः । **विमलु** द्रव्यकर्मनो-

कर्ममतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायमलरहितः **तहं** तेषां परमसमाधिरत-पुरुषाणां **भवमल जंति** भवरहितात् शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणानि यानि कर्माणि भवमल-कारणभूतानि गच्छन्ति । किं कृत्वा । **बहेवि** शुद्धपरिणामनोरप्रवाहेण ऊढ्वेति भावार्थः ॥१८९॥

जे परमसमाहिमहासरहिं पइसेवि बुड्डहिं, अप्पा थक्कइ विमलु तहँ भवमल बहेवि जंति ॥१८९॥ जो कोई महापुरुष परमसमाधिरूप महासरोवर मे घुसकर सर्वात्मप्रदेशो से अवगाहन कर उसमें लीन हो जाते हैं, उन्ही के चिदानन्द अखण्ड स्वभाव आत्मा का ध्यान स्थिर होता है। वह आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, मतिज्ञानादि विभावगुण और नरनारकादि विभाव पर्यायमल से रहित है। जो योगी परमसमाधि मे रत है उन्ही के शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत भव-मल के कारणभूत जो कर्म हैं, वे सब शुद्धात्मपरिणाम रूप जल के प्रवाह मे वह जाते हैं। यह भावार्थ है ॥१८९॥

सयल-वियप्पहँ जो विलउ परम-समाहि भणंति ।
तेण सुहासुह-भावडा मुणि सयलवि मेल्लंति ॥१९०॥

सकलविकल्पानां यः विलय. (तं) परमसमाधिं भणन्ति ।
तेन शुभाशुभभावान् मुनयः सकलानपि मुञ्चन्ति ॥१९०॥

भणंति कथयन्ति । के ते । वीतरागसर्वज्ञाः । कं भणन्ति । **परमसमाहि** वीत-रागपरमसामायिकरूपं परमसमाधिकं **जो विलउ** यं विलयं विनाशम् । केषाम् । **सयल-वियप्पहं** निर्विकल्पात्परमात्मस्वरूपात्प्रतिकूलानां समस्तविकल्पानां **तेण** तेन कारणेन **मेल्लंति** मुञ्चन्ति । के कर्तारः । **मुणि** परमाराध्यध्यानरतास्तपोधनाः । कान् मुञ्चन्ति । **सुहासुहभावडा** शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितान् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतान् शुभाशुभ-भावान् परिणामान् । कतिसंख्योपेतान् । **सयल वि** समस्तानपि । अयं भावार्थः । समस्तपरद्रव्याशारहितात् स्वशुद्धात्मस्वभावाद्विपरीता या आशापीहलोकपरलोकाशा यावत्तिष्ठति मनसि तावद् दु.खी जीव इति ज्ञात्वा सर्वपरद्रव्याशारहितशुद्धात्मद्रव्य-भावना कर्तव्येति । तथा चोक्तम्––**"आसापिसायगहिओ जीवो पावेइ दारुणं दुक्ख । आसा जाहं णियत्ता ताहं णियत्ताइं सयलदुक्खाइं ॥"** ॥१९०॥

जो सयलवियप्पहँ विलउ परमसमाहि भणंति तेन मुणि सयलवि सुहासुह-भावडा मेल्लंति ॥१९०॥ जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप से प्रतिकूल रागादि समस्त विकल्पो के विलय-नाश को वीतरागपरमसामायिकरूप परमसमाधि कहते हैं, इस परमसमाधि से मुनिगण-परमाराध्यध्यानरत तपोधन सभी शुभाशुभभावों को छोड़ देते है। **भावार्थ**–समस्त पर-द्रव्यो की आशा से रहित निज-शुद्धात्म स्वभाव से विपरीत जो इस लोक-परलोक की आशा है, वह जव तक मन में स्थित है, तव तक यह जीव दु खी है। ऐसा जानकर सव पर-द्रव्याशा से रहित निजशुद्धात्मद्रव्य की भावना करनी

चाहिए। कहा भी है—"आशारूपी पिशाच से ग्रस्त यह जीव दारुण दुःख पाता है। जिन्होने आशा छोड़ी, उन्होने सब दुःख दूर कर दिये।" ॥१६०॥

घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु।
परम-समाहि-विवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु ॥१६१॥

घोरं कुर्वन् अपि तपश्चरण सकलान्यपि शास्त्राणि जानन्।
परमसमाधिविवर्जितः नैव पश्यति शिवं शान्तम् ॥१६१॥

करंतु वि कुर्वाणोऽपि। किम्। **तवचरणु** समस्तपरद्रव्येच्छावर्जितं शुद्धात्मानुभूतिरहितं तपश्चरणम्। कथंभूतम्। **घोरु** घोरं दुर्धरं वृक्षमूलातापनादिरूपम्। न केवलं तपश्चरणं कुर्वन्। **सयल वि सत्थ मुणंतु** शास्त्रजनितविकल्पतात्पर्यरहितात् परमात्मस्वरूपात् प्रतिपक्षभूतानि सर्वशास्त्राण्यपि जानन्। इत्थंभूतोऽपि सन् **परमसमाहि-विवज्जियउ** यदि चेद्रागादिविकल्परहितपरमसमाधिविवर्जितो भवति तर्हि **णवि देक्खइ** न पश्यति। कम्। **सिउ** शिवं शिवशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं स्वदेहस्थमपि च परमात्मानम्। कथंभूतम्। **संतु** रागद्वेषमोहरहितत्वेन शान्तं परमोपशमरूपमिति। इदमत्र तात्पर्यम्। यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञानसाधकं च पठति सदा परंपरया मोक्षसाधकं भवति, नो चेत् पुण्यबन्धकारणं तमेवेति। निर्विकल्पसमाधिरहिताः सन्तः आत्मरूपं न पश्यन्ति। तथा चोक्तम्—**"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम्। ध्यानहीना न पश्यन्ति जात्यन्धा इव भास्करम् ॥"**१६१॥

घोरु तवचरणु करंतु वि सयल वि सत्थ मुणंतु परमसमाहि–विवज्जियउ संतु सिउ णवि देक्खइ ॥१६१॥ जो घोर तपश्चरण करते हुए और सकल शास्त्रों को जानते हुए भी परमसमाधि से रहित है वह शान्त शुद्धात्मा को नही देख सकता है। **भावार्थ**–समस्त परद्रव्य की इच्छा से रहित शुद्धात्मानुभूति रूप तप के अभाव में कायक्लेश रूप—शीतकाल में नदी किनारे, ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर और वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे—महान् दुर्धर तप करता है और केवल तप ही नही करता अपितु निर्विकल्प परमात्मस्वरूप से रहित हुआ सब शास्त्रों को भी जानता है परन्तु रागादि-विकल्परहित परमसमाधि से रहित है तो फिर वह शिव शब्द से वाच्य विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव वाले स्वदेहस्थ परमात्मा को नही देख सकता। तात्पर्य यह है कि यदि 'निजशुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसा मान कर उसके साधनभूत अनुकूल तपश्चरण करता है और तप के परिज्ञान मे साधक शास्त्र पढता है, तो वह परम्परा से मोक्ष का साधक है, नही तो ये सब पुण्यबन्ध के ही कारण होते है। निर्विकल्पसमाधि से रहित सन्त आत्मस्वरूप को नही देख पाते है। कहा भी है—"ब्रह्म का रूप आनन्द है, वह ब्रह्म निजदेह में व्यवस्थित है परन्तु ध्यान मे रहित जीव ब्रह्म को उसी प्रकार नही देख सकते जिस प्रकार जन्मान्ध सूर्य को नही देख सकते।" ॥१६१॥

अथ—

अब विषय-कषायों का निषेध करते हैं—

विसय-कसाय वि णिद्दलिवि जे ण समाहि करंति ।
ते परमप्पहँ जोइया णवि आराहय होंति ।।१६२।।

विषयकषायानपि निर्दल्य ये न समाधिं कुर्वन्ति ।
ते परमात्मनः योगिन् नैव आराधका भवन्ति ।।१६२।।

जे ये केचन **ण करंति** न कुर्वन्ति । कम् । **समाहि** त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिम् । किं कृत्वा पूर्वम् । **णिद्दलिवि** निर्मूल्य । कानपि **विसयकसाय वि** निर्विषयकषायात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतान् विषयकषायानपि **ते णवि आराहय होंति** ते नैवाराधका भवन्ति **जोइया** हे योगिन् । कस्याराधका न भवन्ति । **परमप्पहं** निर्दोषिपरमात्मन इति । तथाहि । विषयकषायनिवृत्तिरूपं शुद्धात्मानुभूतिस्वभावं वैराग्यं, शुद्धात्मोपलब्धिरूपं तत्त्वविज्ञानं, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागरूपं नैर्ग्रन्थ्यं, निश्चिन्तात्मानुभूतिरूपा वशचित्तता, वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबहिरङ्गसहकारिभूतं जितपरीषहत्वं चेति पञ्चैतान् ध्यानहेतून् ज्ञात्वा भावयित्वा च ध्यानं कर्तव्यमिति भावार्थः । तथा चोक्तम्—**"वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं वशचित्तता । जितपरीषहत्वं च पञ्चैते ध्यानहेतवः ।।"** ।।१६२।।

जे विसय-कसाय वि णिद्दलिवि समाहि ण करंति ते जोइया परमप्पहँ आराहय णवि होंति ।।१६२।। जो विषयकषायों का निर्दलन करके तीन गुप्तिरूप परमसमाधि को धारण नही करते वे हे योगी ! परमात्मा के आराधक नहीं है । विषयकषाय की निवृत्तिरूप शुद्धात्मानुभूति **वैराग्य** मे ही होती है अतः ध्यान का मुख्य कारण वैराग्य है । शुद्धात्मोपलब्धिरूप **तत्त्वविज्ञान,** बाह्याभ्यन्तर-परिग्रह परित्याग रूप **निर्ग्रन्थता,** निश्चिन्त आत्मानुभूति रूप **वशचित्तता** (मन को वश में करना), वीतरागनिर्विकल्प समाधि का बहिरग सहकारी भूत **परीषहजय**—ये पाँच ध्यान के कारण जान कर, इनकी भावना कर ध्यान करना चाहिए, यह **भावार्थ** है । कहा भी है—"वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, परिग्रह का त्याग, मन को वश मे करना और परीषहों को जीतना—ये पाँच आत्मध्यान के कारण है ।" ।।१६२।।

अथ—

अब परमसमाधि की महिमा कहते हैं—

परम-समाहि धरेवि मुणि जे परबंभु ण जंति ।
ते भव-दुक्खइँ बहुविहइँ कालु अणंतु सहंति ।।१६३।।

परमसमाधिं धृत्वापि मुनयः ये परब्रह्म न यान्ति ।
ते भवदुःखानि बहुविधानि कालं अनन्तं सहन्ते ।।१६३।।

जे ये केचन **मुणि** मुनयः **ण जंति** न गच्छन्ति । कं कर्मतापन्नम् । **परबंभु** परमब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं निजदेहस्थं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावं परमात्मस्वरूपम् । किं कृत्वा पूर्वम् । **परमसमाहि धरेवि** वीतरागतात्त्विकचिदानन्दैकानुभूतिरूपं परमसमाधिं धृत्वा **ते** पूर्वोक्तशुद्धात्मभावनारहिताः पुरुषाः **सहंति** सहन्ते । कानि कर्मतापन्नानि । **भवदुक्खइं** वीतरागपरमाह्लादरूपात् पारमार्थिकसुखात् प्रतिपक्षभूतानि नरनारकादिभवदुःखानि । कतिसंख्योपेतानि । **बहुविहइं** शारीरमानसादिभेदेन बहुविधानि । कियन्तं कालम् । **कालु अणंतु** अनन्तकालपर्यन्तमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निजशुद्धात्मनि स्थित्वा रागद्वेषादिसमस्तविभावत्यागेन भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१९३॥

जे मुणि परमसमाहि धरेवि परबंभु ण जंति, ते बहुविहइँ भवदुक्खइँ अणंतु कालु सहंति ॥१९३॥ जो कोई मुनि वीतरागतात्त्विक चिदानन्द अखण्ड अनुभूतिरूप परम समाधि को धारण कर के भी निजदेह में स्थित केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप निज आत्मा को नही जानते हैं, वे पूर्वोक्त शुद्धात्मभावना से रहित पुरुष पारमार्थिक सुख के विपरीत आधिव्याधि रूप दुखों को नर-नारकादि पर्यायों में अनन्तकाल तक भोगते रहते है। मानसिक दुःख को आधि और शारीरिक दुःख को व्याधि कहते है। यहाँ ऐसा व्याख्यान जान कर निज शुद्धात्मा में स्थिर होकर रागद्वेषादिसमस्त विभाव भावों का त्याग कर निजस्वरूप की भावना करनी चाहिए ॥१९३॥

जामु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुट्टंति ।
परम-समाहि ण तामु मणि केवुलि एमु भणंति ॥१९४॥

यावत् शुभाशुभभावाः नैव सकला अपि त्रुटयन्ति ।
परमसमाधिन तावत् मनसि केवलिन एव भणन्ति ॥१९४॥

जामु इत्यादि । **जामु** यावत्कालं **णवि तुट्टंति** नैव नश्यन्ति । के कर्तारः । **सुहासुहभावडा** शुभाशुभविकल्पजालरहितात् परमात्मद्रव्याद्विपरीताः शुभाशुभभावाः । परिणामा कतिसंख्योपेता अपि । **सयल वि** समस्ता अपि **तामु ण** तावत्कालं न । कोऽसौ । **परमसमाहि** शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः शुद्धोपयोगलक्षणः परमसमाधिः । क्व । **मणि** रागादिविकल्परहितत्वेन शुद्धचेतसि **केवुलि एमु भणंति** केवलिनो वीतरागसर्वज्ञा एवं कथयन्तीति भावार्थः ॥१९४॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिप्रतिपादकसूत्रषट्केन प्रथममन्तरस्थल गतम् ।

जामु सयल वि सुहासुह भावडा णवि तुट्टंति, तामु मणि परमसमाहि ण, केवुलि एमु भणंति ॥१९४॥ जब तक समस्त शुभाशुभ विकल्पजाल से रहित परमात्मद्रव्य से विपरीत शुभाशुभभाव दूर न हों तब तक रागादिविकल्प से रहित शुद्ध चित्त में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप शुद्धोपयोग

लक्षण वाली परमसमाधि नहीं हो सकती है, केवली वीतरागसर्वज्ञ भगवन्त ऐसा कहते हैं। यह **भावार्थ है** ।।१९४।। इस प्रकार चौबीस दोहा-प्रमाण महास्थल मे परमसमाधि के प्रतिपादक छह दोहो का प्रथम अन्तरस्थल पूर्ण हुआ।

तदनन्तरमर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरित्येकोऽर्थः तस्य चतुर्विधनामाभिधेयस्यार्हत्पदस्य प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा–

तदनन्तर अर्हत्पद कहो, चाहे भावमोक्ष कहो, चाहे जीवन्मोक्ष कहो, चाहे केवलज्ञान की उत्पत्ति कहो—सबका एक ही अर्थ है, इसप्रकार चतुर्विध नाम वाले अर्हत्पद के प्रतिपादन की मुख्यता से तीन दोहे कहते हैं—

सयल-वियप्पहँ तुट्टाइँ सिव-पय-मग्गि वसंतु।
कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ।।१९५।।

सकलविकल्पानां त्रुटचतां शिवपदमार्गे वसन्।
कर्मचतुष्के विलयं गते आत्मा भवति अर्हन् ।।१९५।।

हुइ भवति। कोऽसौ। **अप्पा** आत्मा। कथंभूतो भवति। **अरहंतु** अरिर्मोहनीयं कर्म तस्य हननाद् रजसी ज्ञानदृगावरणे तयोरपि हननाद् रहस्यशब्देनान्तरायस्तदभावाच्च देवेन्द्रादिविनिर्मितामतिशयवती पूजामर्हतीत्यर्हन्। कस्मिन् सति। **कम्मचउक्कइ विलउ गइ** घातिकर्मचतुष्के विलयं गते सति। किं कुर्वन् सन् पूर्वम्। **सिवपयमग्गि वसंतु** शिवशब्दवाच्यं यन्मोक्षपदं तस्य योऽसौ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयैकलक्षणो मार्गस्तस्मिन् वसन् सन्। केषां सताम्। **सयलवियप्पहं तुट्टाहं** समस्तविकल्पानां नष्टानां समस्तरागादिविकल्पविनाशादनन्तरं भवतीति भावार्थः।

सयल वियप्पहँ तुट्टाइँ, सिवपयमग्गि वसंतु, कम्म चउक्कइ विलउ गइ अप्पा अरहंतु हुइ ।।१९५।। समस्त रागादि विकल्पो का नाश करते हुए, मोक्षपद के मार्गरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में ठहरते हुए, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का विलय हो जाने पर आत्मा अर्हन्त होती है। **भावार्थ**–[1]अरि-मोहनीय कर्म के नाश से, रज रूप ज्ञानावरण और दर्शनावरण के नाश से और रहसि शब्द से अन्तराय के अभाव से, देवेन्द्रादि विनिर्मित अतिशयवती पूजा के जो योग्य हो, वह अर्हन्त होता है। यह अर्हन्त पद रागादि विकल्पो के नाश से और निर्विकल्पध्यान के प्रसाद से केवलज्ञान होने पर होता है। केवलज्ञानी का नाम अर्हन्त है, चाहे उसे जीवनमुक्त कहो, चाहे भावमोक्ष कहो। चार अघातिया कर्मों का नाश कर सिद्ध होने पर 'विदेह मोक्ष' कहा जाता है ।।१९५।।

१. 'अरि-रज-रहस विहीन'—दर्शनपाठ · दौलतराम।

अथ—

अब केवलज्ञान की महिमा कहते हैं—

केवल-णाणिं अणवरउ लोयालोउ मुणंतु ।
णियमें परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहंतु ॥१९६॥

केवलज्ञानेनानवरतं लोकालोकं जानन् ।
नियमेन परमानन्दमयः आत्मा भवति अर्हन् ॥१९६॥

हुइ भवति । कोऽसौ । अप्पा आत्मा । कथंभूतो भवति । **अरहंतु** पूर्वोक्तलक्षणो अर्हन् । किं कुर्वन् । **लोयालोउ मुणंतु** क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन कालत्रयविषयं लोकालोकं वस्तु वस्तुस्वरूपेण युगपत् जानन् सन् । केन । **केवलणाणिं** लोकालोकप्रकाशकसकलविमलकेवलज्ञानेन । कथम् । **अणवरउ** निरन्तरम् । किंविशिष्टो भवति भगवान् । **परमाणंदमउ** वीतरागपरमसमरसीभावलक्षणतात्त्विकपरमानन्दमयः । केन । **णियमें** निश्चयेन अत्र संदेहो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥१९६॥

केवलणाणिं अणवरउ लोयालोउ मुणंतु णियमें परमाणंदमउ अप्पा अरहंतु हुइ ॥१९६॥ केवलज्ञान से लोक-अलोक को निरन्तर जानता हुआ निश्चय से परमानन्दमयी यह आत्मा अरहन्त होता है। भावार्थ–समस्तलोकालोक को एक ही समय में केवलज्ञान से जानता हुआ अरहंत कहलाता है। अरहन्त का ज्ञान जानने के क्रम से रहित होता है और विना साधन के प्रत्यक्ष जानता है। एक ही समय में त्रिकालवर्ती लोकालोक के सभी पदार्थों को एक साथ जानता है। वे केवली भगवान वीतराग परमसमरसी भाव रूप परमानन्द अतीन्द्रिय अविनाशी सुख में परिपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१९६॥

अथ—

अब कहते हैं कि केवलज्ञान ही आत्मा का निजस्वभाव है और केवली को ही परमात्मा कहते हैं—

जो जिणु केवल-णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
सो परमप्पउ परम-परु सो जिय अप्प-सहाउ ॥१९७॥

यः जिनः केवलज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।
सः परमात्मा परमपरः स जीव आत्मस्वभावः ॥१९७॥

जो इत्यादि । **जो** यः **जिणु** अनेकभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः । कथंभूतः । **केवलणाणमउ** केवलज्ञानाविनाभूतानन्तगुणमयः । पुनरपि कथंभूतः । **परमाणंदसहाउ** इन्द्रियविषयातीतः स्वात्मोत्थः रागादिविकल्परहितः परमानन्द-

स्वभावः **सो परमप्पउ** स पूर्वोक्तोऽर्हन्नेव परमात्मा **परमपरु** प्रकृष्टानन्तज्ञानादिगुणरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः संसारिभ्यः पर उत्कृष्टः इत्युच्यते परमश्चासौ परश्च परमपरः **सो** स पूर्वोक्तो वीतरागः सर्वज्ञः **जिय** हे जीव **अप्पसहाउ** आत्मस्वभाव इति । अत्र योऽसौ पूर्वोक्तभणितो भगवान् स एव संसारावस्थायां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण जिन इत्युच्यते । केवलज्ञानावस्थायां व्यक्तिरूपेण च । तथैव च परमब्रह्मादिशब्दवाच्यः स एव तदग्रे स्वयमेव कथयति । निश्चयनयेन सर्वे जीवा जिनस्वरूपाः जिनोऽपि सर्वजीवस्वरूप इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—"**जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ । सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ ।।**" ।।१९७।। एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये अर्हदवस्थाकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण द्वितीयमन्तरस्थलं गतम् ।

जिय ! जो जिणु केवलणाणमउ परमाणंद सहाउ सो परमप्पउ परमपरु सो अप्पसहाउ ।।१९७।। जो अनन्त संसाररूपी वन में भ्रमण के कारणभूत ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाला है, केवलज्ञानादि अनन्त गुणमयी है और इन्द्रियविषयो से रहित, रागादि विकल्पों से रहित परमानन्द स्वभावी है, ऐसा जिनेश्वर केवलज्ञानमयी अरहंतदेव ही उत्कृष्ट अनन्त ज्ञानादि गुणरूप लक्ष्मी वाला परमात्मा है । वही संसारियों से उत्कृष्ट है, ऐसा जो भगवान् वह तो व्यक्तिरूप है और वह आत्मा का ही स्वभाव है । यहाँ यह पूर्वकथित भगवान् ही ससारावस्था में निश्चयनय से शक्तिरूप से विराजमान है और केवलज्ञानावस्था में व्यक्तिरूप से । द्रव्यार्थिक नय से जैसे भगवान् हैं वैसे ही सव जीव हैं । सभी जीव जिन समान है और जिनराज भी सव जीवो के समान है ।कहा भी है—जो सम्यग्दृष्टि जीवो को जिनवर जाने और जिनवर को जीव जाने, (दोनों की जीव जाति एक ही है, जीव और जिनवर में जातिभेद नही है), वही समभाव में स्थित होकर शीघ्र निर्वाण प्राप्त करते हैं ।" ।।१९७।। इस प्रकार २४ दोहो प्रमाण महास्थल में अरहन्तदेव के कथन की मुख्यता से तीन दोहों में दूसरा अन्तरस्थल कहा ।

अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशशब्दस्यार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

अब आगे परमात्मप्रकाश शब्द के अर्थ के कथन की मुख्यता से तीन दोहे कहते है—

सयलहँ कम्महँ दोसहँ वि जो जिणु देउ विभिण्णु ।
सो परमप्प-पयासु तुहुँ जोइय णियमें मण्णु ।।१९८।।

सकलेभ्य कर्मभ्यः दोषेभ्यः अपि यो जिन देव विभिन्न ।
तं परमात्मप्रकाशं त्व योगिन् नियमेन मन्यस्व ।।१९८।।

सो तं **परमप्पपयासु** परमात्मप्रकाशसंज्ञं **तुहुँ** त्वं कर्ता **मण्णु** मन्यस्व जानीहि **जोइय** हे योगिन् **णियमें** निश्चयेन । स कः । **जो जिणु देउ** यो जिनदेव. । किंविशिष्टः ।

विभिण्णु विशेषेण भिन्नः । केभ्यः । **सयलहं कम्महं** रागादिरहितचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो यानि भिन्नानि सर्वकर्माणि तेभ्यः । न केवलं कर्मभ्यो भिन्नः । **दोसहं वि** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य परमात्मनो येऽनन्तज्ञानसुखादिगुणास्तत्प्रच्छादका ये दोपास्तेभ्योऽपि भिन्न इत्यभिप्रायः ॥१६८॥

जोइय ! सयलहँ कम्महँ दोसहँ वि विभिण्णु जो जिणु देउ सो तुहुँ णियमें परमप्पपयासु मण्णु ॥१६८॥ हे योगी ! ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से और क्षुधादि अठारह दोपों से रहित जो जिनेश्वरदेव हैं उनको तू निश्चय से परमात्मप्रकाश मान । अर्थात् निर्दोष जिनेन्द्रदेव ही परमात्मप्रकाश है । भावार्थ–रागादि रहित चिदानन्दस्वभाव परमात्मा से भिन्न जो सर्व कर्म हैं, भगवान इनसे मुक्त हैं और न केवल कर्मों से मुक्त है अपितु ज्ञायक स्वभाव आत्मा के अनन्तज्ञानादि गुणों के आच्छादक दोपों से भी रहित है, वे ही सर्वज्ञ परमात्म प्रकाश हैं ॥१६८॥

केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु ।
सो जिण-देउ वि परम-मुणि परम-पयासु मुणंतु ॥१६९॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं य एव अनन्तम् ।
स जिनदेवोऽपि परममुनिः परमप्रकाशं जानन् ॥१६९॥

सो जिणदेउ वि स जिनदेवोऽपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति **परममुणि** परम उत्कृष्टो मुनिः प्रत्यक्षज्ञानी । किं कुर्वन् सन् । **मुणंतु** मन्यमानो जानन् सन् । कम् । **परमपयासु** परममुत्कृष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशस्तं परमप्रकाशम् । स कः । **केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि** केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं य एव । कथंभूतं तत् केवलज्ञानादिचतुष्टयम् । **अणंतु** युगपदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावपरिच्छेदकत्वादविनश्वरत्वाच्चानन्तमिति भावार्थः ॥१६९॥

केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु सो जिणदेउ वि परममुणि परमपयासु मुणंतु ॥१६९॥ केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये अनन्त चतुष्टय जिसके हैं, वही जिनदेव है, वही परममुनि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी है, उत्कृष्ट लोकालोक का प्रकाशक जो केवलज्ञान वही जिसके परमप्रकाश है, उमसे सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव को जानते हुए परमप्रकाशक है । ये केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय एक ही समय में अनन्तद्रव्य, अनन्तक्षेत्र, अनन्तकाल और अनन्त भावों को जानते हैं, इसलिए अनन्त हैं, अविनश्वर हैं, यह भावार्थ है ।

जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु ।
परम पयासु भणंति मुणि सो जिण-देउ विसुद्धु ॥२००॥

यः परमात्मा परमपदः हरिः हरः ब्रह्मापि बुद्धः ।
परमप्रकाशः भणन्ति मुनयः स जिनदेवो विशुद्धः ॥२००॥

भणति कथयन्ति । के ते **मुणि** मुनय प्रत्यक्षज्ञानिन । कथभूत भणन्ति **परम-पयासु** परमप्रकाश । य कथभूत । **जो परमप्पउ** य परमात्मा । पुनरपि कथभूत । **परमपउ** परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वेन परमपदस्वभाव । किंविशिष्ट । **हरि** हरि-सज्ञ **हरु** महेश्वराभिधान **बभु वि** परमब्रह्माभिधानोऽपि **बुद्ध** बुद्ध सुगतसज्ञ **सो जिणदेउ** स एव पूर्वोक्त परमात्मा जिनदेव । किंविशिष्ट । **विसुद्ध** समस्तरागादि-दोषपरिहारेण शुद्ध इति । अत्र य एव परमात्मप्रकाशसज्ञो निर्दोषपरमात्मा व्याख्यात स एव परमात्मा, स एव परमपद , स एव विष्णुसज्ञ , स एवेश्वराभिधान , स एव ब्रह्म-शब्दवाच्य , स एव सुगतशब्दाभिधेय , स एव जिनेश्वर , स एव विशुद्ध इत्याद्यष्टाधिक-सहस्रनामाभिधेयो भवति । नानारुचीना जनाना तु कस्यापि केनापि विवक्षितेन नाम्ना-राध्य स्यादिति भावार्थ । तथा चोक्तम्—**"नामाष्टकसहस्रेण युक्तं मोक्षपुरेश्वरम्"** इत्यादि ॥२००॥ एव चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशशब्दार्थकथन-मुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण तृतीयमन्तरस्थल गतम् ।

जो परमप्पउ मुणि परमपउ हरिहरु बमु वि बुद्धु परमपयासु भणति सो विसुद्धु जिणदेउ ॥२००॥ जिस परमात्मा को मुनि परमपद, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, बुद्ध और परमप्रकाश नाम से कहते हैं, वह रागादिरहित शुद्ध जिनदेव ही है, ये सब नाम उसी के हैं । *भावार्थ*– यहाँ जो परमात्मप्रकाश सज्ञा मे निर्दोषपरमात्मा कहा गया है, वही परम आत्मा है, वही (परम अनन्तज्ञानादि गुणो का आधार होने से)परमपद है, वही विष्णु है, वही महेश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही बुद्ध है, वही जिनेश्वर है और वही (समस्त रागादि दोषो के परिहार से) विशुद्ध है, इसप्रकार एक हजार आठ नाम वाला वह अरहतदेव ही है । नानारुचियो वाले मनुष्य नाना नामो से उनकी आराधना करते है । कहा भी है—"वह मोक्षपुर का स्वामी १००८ नामो वाला है ।" ॥२००॥ इस प्रकार चौवीस दोहो के महास्थल मे परमात्मप्रकाश शब्द के अर्थ की मुख्यता से तीन दोहो मे तीसरा अन्तरस्थल कहा ।

तदनन्तर सिद्धस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्त व्याख्यान करोति तद्यथा—

अव सिद्धस्वरूप के कथन की मुख्यता मे तीन दोहो मे व्याख्यान करते है—

झाणें कम्म-क्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणतु ।
जिणवरदेवइँ सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महतु ॥२०१॥

ध्यानेन कर्मक्षय कृत्वा मुक्तो भवति अनन्त ।
जिनवरदेवेन स एव जीव प्रभणित सिद्धो महान् ॥२०१॥

पभणिउ प्रभणित कथित । केन कर्तृभूतेन । **जिणवरदेवइ** जिनवरदेवेन । कोऽसौ भणित । **सिद्ध** सिद्ध । कथभूत **महतु** महापुरुषाराधितत्वात् केवलज्ञानादि-महागुणाधारत्वाच्च महान् । क एव । **सो जि** स एव । स क योऽसौ **मुक्कउ होइ**

ज्ञानावरणादिभिः कर्मभिर्मुक्तो रहितः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणसहितश्च जिय हे जीव । कथंभूतः । अणंतु न विद्यतेऽन्तो विनाशो यस्य स भवत्यनन्तः । किं कृत्वा पूर्वं मुक्तो भवति । कम्मक्खउ करिवि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावादात्मद्रव्याद्विलक्षणं यदार्तरौद्रध्यानद्वयं तेनोपार्जितं यत्कर्म तस्य क्षयः कर्मक्षयस्तं कृत्वा । केन । झाणें रागादिविकल्परहितस्वसंवेदन ज्ञानलक्षणेन ध्यानेनेति तात्पर्यम् ॥२०१॥

जिय ! झाणें कम्मक्खउ करिवि मुक्कउ अणंतु होइ । जिणवरदेवइँ सो जि महंतु सिद्ध पभणिउ ॥२०१॥ हे जीव ! शुक्लध्यान से कर्मों का क्षय करके जो मुक्त और अविनाशी होता है, उसे ही जिनवर देव ने सबसे महान् सिद्ध कहा है । भावार्थ–महापुरुषों के द्वारा आराधित होने से और केवलज्ञानादि महान् गुणों के धारण करने से जो महान् हैं, जो ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित हैं और सम्यक्त्वादि आठ गुणों (क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व) से युक्त हैं ; जिन्होंने विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव जो आत्मद्रव्य उससे विपरीत जो आर्त्त रौद्र खोटे ध्यान हैं उनसे उत्पन्न शुभ-अशुभ कर्म का शुक्लध्यान से क्षय कर मोक्ष पा लिया है, वे सिद्ध परमेष्ठी हैं ॥२०१॥

अथ—

पुनः सिद्धों की महिमा कहते हैं—

अण्णु वि बंधु वि तिहुयणहँ सासय-सुक्ख-सहाउ ।
तित्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ॥२०२॥

अन्यदपि बन्धुरपि त्रिभुवनस्य शाश्वतसौख्यस्वभावः ।
तत्रैव सकलमपि कालं जीव निवसति लब्धस्वभावः ॥२०२॥

अण्णु वि इत्यादि । अण्णु वि अन्यदपि पुनरपि स पूर्वोक्तः सिद्धः । कथंभूतः । बंधु वि बन्धुरेव । कस्य । तिहुयणहं त्रिभुवनस्थभव्यजनस्य । पुनरपि किं विशिष्टः । सासयसुक्खसहाउ रागादिरहिताव्याबाधशाश्वतसुखस्वभावः । एवंगुणविशिष्टः सन् किं करोति स भगवान् । तित्थु जि तत्रैव मोक्षपदे णिवसइ निवसति । कथंभूतः सन् लद्धसहाउ लब्धशुद्धात्मस्वभावः कियत्कालं निवसति । सयलु वि कालु समस्तमप्यनन्तानन्तकालपर्यन्तं जिय हे जीव इति । अत्रानेन समस्तकालग्रहणेन किमुक्तं भवति । ये केचन वदन्ति मुक्तानां पुनरपि संसारे पतनं भवति तन्मतं निरस्तमिति भावार्थः ॥२०२॥

जिय ! अण्णु वि तिहुयणहँ बंधु वि, सासयसुक्खसहाउ, तित्थु जि लद्धसहाउ सयलु वि कालु णिवसइ ॥२०२॥ हे जीव ! वे सिद्ध भगवान् तीन लोक के प्राणियों का हित करने वाले हैं और जिनका स्वभाव अविनाशी सुख है और उसी शुद्ध क्षेत्र में निज स्वभाव को पाकर सदा काल निवास करते हैं, फिर चतुर्गति में नहीं लौटेंगे । भावार्थ–सिद्धपरमेष्ठी त्रिभुवनस्थ भव्यजीवों के हितकारी हैं,

उनका रागादिरहित अव्यावाध अविनाशी सुख-स्वभाव है। ऐसे अनन्त गुणरूप वे भगवान् सदा मोक्ष में विराजते हैं। उन्होंने शुद्ध आत्मस्वभाव प्राप्त कर लिया है अतः वे अनन्त काल पर्यन्त मोक्षपद में ही रहेंगे, कभी ससार में नही आवेंगे। यहाँ अनन्त काल कहने से क्या प्रयोजन है? इसके कहने का प्रयोजन है जो कोई ऐसा कहते है कि मुक्त जीवों का भी संसार मे पतन होता है, सो उनका कहना खण्डित किया गया ॥२०२॥

जम्मण-मरण-विवज्जियउ चउ-गइ-दुक्ख-विमुक्कु।
केवल-दंसण-णाणमउ णंदइ तित्थु जि मुक्कु ॥२०३॥

जन्ममरणविवर्जितः चतुर्गतिदु.खविमुक्तः।
केवलदर्शनज्ञानमयः नन्दति तत्रैव मुक्त. ॥२०३॥

पुनरपि कथंभूतः स भगवान्। **जम्मणमरणविवज्जियउ** जन्ममरणविवर्जितः। पुनरपि किंविशिष्टः। **चउगइदुक्खविमुक्कु** सहजशुद्धपरमानन्दैकस्वभावं यदात्मसुखं तस्माद्विपरीतं यच्चतुर्गतिदु.खं तेन विमुक्तो रहितः। पुनरपि किंस्वरूपः। **केवलदंसण-णाणमउ** क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थानां प्रकाशककेवलदर्शन-ज्ञानाभ्यां निर्वृत्त· केवलदर्शनज्ञानमयः। एवंगुणविशिष्टः सन् किं करोति। **णंदइ** स्व-कीयस्वाभाविकानन्तज्ञानादिगुणैः सह नन्दति वृद्धिं गच्छति। क्व। **तित्थु जि** तत्रैव मोक्षपदे। पुनरपि किंविशिष्टः सन्। **मुक्कु** ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मनिर्मुक्तो रहितः अव्या-बाधाद्यनन्तगुणैः सहितश्चेति भावार्थः ॥२०३॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण चतुर्थमन्तरस्थलं गतम्।

जम्मण-मरण-विवज्जियउ चउ-गइ-दुक्ख विमुक्कु, केवल-दंसण-णाणमउ मुक्कु तित्थु जि णंदइ ॥२०३॥ वे सिद्ध परमेष्ठी जन्म-मरण से रहित है, चारो गतियो के दु.खो से रहित है और केवलदर्शन केवलज्ञानमयी हैं, ऐसे कर्मरहित हुए वे अनन्त काल तक उसी सिद्ध क्षेत्र में अपने स्वभाव मे आनन्दरूप विराजते है। भावार्थ-सिद्ध परमेष्ठी सहज शुद्ध परमानन्द एक अखण्ड स्वभावरूप जो आत्मसुख है उससे विपरीत जो चारो गतियो के दु ख है, उनसे रहित है, जन्म-मरण से रहित है तथा क्रम-करण और व्यवधानरहित तथा तीनो लोको और तीनों कालों के पदार्थों को एक साथ जानने वाले केवलदर्शन और केवलज्ञान से युक्त है। ऐसे स्वकीय स्वाभाविक अनन्तज्ञानादि गुणो के साथ सदा आनन्दरूप से वे लोकशिखर पर विराज रहे है। वे ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित है तथा अव्यावाधादि अनन्त गुणो से युक्त है ॥२०३॥ इस प्रकार चौवीस दोहा प्रमाण महास्थल में सिद्ध परमेष्ठी के व्याख्यान की मुख्यता से तीन दोहो में चौथा अन्तरस्थल कहा।

अथानन्तरं परमात्मप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तथाहि—

अब 'परमात्मप्रकाश' की भावना में रत पुरुषों को प्राप्त होने वाले फल को दर्शाते हुए तीन दोहों में व्याख्यान करते हैं—

जे परमप्प-पयासु मुणि भावि भावहिँ सत्थु ।
मोहु जिणेविणु सयलु जिय ते बुज्झहिँ परमत्थु ।।२०४।।

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयन्ति शास्त्रम् ।
मोहं जित्वा सकल जीव ते बुध्यन्ति परमार्थम् ।।२०४।।

भावहिं भावयन्ति ध्यायन्ति । के **मुणि** मुनयः **जे** ये केचन । किं भावयन्ति । **सत्थु** शास्त्रम् । **परमप्पपयासु** परमात्मस्वभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाशसंज्ञम् । केन भावयन्ति । **भावि** समस्तरागाद्यपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्वा पूर्वम् । **जिणेविणु** जित्वा । कम् । **मोहु** निर्मोहपरमात्मतत्त्वाद्विलक्षणं मोहम् । कतिसंख्योपेतम् । **सयलु** समस्तं निरवशेषं **जिय** हे जीवेति ते त एवगुणविशिष्टास्तपोधनाः **बुज्झहिं** बुध्यन्ति । कम् । **परमत्थु** परमार्थशब्दवाच्यं चिदानन्दैकस्वभावं परमात्मानमिति भावार्थः ।।२०४।।

जिय ! जे मुणि भाविं परमप्प-पयासु सत्थु भावहिँ, ते सयलु मोहु-जिणेविणु परमत्थु बुज्झहिँ ।।२०४।। हे जीव ! जो कोई मुनि भावों से इस परमात्मप्रकाश नामक शास्त्र का चिन्तन करते हैं, वे समस्त मोह को जीत कर परमतत्त्व को जानते हैं । अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह के त्यागी जो कोई मुनिराज समस्तरागादि अपध्यान से रहित शुद्ध भाव से परमात्मस्वभाव के प्रकाशक इस 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ का चिन्तन करते है, वे गुणविशिष्ट तपोधन निर्मोह परमात्मतत्त्व से विलक्षण सम्पूर्ण मोह को जीत कर चिदानन्द अखण्ड स्वभाव परमात्मा को अच्छी तरह जानते हैं । यह भावार्थ है ।।२०४।।

अण्णु वि भत्तिए जे मुणहिँ इहु परमप्प-पयासु ।
लोयालोय-पयासयरु पावहिँ ते वि पयासु ।।२०५।।

अन्यदपि भक्त्या ये जानन्ति इमं परमात्मप्रकाशम् ।
लोकालोकप्रकाशकरं प्राप्नुवन्ति तेऽपि प्रकाशम् ।।२०५।।

अण्णु वि इत्यादि । **अण्णु वि** अन्यदपि विशेषफलं कथ्यते । **भत्तिए जे मुणहिं** भक्त्या ये मन्यन्ते जानन्ति । कम् । **इहु परमप्पपयासु** इमं प्रत्यक्षीभूतं परमात्मप्रकाशग्रन्थमर्थतस्तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यं परमात्मतत्त्वं **पावहिं** प्राप्नुवन्ति **ते वि** तेऽपि । कम् । **पयासु** प्रकाशशब्दवाच्यं केवलज्ञानं तदाधारपरमात्मानं वा । कथंभूतं परमात्मप्रकाशम् । **लोयालोयपयासयरु** अनन्तगुणपर्यायसहितत्रिकालविषयलोकालोकप्रकाशकमिति तात्पर्यम् ।।२०५।।

अण्णु वि जे भत्तिए इहु परमप्प-पयासु मुणहिँ, ते वि लोयालोय-पयासयरु पयासु पावहिँ ।।२०५।। और भी जो कोई भव्यजीव भक्तिपूर्वक इस 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ को जानते हैं, वे भी लोकालोक के प्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त करेंगे। परमात्मप्रकाश शब्द से वाच्य परमात्मतत्त्व भी है और यह ग्रन्थ भी। सो 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ को पढने वाले दोनो को ही प्राप्त करेंगे। प्रकाश नाम केवलज्ञान का भी है, उसका आधार है शुद्ध परमात्मा। अनन्त गुण पर्याय सहित तीन काल का जानने वाला जो लोकालोक का प्रकाशक आत्मद्रव्य है, उसे शीघ्र ही प्राप्त करेंगे ।।२०५।।

जे परमप्प-पयासयहं अणुदिणु णाउ लयंति ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहँ तिहुयण-णाह हवंति ।।२०६।।

ये परमात्मप्रकाशस्य अनुदिनं नाम गृह्णन्ति ।
त्रुटयति मोहः झटिति तेषां त्रिभुवननाथा भवन्ति ।।२०६।।

लयंति गृह्णन्ति **जे** ये विवेकिनः **णाउ** नाम । कस्य । **परमप्पपयासयहं** व्यवहारेण परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य केवलज्ञानाद्यनन्त-गुणस्वरूपस्य परमात्मपदार्थस्य । कथम् । **अणुदिणु** अनवरतम् । तेषां किं फलं भवति । **तुट्टइ** नश्यति । कोऽसौ । **मोहु** निर्मोहात्मद्रव्याद्विलक्षणो मोहः **तडत्ति** झटिति **तहं** तेषाम् । न केवलं मोहो नश्यति **तिहुयणणाह हवंति** तेन पूर्वोक्तेन निर्मोहशुद्धात्मतत्त्व-भावनाफलेन पूर्वं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषं लब्ध्वा पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा च केवलज्ञानमुत्पाद्य त्रिभुवननाथा भवन्तीति भावार्थः ।।२०६।। एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमित-महास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशभावनाफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण पञ्चमं स्थलं गतम् ।

जे परमप्प पयासयहँ अणुदिणु णाउ लयंति, तहँ मोहु तउत्ति तुट्टइ, तिहुयण-णाह हवंति ।।२०६।। जो कोई विवेकीजन व्यवहार से इस 'परमात्मप्रकाश' नामक ग्रन्थ का तथा निश्चय से केवलज्ञानादि अनन्त गुणसहित परमात्मपदार्थ का सदैव नाम लेते हैं यानी अनवरत उसी का स्मरण करते हैं, उनका निर्मोह आत्मद्रव्य से विलक्षण मोह (मोहनीयकर्म) शीघ्र ही टूट जाता है और वे शुद्धात्मतत्त्व की भावना के फल से देवेन्द्र, चक्रवर्त्यादि की महनीय विभूति को पाकर, फिर जिनदीक्षा ग्रहण कर, केवलज्ञान उत्पन्न करके तीनों लोको के स्वामी होते है, यह **भावार्थ है** ।।२०६।। इस प्रकार चौवीस दोहों के महास्थल में परमात्मप्रकाश की भावना के फल के कथन की मुख्यता से तीन दोहों में पाँचवाँ अन्तरस्थल कहा ।

अथ परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मा तदाराधकपुरुषलक्षणज्ञापनार्थं सूत्रत्रयेण व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

अब परमात्मप्रकाश शब्द से वाच्य जो यह परमात्मा है, उसकी आराधना करने वाले पुरुषों के लक्षण जानने के लिए तीन दोहों मे व्याख्यान करते हैं—

जे भव-दुक्खहँ बीहिया पउ इच्छहिँ णिव्वाणु ।
इह परमप्प-पयासयहँ ते पर जोग्ग वियाणु ॥२०७॥

ये भवदुःखेभ्यः भीताः पदं इच्छन्ति निर्वाणम् ।
इह परमात्मप्रकाशकस्य ते परं योग्या विजानीहि ॥२०७॥

ते पर त एव **जोग्ग वियाणु** योग्या भवन्तीति विजानीहि । कस्य । **इह परमप्प-पयासयहं** व्यवहारेणास्य परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थस्य, परमार्थेन तु परमात्मप्रकाश-शब्दवाच्यस्य निर्दोषिपरमात्मनः । ते के । **जे बीहिया** ये भीताः । केषाम् । **भव-दुक्खहं** रागादिविकल्परहितपरमाह्लादरूपशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखविलक्षणानां नारकादिभवदुःखानाम् । पुनरपि किं कुर्वन्ति । **जे इच्छहिं** ये इच्छन्ति । किम् । **पउ** पदं स्थानम् । **णिव्वाणु** निर्वृतिगतपरमात्माधारभूतं निर्वाणशब्दवाच्यं मुक्तिस्थान-मित्यभिप्रायः ॥२०७॥

ते पर इह परमप्प-पयासयहँ जोग्ग वियाणु जे भव-दुक्खहँ बीहिया णिव्वाणु पउ इच्छहिं ॥२०७॥ व्यवहार से तो इस 'परमात्मप्रकाश' नामक ग्रन्थ के और निश्चयनय से निर्दोष परमात्म-तत्त्व की भावना के वे ही योग्य हैं जो रागादिविकल्प रहित परम आह्लादरूप शुद्धात्मभावना से उत्पन्न हुए पारमार्थिक सुख से विलक्षण (विपरीत) नरकादि संसार के दुःखों से भयभीत हैं और जो निर्वाण पद की यानी मोक्षस्थान की अभिलाषा करते हैं ॥२०७॥

जे परमप्पहँ भत्तियर विसय ण जे वि रमंति ।
ते परमप्प-पयासयहँ मुणिवर जोग्ग हवंति ॥२०८॥

ये परमात्मनो भक्तिपराः विषयान् न येऽपि रमन्ते ।
ते परमात्मप्रकाशकस्य मुनिवरा योग्या भवन्ति ॥२०८॥

हवंति भवन्ति **जोग्ग** योग्याः । के ते **मुणिवर** मुनिप्रधानाः । के । **ते** ते पूर्वोक्ताः । कस्य योग्या भवन्ति । **परमप्पपयासयहँ** व्यवहारेण परमात्मप्रकाशसंज्ञग्रन्थस्य परमार्थेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वभावस्य । कथंभूता ये । **जे परमप्पहं भत्तियर** ये परमात्मनो भक्तिपराः । पुनरपि किं कुर्वन्ति ये । **विसय ण जे वि रमंति** निर्विषयपरमात्मतत्त्वानुभूतिसमुत्पन्नातीन्द्रियपरमानन्दसुखरसास्वादतृप्ताः सन्तः सुलभा-न्मनोहरानपि विषयान्न रमन्त इत्यभिप्रायः ॥२०८॥

जे परमप्पहँ भत्तियर, जे विसय ण वि रमंति, ते मुणिवर परमप्प-पयासयहँ जोग्ग हवंति ॥२०८॥ जो परमात्मा की भक्ति करने वाले हैं और जो विषय-कषायों में नहीं रमते है, वे ही मुनीश्वर 'परमात्मप्रकाश' के अभ्यास के योग्य है । **भावार्थ**–व्यवहार से 'परमात्मप्रकाश' संज्ञक ग्रन्थ के और निश्चय नय से परमात्मप्रकाश शब्द से वाच्य शुद्धात्मस्वभाव की भक्ति में जो तत्पर हैं वे

विषयातीत परमात्मतत्त्व की अनुभूति से उत्पन्न अतीन्द्रिय परमानन्द सुख के रसास्वाद से तृप्त हुए सुलभ मनोहर विषयों में रमण नही करते है, यह अभिप्राय है ॥२०८॥

णाण-वियक्खणु सुद्ध-मणु जो जणु एहउ कोइ ।
सो परमप्प-पयासयहँ जोग्गु भणंति जि जोइ ॥२०९॥

ज्ञानविचक्षणः शुद्धमना यो जन ईदृश' कश्चिदपि ।
तं परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं भणन्ति ये योगिनः ॥२०९॥

भणंति कथयन्ति **जि जोइ** ये परमयोगिनः । कं भणन्ति । **जोग्गु** योग्यम् । कस्य । **परमप्पपयासहं** व्यवहारनयेन परमात्मप्रकाशाभिधानशास्त्रस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य । कं पुरुषं योग्यं भणन्ति । **सो** तम् । तं कम् । **जो जणु एहउ कोइ** यो जन' इत्थंभूतः कश्चित् । कथंभूतः । **णाणवियक्खणु** स्वसंवेदनज्ञानविचक्षणः । पुनरपि कथंभूत. । **सुद्धमणु** परमात्मानुभूतिविलक्षणरागद्वेष-मोहस्वरूपसमस्तविकल्पजालपरिहारेण शुद्धात्मा इत्यभिप्रायः ॥२०९॥ एव चतुर्विंशति-सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमाराधकपुरुषलक्षणकथनरूपेण सूत्रत्रयेण षष्ठमन्तरस्थलं गतम् ।

जो जणु णाण वियक्खणु सुद्ध मणु कोइ एहउ, सो जि जोइ परमप्प-पयासयहँ जोग्गु भणंति ॥२०९॥ जो मनुष्य स्वसंवेदनज्ञान से विचक्षण है और जिसका मन परमात्मानुभूति से विपरीत रागद्वेष मोहरूप समस्त विकल्पजाल के त्याग से शुद्ध है, ऐसा कोई भी हो, उसे योगीश्वर परमात्म-प्रकाश की आराधना के योग्य कहते है । **भावार्थ**–व्यवहारनय से यह परमात्मप्रकाश नामक शास्त्र और निश्चयनय से परमात्मप्रकाश शब्द से वाच्य शुद्धात्मस्वरूप की आराधना करने के योग्य वे ही पुरुष है जो ज्ञान से विचक्षण है और मिथ्यात्वादि मल से रहित शुद्धमन है ॥२०९॥ इस प्रकार चौबीस दोहा प्रमाण महास्थल में परमाराधक पुरुष के लक्षण तीन दोहो मे कह कर छठा अन्तर-स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ शास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं तदनन्तरमौद्धत्यपरिहारेण च सूत्रद्वय-पर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

अब शास्त्र के फल-कथन की मुख्यता से एक दोहा और औद्धत्य-परिहार की मुख्यता से दो दोहे–इसप्रकार तीन दोहे कहते है—

लक्खण-छंद-विवज्जियउ एहु परमप्प-पयासु ।
कुणइ सुहावइँ भावियउ चउ-गइ-दुक्ख-विणासु ॥२१०॥

लक्षणछन्दोविवर्जितः एष परमात्मप्रकाशः ।
करोति सुभावेन भावितः चतुर्गतिदुःखविनाशम् ॥२१०॥

लक्खरण इत्यादि । **लक्खरणछंदविवज्जियउ** लक्षणछन्दोविवर्जितोऽयम् । अयं कः । **एहु परमप्पपयासु** एष परमात्मप्रकाशः । एवंगुणविशिष्टोऽयं किं करोति । **कुणइ** करोति । कम् । **चउगइदुक्खविणासु** चतुर्गतिदुःखविनाशम् । कथंभूतः सन् । **भावियउ** भावितः । केन । **सुहावइं** शुद्धभावेनेति । तथाहि । यद्यप्ययं परमात्मप्रकाशग्रन्थः शास्त्रक्रमव्यवहारेण दोहकछन्दसा प्राकृतलक्षणेन च युक्तः, तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यशुद्धात्मस्वरूपापेक्षया लक्षणछन्दोविवर्जितः । एवंभूतः सन्नयं किं करोति । शुद्धभावनया भावितः सन् शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्परहितपरमानन्दैकलक्षणसुखविपरीतानां चतुर्गतिदुःखानां विनाशं करोतीति भावार्थः ॥२१०॥

सुहावइँ भावियउ लक्खण-छंद-विवज्जियउ एहु परमप्प-पयासु चउगइ-दुक्ख-विणासु कुणइ ॥२१०॥ शुद्ध भावो से भावित और लक्षण छन्द से विवर्जित यह परमात्मप्रकाश चारों गतियो के दुःखों का विनाश करता है । भावार्थ-यद्यपि यह परमात्मप्रकाश ग्रन्थ शास्त्रक्रमव्यवहार से प्राकृत लक्षणो से युक्त दोहा छन्दो में है तथापि निश्चय से परमात्मप्रकाश शब्द से वाच्य शुद्धात्म स्वरूप की अपेक्षा लक्षण और छन्दों से रहित है । ऐसा होकर यह क्या करता है ? शुद्ध भावों से भावित करने पर शुद्धात्मज्ञान से उत्पन्न रागादिविकल्परहित परमानन्दलक्षण सुख से विपरीत चारों गतियों के दुःखों का विनाश करता है, यह भावार्थ है ॥२१०॥

अथ श्रीयोगीन्दुदेव औद्धत्यं परिहरति—

अब श्री योगीन्दुदेव औद्धत्य का परिहार करते है—

इत्थु ण लेवउ पंडियहिँ गुण-दोसु वि पुणरुत्तु ।
भट्ट-पभायर-कारणइँ मइँ पुणु-पुणु वि पउत्तु ॥२११॥

अत्र न ग्राह्यः पण्डितैः गुणो दोषोऽपि पुनरुक्तः ।
भट्टप्रभाकरकारणेन मया पुनः पुनरपि प्रोक्तम् ॥२११॥

इत्थु इत्यादि । **इत्थु** अत्र ग्रन्थे **ण लेवउ** न ग्राह्यः । कैः । **पंडियहिं** पण्डितैर्विवेकिभिः । कोऽसौ । **गुणदोसु वि** गुणो दोषोऽपि । कथंभूतः । **पुणरुत्तु** पुनरुक्तः । कस्मान्न ग्राह्यः । यतः **मइं पुणु-पुणु वि पउत्तु** मया पुनः-पुनः प्रोक्तम् । किं तत् । वीतरागपरमात्मतत्त्वम् । किमर्थम् । **भट्टपभायरकारणइं** प्रभाकरभट्टनिमित्तेनेति । अत्र भावनाग्रन्थे **समाधिशतकादिवत्** पुनरुक्तदूषणं नास्ति इति । तदपि कस्मादिति चेत् । अर्थ पुनःपुनश्चिन्तनलक्षणमिति वचनादिति मत्वा **प्रभाकरभट्टव्याजेन** समस्तजनानां सुखबोधार्थं वहिरन्त परमात्मभेदेन तु त्रिविधात्मतत्त्वं बहुधाप्युक्तमिति भावार्थः ॥२११॥

इत्थु पुणरुत्तु गुणदोसु वि पंडियहिं ण लेवउ । मइँ भट्टपभायर-कारणइँ पुणु पुणु वि पउत्तु ॥२११॥ इस ग्रन्थ के पुनरुक्ति दोष को पण्डितजन ग्रहण नहीं करें क्योंकि मैंने प्रभाकरभट्ट को समझाने के लिए वीतराग परमात्म तत्त्व का कथन बार-बार किया है ॥२११॥ भावार्थ–'समाधिशतक' आदि के समान इस भावना ग्रन्थ में भी पुनरुक्ति का दोष नहीं लगता । फिर भी ऐसा क्यों हुआ ? तत्त्व के अर्थ पर बार-बार विचार करना इसी अभिप्राय से प्रभाकरभट्ट के बहाने सभी जीवों को आसानी से बोध हो जाए इसलिए बार-बार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से त्रिविधआत्मतत्त्व का कथन किया है ॥२११॥

जं मइँ किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु ।
तं वर-णाणि खमंतु महु जे बुज्झहिँ परमत्थु ॥२१२॥

यन्मया किमपि विजल्पित युक्तायुक्तमपि अत्र ।
तद् वरज्ञानिनः क्षाम्यन्तु मम ये बुध्यन्ते परमार्थम् ॥२१२॥

जं इत्यादि । मइं किं पि विजंपियउ यन्मया किमपि जल्पितम् । किं जल्पितम् । जुत्ताजुत्तु वि शब्दविषये अर्थविषये वा युक्तायुक्तमपि इत्थु अत्र परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थे खमंतु क्षमां कुर्वन्तु । किं तत् । पूर्वोक्तदूषणम् । के । वरणाणि वीतरागनिर्विकल्पस्व संवेदनज्ञानयुक्ता विशिष्टज्ञानिनः । कस्य । महु मम योगीन्दुदेवाभिधानस्य । कथंभूता ये ज्ञानिनः । जे बुज्झहिं ये केचन बुध्यन्ते जानन्ति । कम् । परमत्थु रागादिदोषरहितमनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यसहितं च परमार्थशब्दवाच्यं शुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥२१२॥ इति सूत्रत्रयेण सप्तममन्तरस्थलं गतम् । एवं सप्तभिरन्तरस्थलैश्चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितं महास्थलं समाप्तम् ।

इत्थु जं मइँ किं पि जुत्ताजुत्तु वि विजंपियउ तं जे वरणाणि परमत्थु बुज्झहिँ, महु खमंतु ॥२१२॥ यहाँ इस ग्रन्थ में जो मेरे द्वारा (योगीन्दुदेव द्वारा) कुछ भी युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा गया हो तो परमार्थ के जानने वाले श्रेष्ठ ज्ञानीजन उसके लिए मुझे क्षमा करें । भावार्थ–जो कदाचित् शब्द में, अर्थ में, छन्द-अलंकार में मुझसे कोई दोष बन गया हो या अयुक्त कथन हुआ हो तो वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से युक्त विशिष्ट ज्ञानीजन उस दोष को ग्रहण न करें और मुझे इसके लिए क्षमा प्रदान करें । वे विशिष्टज्ञानीजन रागादि दोषरहित हैं, शुद्धात्मा को अच्छी तरह जानते हैं और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य सहित हैं ॥२१२॥ इन दोहों में सातवाँ अन्तरस्थल पूर्ण हुआ । इस प्रकार चौबीस दोहों में सात अन्तरस्थल वाला महास्थल पूर्ण हुआ ।

अथैकवृत्तेन प्रोत्साहनार्थं पुनरपि फलं दर्शयति—

अब एक स्रग्धरा छन्द में प्रोत्साहनार्थ फिर इस ग्रंथ के पढ़ने का फल बताते हैं—

जं तत्तं णाण-रूवं परम-मुणि-गणा णिच्च झायंति चित्ते ।
जं तत्तं देह-चत्तं णिवसइ भुवणे सव्व-देहीण देहे ॥

जं तत्तं दिव्व-देहं तिहुवरण-गुरुगं सिज्झए संत-जीवे ।
तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णिय-मणे पावए सो हि सिद्धिं ।।२१३।।

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुनिगणा नित्यं ध्यायन्ति चित्ते ।
यत् तत्त्वं देहत्यक्तं निवसति भुवने सर्वदेहिनां देहे ।।
यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शान्तजीवे ।
तत् तत्त्वं यस्य शुद्धं स्फुरति निजमनसि प्राप्नोति स हि सिद्धिम् ।।२१३।।

पावए सो प्राप्नोति स हि स्फुटम् । काम् । **सिद्धिं** मुक्तिम् । यस्य किम् । **जस्स णियमणे फुरइ** यस्य निजमनसि स्फुरति प्रतिभाति । किं कर्मतापन्नम् । **तं तत्तं** तं तत्त्वम् । कथंभूतम् । **सुद्धं** रागादिरहितम् । पुनरपि कथंभूतं यत् । **जं तत्तं णाणरूवं** यदात्मतत्त्वं ज्ञानरूपम् । पुनरपि किंविशिष्टं यत् । **णिच्च झायंति** नित्यं ध्यायन्ति । क्व **चित्ते** मनसि । के ध्यायन्ति । **परममुणिगणा** परममुनिसमूहाः । पुनरपि किंविशिष्टं यत् । **जं तत्तं देहचत्तं** यत्परमात्मतत्त्वं देहत्यक्तं देहाद्भिन्नम् । पुनरपि कथंभूतं यत् । **णिवसइ** निवसति । क्व । **भुवणे सव्वदेहीण देहे** त्रिभुवने सर्वदेहिनां संसारिणां देहे । पुनरपि । कीदृशं यत् । **जं तत्तं दिव्वदेहं** यत् शुद्धात्मतत्त्वं दिव्यदेहं दिव्यं केवलज्ञानादिशरीरम् । शरीरमिति कोऽर्थः । स्वरूपम् । पुनश्च कीदृशं यत् । **तिहुयणगुरुगं** अव्याबाधानन्तसुखादिगुणेन त्रिभुवनादपि गुरुं पूज्यमिति त्रिभुवनगुरुकम् । पुनरपि किंरूपं यत् । **सिज्झए** सिद्ध्यति निष्पत्तिं याति । क्व । **संतजीवे** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथविकल्पजालरहितत्वेन परमोपशान्तजीवस्वरूपे इत्यभिप्रायः ।।२१३।।

जं तत्तं णाणरूवं परममुणिगणा णिच्च चित्ते झायंति, जं तत्तं भुवणे सव्व देहीण देहे णिवसइ, देहचत्तं, जं तत्तं दिव्वदेहं तिहुवण गुरुगं संतजीवे सिज्झए, तं तत्तं सुद्धं जस्स णियमणे फुरइ सो हि सिद्धिं पावए ।।२१३।। जो आत्मतत्त्व ज्ञानरूप है और जिसे परम मुनीश्वर सदैव अपने चित्त में ध्याते हैं, जो तत्त्व इस लोक में सब प्राणियों के शरीर में विद्यमान है और स्वयं देह से रहित है, जो तत्त्व केवलज्ञान और आनन्दरूप अनुपम देह को धारण करता है और तीन भुवन में श्रेष्ठ है, जिसकी आराधना कर शान्तपरिणामी सन्तपुरुष सिद्धिपद पाते है, ऐसा यह चैतन्यतत्त्व—निज आत्मतत्त्व जिसके मन में प्रकाशमान हो जाता है, वह अवश्य ही सिद्धि को प्राप्त करता है। **भावार्थ**—अव्याबाध अनन्तसुख आदि गुणों से वह तत्त्व तीनलोक का गुरु है और ख्याति-पूजा-लाभादि समस्त मनोरथों के विकल्पसमूह से रहित परम शान्तभाव को प्राप्त जीवों (सत्पुरुषों) के हृदय में ही वह तत्त्व सिद्ध होता है, यह अभिप्राय है ।।२१३।।

अथ ग्रन्थस्यावसाने मङ्गलार्थमाशीर्वादरूपेण नमस्कारं करोति—

अब ग्रन्थ की समाप्ति पर अन्तमङ्गल के लिए आशीर्वादरूप नमस्कार करते हैं—

परम-पय-गयाणं भासओ दिव्व-काओ,
मणसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्व-जोओ।
विसय-सुह-रयाणं दुल्लहो जो हु लोए,
जयउ सिव-सरूवो केवलो को वि बोहो ॥२१४॥

परमपदगतानां भासको दिव्यकायः,
मनसि मुनिवराणां मोक्षदो दिव्ययोगः।
विषयसुखरतानां दुर्लभो यो हि लोके,
जयतु शिवस्वरूपः केवलः कोऽपि बोधः ॥२१४॥

जयउ सर्वोत्कर्षेण वृद्धिं गच्छतु। कोऽसौ। **दिव्वकाओ** परमौदारिकशरीराभिधान-दिव्यकायस्तदाधारो भगवान् कथंभूतः। **भासओ** दिवाकरसहस्रादप्यधिकतेजस्त्वाद्भासकः प्रकाशकः। केषां कायः। **परमपयगयाणं** परमानन्तज्ञानादिगुणास्पदं यदर्हत्पदं तत्रगतानाम्। न केवलं दिव्यकायो जयतु। **दिव्वजोओ** द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपो दिव्ययोगः। कथंभूतः। **मोक्खदो** मोक्षप्रदायकः। क्व जयतु। **मणसि** मनसि। केषाम्। **मुणिवराणं** मुनिपुङ्गवानाम्। न केवलं योगी जयतु। **केवलो को वि बोहो** केवलज्ञानाभिधानः कोऽप्यपूर्वो बोधः। कथंभूतः। **सिवसरूवो** शिवशब्दवाच्यं यदनन्तसुखं तत्स्वरूपः। पुनरपि कथंभूतः। **दुल्लहो जो हु लोए** दुर्लभो दुष्प्राप्यः यः स्फुटम्। क्व। लोके। केषां दुर्लभः। **विसयसुहरयाणं** विषयसुखातीतपरमात्मभावनोत्पन्नपरमानन्दैकरूपसुखास्वादरहितत्वेन पञ्चेन्द्रियविषयासक्तानामिति भावार्थः॥२१४॥

परमपयगयाणं भासओ दिव्व-काओ, मुणिवराणं मणसि दिव्व जोओ मुक्खदो। जो हु लोए विसयसुहरयाणं दुल्लहो केवलो को वि बोहो सिवसरुवो जयउ ॥२१४॥ जो अरहन्तपद को प्राप्त हुए जीवों का प्रकाशमान परमौदारिक शरीर है यानी जो परमपद को प्राप्त हुए केवली है उनको तो साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है और जो महामुनि हैं, उनके मन में द्वितीयशुक्लध्यानरूप वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप भास रहा है और मोक्ष का देने वाला है; जो लोक में परमानन्द अतीन्द्रियसुख से विपरीत पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहने वालों के लिए दुर्लभ है, जिसका केवलज्ञान स्वभाव है, ऐसी अपूर्व ज्ञानज्योति सदा कल्याणरूप है। भावार्थ यह है कि इस लोक में विषयी जीव जिसे प्राप्त नहीं कर सकते, ऐसा वह सदाकल्याणरूप परमात्म तत्त्व जयवन्त हो ॥२१४॥

इति '**परु जाणंतु वि परममुणि परसंसग्गु चयंति**' इत्याद्येकाशीतिसूत्र पर्यन्तं सामान्यभेदभावना, तदनन्तरं '**परमसमाहि**' इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं महास्थलं, तदनन्तरं वृत्तद्वयं चेति सर्वसमुदायेन सप्ताधिकसूत्रशतेन **द्वितीयमहाधिकारे** चूलिका गतेति।

इसप्रकार 'परु जाणंतु वि परममुणि परसंसग्गु चयंति' इत्यादि ८१ दोहासूत्रों तक सामान्य भेद भावना, अनन्तर 'परमसमाहि' इत्यादि २४ दोहासूत्रों तक महास्थल, फिर दो छन्दों व समुदाय-रूप १०७ दोहासूत्रों सहित **दूसरे महाधिकार** में चूलिका पूर्ण हुई।

एवमत्र परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थेन प्रथमस्तावत् **'जे जाया झाणग्गियए'** इत्यादि त्रयोविंशत्यधिकसूत्रशतेन प्रक्षेपकत्रयसहितेन प्रथममहाधिकारो गतः। तदनन्तरं चतुर्दशाधिकशतद्वयेन प्रक्षेपकपञ्चकसहितेन द्वितीयोऽपि महाधिकारो गतः। एवं पञ्चाधिकचत्वारिंशत्सहितशतत्रयप्रमितश्रीयोगीन्दुदेवविरचितदोहकसूत्राणां विवरणभूता **परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता ॥**

इसप्रकार **परमात्मप्रकाश** ग्रन्थ में पहले 'जे जाया झाणग्गियए' इत्यादि एक सौ तेईस दोहे व तीन प्रक्षेपक कुल १२६ दोहों मे **प्रथम महाधिकार** पूर्ण हुआ। फिर २१४ दोहों व पाँच प्रक्षेपकों सहित कुल २१९ दोहों में दूसरा महाधिकार पूर्ण हुआ। इसप्रकार श्री योगीन्दुदेव विरचित ३४५ तीन सौ पैंतालीस दोहों वाले परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की ब्रह्मदेवकृत 'परमात्मप्रकाशवृत्ति' समाप्त हुई।

[टीकाकारस्यान्तिमकथनम्]

अत्र ग्रन्थे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृतः, वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थम्। किं च परिभाषासूत्रं पदयोः संधिर्विवक्षितो न समासान्तरं तयोः तेन कारणेन लिङ्गवचनक्रियाकारकसंधिसमासविशेष्यविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यं विद्वद्भिरिति।

यहाँ ग्रन्थ में प्रायः पदों की सन्धि नहीं की गई है और सरलता से समझ में आने के लिए वाक्य भी भिन्न-भिन्न रखे गये हैं। अतः विद्वानों को यहाँ लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष्य-विशेषण, वाक्य-समाप्ति आदि के दोष नहीं ग्रहण करने चाहिए (क्योंकि यह ग्रन्थ बाल-बुद्धियों को समझाने के लिए लिखा गया है)।

इदं परमात्मप्रकाशवृत्तेर्व्याख्यानं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं भव्यजनैः। सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, निजनिरञ्जनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, रागद्वेषमोहक्रोध-

मानमायालोभपञ्चेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्याति - पूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहं, जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेऽपि जीवाः, इति निरन्तरं भावना कर्तव्येति ।। ग्रन्थसंख्या ।।४०००।।

इस परमात्मप्रकाशवृत्ति का व्याख्यान जान कर भव्यजनो को ऐसा विचार करना चाहिए कि मैं सहजशुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निज निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयमयी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप आनन्दानुभूति मात्र लक्षण वाले स्वसंवेदनज्ञान से ही स्वसंवेद्य गम्य हूँ, अन्य उपायों से नही । उस निर्विकल्प निजानन्दज्ञान से ही मैं परिपूर्ण हूँ । रागद्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँचों इन्द्रियों के विषय-व्यापार, मन-वचन-काय के व्यापार, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, ख्याति-पूजा-लाभ, देखे-सुने और अनुभूत भोगों की आकांक्षा रूप निदानबन्ध, माया, मिथ्या इन तीन शल्यों आदि सर्व विभाव परिणामों से रहित शून्य हूँ । तीनलोक, तीनकाल में, मनवचनकाय से, कृतकारित अनुमोदना से शुद्धनिश्चयनय से ऐसा ही हूँ तथा सभी जीव ऐसे है। सदैव ऐसी भावना करनी चाहिए ।

पंडवरामहिं णरवरहिं पुज्जिउ भत्तिभरेण ।
सिरिसासणु जिणभासियउ णंदउ सुक्खसएहिं ।।१।।

[पाण्डवरामैः नरवरैः पूजितं भक्तिभरेण ।
श्रीशासन जिनभाषितं नन्दतु सुखशतैः ।।१।।]

श्रीरामचन्द्र और पाण्डवों तथा अन्य भी अनेक नरश्रेष्ठो से भक्तिपूर्वक पूजित यह जिन-भाषित शासन सैकड़ों मुखो से वृद्धि को प्राप्त हो ।।१।।

इति श्रीब्रह्मदेवविरचिता परमात्प्रकाशवृत्तिः समाप्ता

।। इसप्रकार श्री ब्रह्मदेव विरचित परमात्मप्रकाशवृत्ति पूर्ण हुई ।।



परमात्मप्रकाशदोहादीनां वर्णानुक्रमसूची